ISSN : 0435-1460
UGC Care List No. 25

के.हि.सं. गवेषणा

भाषाविज्ञान की त्रैमासिक शोध पत्रिका

अंक-139 : पौष-फाल्गुन, 2082/जनवरी-मार्च, 2025

प्रधान संपादक
प्रो. सुनील बाबुराव कुळकर्णी
निदेशक

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा

पद्मभूषण डॉ. मोटूरि सत्यनारायण

(2 फरवरी, 1902 – 6 मार्च, 1995)

आंध्र प्रदेश के कृष्णा जिले के दोण्डपाडु ग्राम में जन्मे, केंद्रीय हिंदी संस्थान के संस्थापक, हिंदी सेवी, पद्मभूषण श्री मोटूरि सत्यनारायण जी भारतीय संविधान सभा के सदस्य के रूप में हिंदी को राजभाषा के पद पर आसीन करवाने वालों में से थे। उनकी स्मृति में संस्थान द्वारा प्रति वर्ष भारतीय मूल के दो विद्वानों को विदेशों में हिंदी के प्रचार-प्रसार हेतु पुरस्कार प्रदान किया जाता है।

यूजीसी केयरलिस्ट सं. 25
पीयर रिव्यूड रेफर्ड जर्नल

ISSN: 0435-1460

के.हिं.सं. गवेषणा

भाषाविज्ञान की त्रैमासिक शोध–पत्रिका

अंक–139 : पौष–फाल्गुन, 2082/जनवरी–मार्च, 2025

संरक्षक
प्रो. सुरेन्द्र दुबे
उपाध्यक्ष केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल
ई–मेलः vcoffice@gmail.com

प्रधान संपादक
प्रो. सुनील बाबुराव कुळकर्णी
निदेशक, केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा
ई–मेलः directorkhs1960@gmail.com

संपादक–मंडल
डॉ. परमान सिंह
असिस्टेंट प्रोफेसर (भाषाविज्ञान)
केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा

डॉ. कृष्ण कुमार पाण्डेय
असिस्टेंट प्रोफेसर (भाषाविज्ञान)
केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा

श्री साकेत बहुगुणा
असिस्टेंट प्रोफेसर (भाषाविज्ञान)
केंद्रीय हिंदी संस्थान, दिल्ली केंद्र

संपादक
प्रो. धनजी प्रसाद
प्रोफेसर (भाषाविज्ञान),
केंद्रीय हिंदी संस्थान, दिल्ली केंद्र
ई–मेलः dhpr.langtech@gmail.com

परामर्श मंडल
प्रो. आर. एस. सर्राजू
पूर्व सम–कुलपति, हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद

प्रो. गिरीशनाथ झा
संस्कृत एवं प्राच्यविद्या अध्ययन संस्थान, जे.एन.यू.,
नई दिल्ली–110067

प्रो. एम. जे. वारसी
विभागाध्यक्ष, भाषाविज्ञान विभाग,
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़, उ.प्र.–202002

प्रो. धनंजय सिंह
सदस्य सचिव, भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद,
नई दिल्ली–110067

प्रो. अभिनव कुमार मिश्र
विभागाध्यक्ष, भाषाविज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय
वाराणसी–221005

सह–संपादक
डॉ. अरिमर्दन कुमार त्रिपाठी
विभागाध्यक्ष, अनुसंधान एवं भाषा विकास विभाग,
केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा
ई–मेलः arimardankt@gmail.com

प्रकाशन प्रबंधक
डॉ. निरंजन सिंह
केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा
ई–मेलः publicationmanagerkhs@gmail.com

अनुसंधान एवं भाषा विकास विभाग

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा

(शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार)

हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा–282005, दूरभाष : 0562-3554938

के.हिं.सं. गवेषणा, भाषाविज्ञान की त्रैमासिक शोध-पत्रिका

अंक-139, पौष-फाल्गुन, 2082/जनवरी-मार्च, 2025

© **सचिव, केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल, आगरा**

प्रकाशक : विभागाध्यक्ष, अनुसंधान एवं भाषा विकास विभाग,
केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा

संपादकीय कार्यालय : अनुसंधान एवं भाषा विकास विभाग, केंद्रीय हिंदी संस्थान,
हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा - 282005
फोन/फैक्स 0562-2530684
ई-मेल : gaveshnapatrika@gmail.com

सदस्यता शुल्क :

व्यक्तिगत	प्रति अंक	रु. 40.00	
	वार्षिक	रु. 250.00	(डाक खर्च सहित)
संस्थागत	वार्षिक	रु. 350.00	(डाक खर्च सहित)
विदेशों में	प्रति अंक	$ 10.00	
	वार्षिक	$ 40.00	

सहयोग : दीपेन्द्र कुमार
: अनुज पाल

मुद्रक : राष्ट्रभाषा ऑफसेट प्रेस, आगरा

'गवेषणा' में प्रकाशित सामग्री से संपादक मंडल या संस्थान की सहमति होना अनिवार्य नहीं है। प्रकाशित सामग्री के उपयोग के लिए स्वामी/प्रकाशक की अनुमति आवश्यक है।

स्वामित्व : **सचिव, केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल, आगरा**

अनुक्रम

प्रधान संपादक की कलम से.../ **प्रो. सुनील बाबुराव कुळकर्णी**		5–6
संपादकीय/ **प्रो. धनजी प्रसाद**		7
वि–उपनिवेशवाद और भाषा	**निशा नाग**	9–16
'हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं तथा साहित्य का अंत: संबंध'	**नन्दराम**	17–25
शब्दकोश निर्माण में जेंडर संबंधी प्रश्न (हिंदी एवं स्पैनिश भाषा के संदर्भ में)	**पी. कुमार मंगलम/ मधु प्रिया**	26–36
थारू जनजाति की सांस्कृतिक एवं सामाजिक लोकजीवन : एक अध्ययन	**विकाश सिंह मौर्य/ प्रतिमा गोंड**	37–52
भाषा और राष्ट्रवाद: गांधी, टैगोर और राम मनोहर लोहिया के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन	**पतंजलि मिश्र/ चंद्रशेखर पाण्डेय**	53–67
हिंदी एवं नेपाली कहानियों का तुलनात्मक अध्ययन (2001–2020 तक के चयनित कहानियों में संवेदना के संदर्भ में)	**मोहन महतो**	68–79
उत्तर आलोचना सिद्धांतिकी	**अमर सिंह**	80–118
भारतीय भाषाओं में प्रदर्शनकारी कलाओं की समालोचना (नृत्य, संगीत, गायन, नाटक आदि तथा चित्रकला, मूर्तिकला व सिनेमा)	**रवीन्द्र नाथ श्रीवास्तव/ 'परिचय दास'**	119–134
आदिवासी साहित्य के सौंदर्यशास्त्र का अध्ययन	**देशमुख निलेश शिवाजी**	135–141
बिहार की जातीय चेतना में हिंदी भाषा का प्रभाव	**सदानंद/ लक्ष्मी**	142–148
मारवाड़ी भाषा के लोकगीतों में नारी संवेदना	**रेखा शेखावत**	149–159
शैलीविज्ञान और अनुवाद : संबद्धता का निकष	**हरीश कुमार सेठी**	160–172
मैथिलीशरण गुप्त के काव्य का शैलीगत वैशिष्ट्य	**सुमैय्या**	173–181
हिंदी और ओड़िआ भाषा के मध्य अंतर–संबंध (उपन्यास के संदर्भ में)	**सागरिका महांति**	182–189

"महाराष्ट्र की धनगर जनजाति : संस्कार विधियाँ और लोकगीत"	**योगेश कोरटकर**	190–200
असमिया समाज में संबंधसूचक शब्दों के निर्माण और प्रयोग में 'लिंग-भेद'	**प्रांजल कुमार नाथ**	201–206
मणिपुरी भाषा और तकनीकी शब्दावली का विकास	**एलाङबम विजय लक्ष्मी**	207–211
जनवादी साहित्य के रचनात्मक मूल्य और त्रिलोचन शास्त्री का काव्य	**नाना साहेब गोरे**	212–220
अहिरानी ओवियों में अभिव्यक्त भावात्मक सौंदर्य	**उर्मिला दिनकर पाटील/ गजानन सुरेश वानखेड़े**	221–230
भारतीय कला की अवधारणाएँ	**लकी टॉक**	231–239
मगही के कतिपय शब्दों का भाषाशास्त्रीय-समाजशास्त्रीय विश्लेषण	**राजू रंजन प्रसाद**	240–250

इस अंक के लेखक

सदस्यता फार्म

लेखकों से निवेदन

प्रधान संपादक की कलम से...

प्रिय पाठकों,

सस्नेह नमस्कार!

1600 से अधिक भाषाओं को बोलने वाले समुदायों को अपने-आप में समाहित करते हुए भारत विश्व के सम्मुख भाषिक बहुलता के एक अद्‌वितीय उदाहरण के रूप में प्रस्तुत होता है। इसी कारण भारत को भाषिक और साँस्कृतिक विविधता का देश भी कहा गया है। यहाँ ध्यान रखने वाली बात है कि भारत की विविधता इसकी कमजोरी नहीं है, बल्कि एक अनूठी शक्ति है। इससे एक ही देश में अनेक भाषाओं और संस्कृतियों तथा उनके अंतरसंबंधों के बारे में जानने-समझने का अवसर प्राप्त होता है। अत: भारत की भाषिक और साँस्कृतिक विविधता को बचाए रखना अपनी साझा विरासत को खोने से बचाना है। इसके लिए आवश्यक है कि भाषा और भाषाविज्ञान के क्षेत्र में सर्वांगीण दिशा में कार्य किया जाए और उस कार्य का भारतीय भाषाओं में लेखन करते हुए आम जनमानस तक प्रसारित किया जाए। संवैधानिक दृष्टि से हिंदी भारत की राजभाषा होने के साथ-साथ आम जनमानस में व्यवहार की दृष्टि से जनभाषा भी है। इसलिए हिंदी माध्यम से प्रकाशित एवं प्रसारित की जाने वाली सामग्री अधिक से अधिक लोगों तक पहुँचती है। केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा द्‌वारा प्रकाशित किए जाने वाले विविध पत्र-पत्रिकाएँ, पुस्तकें एवं शब्दकोश आदि अपने विषय से संबंधित सामग्री को अधिक से अधिक लोगों तक पहुँचाते हैं। 'गवेषणा' पत्रिका का उद्‌देश्य सैद्‌धांतिक और अनुपयुक्त दृष्टि से भारतीय भाषाओं के भाषावैज्ञानिक पक्षों को उद्‌घाटित करना है। साथ ही भाषाविज्ञान के क्षेत्र में हो रहे अधुनातन कार्यों से भी पाठकों को परिचित कराने के दायित्व का निर्वहन भी यह पत्रिका निरंतर करती चली आ रही है।

भारत के भविष्यदृष्टा प्रधानमंत्री श्री नरेंद्र मोदी जी के नेतृत्व में यह देश लगातार विकासशील से विकसित राष्ट्र बनने की ओर अग्रसर है। भूमंडलीकरण के इस युग में सरकार आर्थिक, सामाजिक, साँस्कृतिक और शैक्षिक सभी क्षेत्रों में आवश्यक परिवर्तन-परिवर्धन करते हुए मिशन 2047 की ओर लक्ष्योन्मुख है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 इस दिशा में क्रांतिकारी कदम है। उच्च शिक्षा के क्षेत्र में राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के उद्‌देश्यों को प्रभावी रूप से सफल बनाने के लिए आवश्यक है कि हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं में उच्च शिक्षा के विषयों में शिक्षण, शोध और लेखन को अधिक बढ़ावा दिया जाए। केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा हिंदी माध्यम से इस दिशा में अपना बहुमूल्य योगदान कर रहा है। यह संस्थान न केवल पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से बल्कि विविध अकादमिक कार्यों के माध्यम से भी हिंदी भाषा के सुधी विद्‌वजन, जिज्ञासु अध्येताओं, शोधार्थियों और छात्रों को जोड़ने का भी कार्य कर रहा है। जनवरी-मार्च 2025 में संस्थान के विभिन्न विभागों तथा केंद्रों पर अनेक संगोष्ठियों का आयोजन किया गया है, जिनमें देश भर के विद्‌वानों, अध्यापकों, शोधार्थियों और छात्र-छात्राओं ने बढ़-चढ़कर अपनी उपस्थिति दर्ज कराई है। इन

संगोष्ठियों में 'हिंदी का वैश्विक परिप्रेक्ष्य, गिरमिटिया प्रवासी हिंदी साहित्य, हिंदी शिक्षण अधिगमः परंपरा और समकालीन संदर्भ, ग्रामीण परिप्रेक्ष्य में डिजिटल सशक्तिकरण और शिक्षा : विजन विकसित भारत @ 2047, भक्ति साहित्य के माध्यम से कौशल विकास एवं कृत्रिम बुद्धिमत्ता के युग में शिक्षा' आदि प्रमुख विषयों का समावेश किया गया है।

2025 'एक भारत – श्रेष्ठ भारत' की स्वर्णिम परिकल्पना को साकार रूप देने की ओर अग्रसर करता हुआ वर्ष भी है। श्रेष्ठ भारत का निर्माण एकल प्रयत्न से संभव नहीं है, बल्कि इसके लिए विविध संस्कृतियों को करीब लाकर साझा विरासत को उद्घाटित करने का प्रयास हम सभी को करना पड़ेगा। इस प्रयास के लिए सभी सरकारी तथा गैर-सरकारी संस्थाओं को मुक्त कंठ से आगे आना होगा। केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा ने इस दिशा में अपने कर्तव्य का निर्वहन करते हुए काशी-तमिल संगमम का फरवरी 2025 में सफल आयोजन किया है। यह संस्कृत और तमिल भाषा की संस्कृति और साहित्य की परंपरा को गहराई से जानने का एक अनूठा अवसर सिद्ध हुआ है। ऐसे कार्यक्रम भविष्य में भी आयोजित होते रहेंगे, जिससे हम अपनी साझा विरासत और भारतीय ज्ञान परंपरा का अवबोधन करते हुए वास्तविक राष्ट्रीय एकात्मकता की ओर अग्रसर हो सकें।

(प्रो. सुनील बाबुराव कुळकर्णी)
प्रधान संपादक
निदेशक, केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा

संपादकीय

भाषा वह माध्यम है, जो मनुष्य के मस्तिष्क में उठने वाली तरंगों को विचार का रूप प्रदान करती है तथा उन विचारों को अभिव्यक्त करना या आपस में आदान-प्रदान करना संभव बनाती है। भाषा रूपी इस शक्ति का प्रयोग करके ही मनुष्य का एक समाज के रूप में संगठित हो पाना संभव हो सका है तथा उसका सामाजिक और सांस्कृतिक विकास हुआ है। भाषा मनुष्य के समस्त ज्ञान-विज्ञान की जननी है। भाषाविज्ञान में इसी 'भाषा' के बारे में जानने-समझने का यत्न किया जाता है। केवल भाषा के बारे में जानना भाषाविज्ञान की सैद्धांतिकी है, किंतु भाषाविज्ञान अपने आपको यहीं तक सीमित नहीं करता, बल्कि यह समाज, संस्कृति, राष्ट्र एवं विश्व के अधिकाधिक परिप्रेक्ष्य में भाषा के प्रयोजन एवं प्रकार्य को भी उद्घाटित करने का प्रयास करता है। इस क्रम में भाषाविज्ञान स्वयं को अन्य ज्ञानानुशासनों के साथ भी जोड़ता है, जिससे इसका एक व्यापक परिदृश्य उभरकर सामने आता है। इसमें सैद्धांतिक, अनुप्रयुक्त और अंतरानुशासनिक तीनों पक्षों का समावेश हो जाता है। कंप्यूटर, इंटरनेट और वर्तमान में कृत्रिम बुद्धि के विकास से इसमें एक नया 'तकनीकी पक्ष' भी जुड़ गया है, जिसे हम प्राकृतिक भाषा संसाधन (NLP) के नाम से जानते हैं। आज भाषाविज्ञान से संबद्ध इन सभी क्षेत्रों में नित्य नए चिंतन, विश्लेषण, खोज, विवेचन संबंधी कार्य निरंतर जारी हैं। उनके प्रकाशन एवं प्रसारण की महती आवश्यकता से इनकार नहीं किया जा सकता। भाषाविज्ञान केंद्रित पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन इन कार्यों को सुधी पाठकों एवं विद्वजन तक पहुँचाने का समुचित माध्यम है। 'के.हिं.सं. गवेषणा' पत्रिका अपने प्रकाशनारंभ के पश्चात् निरंतर हिंदी माध्यम से इस आवश्यकता की पूर्ति करती चली आ रही है।

गवेषणा का 'अंक-139' पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करना अपार हर्ष का विषय है। इस अंक को अधिक समावेशी बनाते हुए इसमें भाषा, भाषाविज्ञान और समकालीन सामाजिक, साहित्यिक पक्षों से संबंधित विविध विषयों के शोधपत्रों एवं आलेखों का समावेश किया गया है। इसमें भाषाविज्ञान, हिंदी और अन्य भारतीय भाषाएँ, राष्ट्र के संदर्भ में भाषा, साहित्य, प्रदर्शनकारी कला आदि से संबद्ध वर्णनात्मक एवं विश्लेषणात्मक एवं आलोचनात्मक आलेख सम्मिलित हैं। मुझे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि प्रबुद्ध पाठक जगत पिछले अंकों की भाँति इस अंक का भी सहर्ष स्वागत करेगा। साथ ही भारत में भाषाविज्ञान के क्षेत्र में कार्य कर रहे सुधी विद्वानों से मेरा विनम्र अनुरोध भी है कि वे अपने समकालीन आलेख एवं शोधपत्र हिंदी में भी लिखें एवं दूसरों को भी इस हेतु प्रोत्साहित करें। इससे हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं का भाषा संबंधी अधुनातन ज्ञान से संवर्धन होगा। यह राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के आलोक में उच्च शिक्षा में भाषाविज्ञान के क्षेत्र में हमारा विशिष्ट योगदान हो सकेगा।

प्रो. धनजी प्रसाद

वि–उपनिवेशवाद और भाषा

–निशा नाग

सार

इतिहास गवाह है कि उपनिवेश कायम करने वाले देशों ने उपनिवेश बनाए देश पर अपनी मूल भाषा को आरोपित कर उन्हें अपनी भाषाई अस्मिता और संस्कृति से विछिन्न करने का प्रयास किया। भारत जैसा देश भी इसका अपवाद नहीं जहाँ अंग्रेजों का गुलाम रहने के कारण देशज भाषाओं को पर्याप्त हानि हुई और अंग्रेजी का वर्चस्व हो गया। स्वतंत्रता संग्राम के दौरान राष्ट्र के नेताओं ने इस स्थिति को समझते हुए इस दिशा में पर्याप्त प्रयत्न किए। किंतु स्वाधीनता के बाद यह स्थिति और अधिक विकट हुई। दक्षिणी अफ्रीकी देश केन्या में भी वि–उपनिवेशवाद का सार्थक प्रयत्न अपनी देशज भाषा के माध्यम से करने का किया। वर्तमान में नई शिक्षा पद्धति के अंतर्गत मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा प्रदान करने का प्रस्ताव न केवल स्थानीय जन को उपनिवेशवाद से मुक्ति देगा बल्कि अलग–थलग हाशिये पर पड़े समाज को भी एक नई दृष्टि प्रदान करेगा।

बीज शब्द– *वि–उपनिवेशवाद, भारत की भाषाई अनेकता, विवाद, तीन धाराएँ, गांधी–नेहरू–सुभाष, लोक–भाषाओं का महत्व, मातृभाषा बनाम राष्ट्रभाषा।*

'भाषा बुद्धिमता का स्रोत है, कि मनुष्य नहीं बोलता है, बल्कि भाषा ही हममें बोलती है।'
–हाईडेगर

वि–उपनिवेशवाद और भाषा के संबंध में चर्चा करने से पूर्व अल्फोंस डौडेट की लिखी प्रसिद्ध कहानी 'द लास्ट लेसन'[1] याद आ रही है। सन् 1870 में बिस्मार्क ने फ्रांस पर आक्रमण कर उसे अपने राष्ट्र प्रशिया का हिस्सा बना लिया और इसके साथ ही यह फरमान जारी कर दिया कि अब से स्कूलों में केवल ज़र्मन भाषा पढ़ाई जाएगी। फ्रेंज़ नामक बच्चा जो स्कूल और अपने फ्रेंच अध्यापक से किसी हद तक भय खाता है और स्कूल जाना नापसंद करता है, डरते हुए स्कूल पहुँचता है, पर

देखता है कि आज उसके फ्रेंच अध्यापक से क्लास लेने गाँव के बड़े-बूढ़े भी आए हुए हैं। क्योंकि सब अपनी मातृभाषा की उस अंतिम कक्षा के साक्षी होना चाहते थे, जो कल से नहीं पढ़ाई जाएगी। किसी भी देश को विजित कर वहाँ के लोगों को उसकी संस्कृति, आध्यात्मिकता, संवेदों और मानसिकता से विच्छिन्न करना और उससे भी ऊपर वहाँ की जनता का उसकी मातृभाषा से विच्छेद करने का प्रयत्न, उपनिवेशवाद की सबसे बड़ी साजिश होता है। यहाँ फ्रेंज़ सोचता है कि क्या वे ज़र्मन में उन्हें गीत गाने पर मज़बूर करेंगे, यहाँ तक की कबूतरों को भी ज़र्मन में गूटर-गूँ करने को कहेंगे?

भारत जैसे विशाल देश में भाषा को लेकर अक्सर विवाद रहा है। भाषा-वैज्ञानिकों के अनुसार भारत में चार भिन्न भाषा-परिवारों की भाषाएँ बोली जाती हैं। यह भाषाई विविधता निरंतर विवाद का विषय रही है। गांधीजी भारत की विभिन्न भाषाओं के बीच अंतर्निहित भाषिक एकता को देखते हैं। उनके बीच सांस्कृतिक संबंध को कायम करते हुए वे कहते हैं "असल में तो हिंदी, गुजराती, संस्कृत एक भाषा मानी जा सकती है। यद्‌यपि फारसी-संस्कृत से मिलती जुलती है और अरबी का हिब्रू से मेल है। फिर भी दोनों का विकास इस्लाम के प्रकट होने के बाद हुआ है, इसीलिए दोनों के बीच निकट का संबंध है। उर्दू को मैंने अलग भाषा नहीं माना है क्योंकि उसके व्याकरण का समावेश हिंदी में हो जाता है। उसके शब्द तो फारसी और अरबी ही हैं।"[2] इस भाषाई अनेकता को ब्रिटिश शासन ने विवाद खड़ा करने का मुद्‌दा बनाया और साथ ही धर्म के नाम पर भारत को विभाजित करने के लिए हिंदी-उर्दू के झगड़े को बढ़ावा दिया। भाषाई विवाद उनकी कूटनीति का आवश्यक हिस्सा बना।

इतिहास गवाह है कि विश्व भर में उपनिवेशवादियों ने उपनिवेशित लोगों पर अपनी मूल भाषा को थोपा। शासन के क्षेत्र में और अपने हक में जहाँ ज़रूरी लगा वहाँ उपनिवेश की भाषा को अपनाया और उपनिवेश को कायम रखने के लिए वहाँ के मूल निवासियों पर अपनी भाषा को आरोपित किया। शिक्षा का क्षेत्र तथा विद्‌यालय इनमें प्रमुख थे। भारत के संदर्भ में सन् 1800 ईस्वी में कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज (जिसकी स्थापना ब्रिटिश भारत के तत्कालीन गवर्नर लार्ड वेलेंसकी ने की) में हिंदुस्तानी विभाग की स्थापना तथा 1834 में लार्ड मैकाले की शिक्ष पद्‌धति इसका प्रमाण है।

ब्रिटिश शासन द्‌वारा रचा गया भाषा का यह खेल धीरे-धीरे राष्ट्र के अंग्रजों को समझ आने लगा। फलस्वरूप भारत के नेताओं ने इस पर गंभीरता से विचार किया और औपनिवेशिक शासन के साथ-साथ भाषा को भी उपनिवेश के चंगुल से मुक्त करने के प्रयत्न आरंभ किए। भाषा के संदर्भ में इस वि-उपनिवेशवाद के प्रयास की तीन धाराएँ रही हैं- गांधी, नेहरु, एवं सुभाष। राममनोहर लोहिया ने भी इस पर व्यापक विचार किया। गांधीजी भारत को अंग्रेजी राज से केवल मुक्त ही नहीं करना चाहते थे। बल्कि इस संदर्भ में पश्चिमी सभ्यता से पूरी तरह मुक्त, जड़-प्राचीनता और औपनिवेशिक-आधुनिकता दोनों से स्वतंत्र एक ऐसी सभ्यता का निर्माण करना चाहते थे जहाँ महान नैतिक मूल्यों के आधार पर एक अलग सभ्यता का विकास हो। पूरे संसार को लूट, वर्चस्व, आर्थिक

लोभ तथा युद्ध से बचाने के प्रसंग में यह सभ्यता श्रेष्ठ रहे। उनका मानना था कि राष्ट्र की अपनी पहचान और बौद्धिक उन्नति विदेशी भाषा अंग्रेजी के माध्यम से नहीं हो सकती और न जिंदगी को कृत्रिम बनाने से हो सकती है। उन्होंने 1921 में 'यंग इंडिया' में लिखा "समाज में नासूर इतना फैल गया है कि बहुत से मामलों में, शिक्षा का एक ही अर्थ लगाया जाता है-अंग्रेजी का ज्ञान। मेरी नजर में यह हमारी गुलामी और निम्नता का चिह्न है। मैं यह बर्दाश्त नहीं कर सकता कि भारतीय भाषाएँ कुचल दी जाएँ और उनको पोषण न मिले।" उनका विचार था "इस विदेशी भाषा के माध्यम ने लड़कों के दिमाग को दूषित कर दिया और उनकी शक्तियों पर अनावश्यक जोर डाल, उन्हें रट्टू और नकलची बना दिया, मौलिक विचारों और कार्यों के लिए अयोग्य कर दिया, अपनी शिक्षा का सार अपने परिवार वालों तथा जनता तक पहुँचाने में असमर्थ कर दिया है। अंग्रेजी भाषा के माध्यम ने हमारी देशी-भाषाओं की बढ़ती को रोक दिया है।"[3] अंग्रेजी को उन्होंने साफ-साफ अंतर्जातीय व्यापार और लूट-खसोट की भाषा कहा। उपनिवेशवादी मानसिकता से मुक्त होने की प्रक्रिया में गांधीजी निरंतर हिंदी या लोक-भाषाओं को महत्व देते हैं क्योंकि वे यह गहराई से देख रहे थे कि भारत की मुक्ति, ज्ञान में है और वह ज्ञान जो अपनी संस्कृति से जोड़े। 1938 में 'हरिजन' में वे लिखते हैं "भारत को अपनी ही जलवायु, दृश्यावली और उसका साहित्य हो। हमें और हमारी संतानों को अपनी विरासत पर ही अपनी प्रगति का महल खड़ा करना है। यदि हम उधार पर जियेंगे हम खुद ही अपने को निर्बल कर लेंगे।"[4] अंग्रेजी को उन्होंने षड्यंत्र और कुटिल नीति की भाषा कहा है। शिक्षा के क्षेत्र में भाषा कितनी बड़ी सहायक या बाधक है यह गांधीजी बचपन में ही समझ गए थे जब उन्हें भूमिति जैसा प्रिय विषय अंग्रेजी में होने के कारण उबाऊ और कठिन लगने लगा था। गांधीजी ने अपनी आत्मकथा में लिखा, "भारत वर्ष की उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रम में मातृभाषा के अतिरिक्त राष्ट्रभाषा हिंदी, संस्कृत, फारसी, अरबी और अंग्रेजी का स्थान होना चाहिए। भाषाओं की इस संख्या से किसी को डरना नहीं चाहिए।"[5] विश्व के लगभग सभी भाषा-वैज्ञानिक यह स्वीकार करते हैं कि भाषा-शिक्षण की प्रक्रिया में वे लोग जो अपनी मातृभाषा में दक्ष होते हैं, दूसरी भाषाओं को आसानी से सीख जाते हैं। गांधीजी के अनुसार, "जो व्यक्ति एक भाषा को शास्त्रीय पद्धति से सीख लेता है, उसके लिए दूसरी का ज्ञान सुलभ हो जाता है।"[6]

सुभाषचन्द्र बोस भी यही मानते थे कि इस उपनिवेशवादिता से मुक्त होने में लोकभाषा ही सहयोग कर सकती है। हरिपुरा कांग्रेस अधिवेशन (19 फरवरी, 1938) के भाषण में बोलते हुए उन्होंने कहा कि "जहाँ तक की हमारी लोकभाषा का सवाल है मेरा विचार है कि हिंदी और उर्दू के बीच का भेद कृत्रिम है भारत की सबसे स्वाभाविक लोकभाषा हिंदी एवं उर्दू का मिश्रण होगा। जो कि देश के एक बड़े भाग में बोली भी जाती है।" पर साथ ही वे भाषाओं की लिपि के संदर्भ में रोमन के पक्षधर थे।[7] उनका मानना था "यदि देश में जनता के साथ राजनीति करनी है, तो उसका माध्यम हिंदी ही हो सकती है। बंगाल से बाहर मैं जनता में जाऊँ तो किस भाषा में बोलूँ? इसलिए कांग्रेस का सभापति बनकर मैं हिंदी खूब अच्छी तरह न जानूँ तो काम नहीं चलेगा।"[8] नेहरू की राय इस संदर्भ में थी कि वह अंग्रेजी को वैश्विक स्तर की भाषा मानते थे और विश्व के साथ भारत के संबंध कायम करने के लिए किसी हद तक अनिवार्य भी।

गांधीजी जहाँ भारत के संदर्भ में हिंदुस्तानी भाषा के पक्ष में थे, जिसे देश का हर व्यक्ति आसानी से समझ सके। हिंदी और उर्दू से मिली-जुली इस भाषा को वे भारत की आदर्श भाषा के तौर पर देखते थे। उनका मानना था यह भाषा भारत की सांस्कृतिक विरासत की प्रतीक है और हिंदू-मुस्लिम को एक करती है। जबकि नेहरू जी यह तो कहते हैं की सबकी बुनियादी शिक्षा मातृभाषा में होनी चाहिए। पर साथ ही 13 मार्च, 1948 को सेवाग्राम में उन्होंने कहा था- 'ड्राफ्ट कोस्टिट्यूशन संविधान में अंग्रेजी रखी गई है, तो वह सही रखी गई है। न रखना बड़े पैमाने पर झगड़ा-फसाद मोल लेना है। माना की हमारी एक राष्ट्रभाषा होनी चाहिए। लेकिन उसके लिए कोई मौका नहीं है। अच्छा काम, गलत वक्त पर बुरा काम हो जाता है। हालाँकि वह यह भी मानते थे कि "जिन अनेक चीजों ने भारत के हजारों वर्ष लंबे इतिहास में उसका गौरव बढ़ाया है उनमें सबसे महत्वपूर्ण वस्तु क्या हो सकती है। मुझे अपने मन में तनिक शंका नहीं है वह वस्तु संस्कृत भाषा ही है।"[9] नेहरू जी ने 4 सितंबर, 1956 को लोकसभा में कहा- मैं संस्कृत का भारी प्रशंसक हूँ। संस्कृत में प्राचीन ज्ञान एवं संस्कृति की महानता समाई हुई है। संस्कृत ही वह जड़ है जिसमें से भारत का विकास हुआ है। यदि हम जड़ से कट गए तो हमारे लिए बहुत बुरा होगा हम केवल सतही इंसान रह जाएंगे।

वि-उपनिवेशवाद के संबंध में भाषा पर विचार करने वाले अन्य महत्वपूर्ण व्यक्ति राममनोहर लोहिया हैं। वे हिंदी भाषा के पुरजोर समर्थक रहे। उनका कहना था कि हिंदुस्तान का नेतृत्व करने वाला वर्ग कभी नहीं चाहता कि जनता की भाषा में काम हो, वह शासन के रहस्य को बनाए रखना चाहता है। लोक भाषा के बिना लोक राज्य असंभव है।[10]

भाषा के वि-उपनिवेशीकरण को केवल भारत के संदर्भ से ही नहीं विश्व पटल पर भी देखा जा सकता है। पिछले दो दशकों से उत्तर-उपनिवेशिक विमर्श और प्रकारांतर से वि-उपनिवेशीकरण अकादमिक पटल पर छाया हुआ है। विश्व-साहित्यिक-पटल पर गैर-पश्चिमी साहित्य को 'हाशिया' हासिल था। इस हाशिये की बहस ने उसे मुख्यधारा में ला दिया। ग्राबिएल गार्सिया मार्खेज, न्युगीवांगथ्युगो, का साहित्य इस संदर्भ में देखा जा सकता है। इनमें थ्युंगो ने दक्षिण अफ्रीका के केन्या में विशेष कार्य किया। उन्होंने अंग्रेजी में लेखन के साथ अपना शानदार कैरियर आरंभ किया। परंतु फिर वे अपनी मातृभाषा 'किकियू' की ओर मुड़े। उनके अनुसार भाषा एक सांस्कृतिक बम है। औपनिवेशकों द्वारा उसे उपनिवेश पर लादा जाना इस बात का स्पष्ट द्योतक है कि वे उपनिवेश की संस्कृति और स्मृतियों यहाँ तक की उसके इतिहास तक सबको मिटाना चाहते हैं। उनकी 1986 में एक महत्वपूर्ण पुस्तक आई 'अंग्रेजी से विदाई'। जिसमें उन्होंने यह साबित किया कि औपनिवेशिक की भाषा किस तरह घातक रूप से अपने प्रभुत्व को स्थापित करती है। इसीलिए उन्होंने 'किकियु' भाषा को अपनाया। ताकि वे किकियु परंपराओं और उसकी उपस्थिति के द्वारा अपनी परंपराओं और संस्कृति की सार्थक उपस्थिति साहित्य में बना सकें। उनके अनुसार "विशिष्ट संस्कृति अपनी सार्वभौमिकता में भाषा के माध्यम से प्रसारित नहीं होती है। बल्कि एक विशिष्ट इतिहास के साथ एक

विशिष्ट समुदाय की भाषा के रूप में अपनी विशिष्टता में प्रसारित होती है। लिखित साहित्य और वक्तृता प्रमुख साधन हैं जिनके द्वारा एक विशेष भाषा अपनी संस्कृति में निहित दुनिया की छवियों को प्रसारित करती है। "संचार के रूप में भाषा और संस्कृति के रूप में भाषा एक–दूसरे के उत्पाद हैं–भाषा संस्कृति को वहन करती है जिसके द्वारा हम खुद को और दुनिया में अपनी जगह को समझते हैं इस प्रकार भाषा खुद से अविभाज्य है एक विशिष्ट रूप और चरित्र, एक विशिष्ट इतिहास, दुनिया के साथ एक विशिष्ट संबंध वाले मनुष्यों के एक समुदाय के रूप में।"[11]

आज वि–उपनिवेशीकरण के तमाम प्रयासों के फलस्वरूप यह महसूस किया जा रहा है कि लोक–भाषा की पूर्व–प्राच्य परंपरा के साथ न्याय नहीं हुआ है। देश–भाषाओं के विकास के शुरुआती चरण में ही 'अलबरूनी'[12] 1020 ईस्वी के आस–पास लक्षित करते हैं कि भारतीय आर्यभाषा दो रूपों में विभक्त है एक उपेक्षित कथ्य भाषा है, जिसका प्रयोग जन–सामान्य करते हैं। दूसरी शिष्ट सुरक्षित उच्च वर्ग के लोगों में प्रचलित साहित्यिक भाषा है और इसे अध्ययन करके ही प्राप्त किया जाता है। "यह साहित्यिक भाषा व्याकरणात्मक विभक्ति–योग, व्युत्पत्ति तथा व्याकरण के नियमों एवं अलंकार–रस–शास्त्र की बारीकियों से आबद्ध है।"[13]

आज समय उत्तर–औपनिवेशिक अध्ययन का है जिसमें भाषा एक केंद्रीय प्रश्न बनकर उभरी है। उपनिवेश द्वारा अपनी भाषा से विछिन्न होने का बोध अंतहीन दुख में डूबने जैसा है, साँस न ले पाने की असमर्थता। भारतीय शिक्षा–व्यवस्था में उपनिवेशी हस्तक्षेप भारतीय भाषाओं पर कुठाराघात था। जिसे गांधीजी के शब्दों में कहें तो अंग्रेज उपनिवेशवाद ने भारतीय शिक्षा रूपी खूबसूरत पेड़ को काटकर सबसे बड़ा अपराध किया।

औपनिवेसिक शासन से मुक्त होने के बाद एक तरह से बंदी बनाई गई भाषाओं का क्या हो ? भाषा के वि–उपनिवेशवाद के प्रसंग में दो मत हैं एक वे जो स्वदेशी भाषाओं के पुनः आगमन की वकालत करते हैं दूसरे वे जो उपनिवेशी भाषा को वैश्विक परिदृश्य में देखते हुए उसे संचार का बेहतरीन विकल्प मानते हैं। जैसे अंग्रेजी भाषा। केन्या के लेखक और अंग्रेजी के प्रोफेसर 'न्युगों वांग थियोंयो' ने अपनी पुस्तक 'डि कोलोनाईज़िंग द माईंड, अर्थात् मन का वि–उपनिवेशीकरण से पूर्व 1986 में 'अंग्रेजी से विदाई' पुस्तक लिखी। इतिहास इस बात का गवाह रहा है कि विजयी जातियों ने हमेशा पराजित जनता से उसकी भाषा छीनने का प्रयत्न किया है। मातृ भाषा ही व्यक्ति के संवेदों, अनुभवों, विचारों को शानदार तरीके से अभिव्यक्त कर पाती है। पराजित जातियों से उनकी भाष छीनने का और अपनी भाषा को लादने का प्रयत्न हर आक्रांता करता है। रोमन लोगों ने यूरोप के कई हिस्सों को जीतकर अपनी भाषा लैटिन को उन पर लादा। एशिया के जिस भी हिस्से में मुस्लिम आक्रांताओं ने प्रवेश किया अरबी और फारसी भाषा को हावी किया। यही स्थिति अंग्रेजी की भी रही।

अनेक राज्यों, खंडों में बँटे भारत को संश्लेष शक्ति की जरूरत है। जो हमारे भाषा–चिंतन और दर्शन पर आधारित है, ताकि अपनी अस्मिता खोए बिना हम परस्पर संवाद की स्थिति में रह

सकें। भाषा के इस चिंतन को डाईक्रोनिक (ऐतिहासिक) से सिंक्रोनिक (समसामयिक) होने की भी आवश्यकता है। रामविलास शर्मा का कहना है– "भाषा संस्कृति के निर्माण में सहायक होती है। भाषा द्वारा हम अपनी संस्कृति व्यक्त करते हैं। भाषा स्वयम संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग है।"[14]

हिंदी की जातीय संस्कृति और औपनिवेशिकता पुस्तक में डॉ. राजकुमार का कहना है कि आर्य भाषा परिवार और द्रविड भाषा परिवार जैसा विभाजन नस्लीय है। "इंडो यूरोपियन भाषा परिवार की परिकल्पना को स्वीकार कर लेने पर हुआ यह कि भारत की कथित आर्य भाषाओं और यूरोप की भाषा के बीच तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा सामान्य तत्वों को सामने लाने का प्रयास तो खूब हुआ, लेकिन भारतीय भाषाओं के बीच समानता और निरंतरता देखने और उनके निहितार्थों को समझने की कोशिश लंबे समय तक कम ही की गई।"[15] धीरे–धीरे अंग्रेजी हिंदुस्तान की देशभाषा हुए बिना महानगरीय भाषा के रूप में परिनिष्ठित हो गई है, यह हमारी नई संस्कृत है और वि–उपनिवेशवाद के कृत्य में बाधक है।

वि–उपनिवेशवाद न केवल विदेशी शासन से मुक्ति का प्रसंग है अपितु इसके अन्य पक्ष भी हैं। इसका दूसरा पहलू महानगरीय सभ्यता या शक्तिशाली समाज द्वारा अपने ही देश में पिछड़े समुदाय खासतौर पर आदिवासी समाज को अपने हित में उपनिवेश बनाना भी है। रोजी–रोटी की जरूरतों को पूरा करने के लिए यह समाज निरंतर अपने स्थानीय क्षेत्र से पलायन कर बड़े क्षेत्रों में जा रहा है। जहाँ जाकर सबसे पहले वह भोजन रहन–सहन तब भाषा को बदल लेता है और भाषा से विछिन्न होने का अर्थ ही है अपनी संस्कृति से बिछुड़ना। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए नई शिक्षा नीति के अंतर्गत निरंतर इस बात पर बल दिया जा रहा है की प्राथमिक शिक्षा मातृभाषा में हो। गांधीजी ने दृढ़ता से कहा था 'मुझे इसमें तनिक भी संदेह नहीं है की जिन लोगों के हाथों में युवाओं की शिक्षा है, वे यदि निर्णय लेना चाहेंगे तो पाएँगे कि मातृभाषा मनुष्य के मानसिक विकास के लिए उसी प्रकार स्वाभाविक है, जिस प्रकार माँ का दूध शिशु के विकास के लिए है।' वे यह भी कहते थे की हमारे युवक और युवतियाँ अंग्रेजी और दूसरी भाषाओं को खूब पढ़ें पर अपने ज्ञान का प्रसाद भारत को और सारे संसार को उसी प्रकार प्रदान करें जैसे बॉस, रॉय और रवीन्द्रनाथ ने किया था।[16] 'हिंद स्वराज्य' और 'सर्वोदय' में वे शिक्षा और भाषा की मुश्किलों से टकराते हुए इसका प्रयत्न विश्व की महान कृतियों के अनुवाद में ढूँढते हैं जो जनता को सुलभ हो। लेखिका अनामिका ने उपन्यासों 'बिल्लू शेक्सपियर: पोस्ट बस्तर'[17] तथा 'तृण धरी ओट'[18] में दिखाई देता है जहाँ पहले उपन्यास में 'कथासत्रम' के जरिये उपन्यास के नायक और नायिका विश्व की महान कृतियों का पुनर्पाठ कर बस्तर के युवाओं को मानवीय मूल्यों की ओर उन्मुख करने का प्रयत्न करते हैं तो 'तृण धारी ओट' में सीता निर्वासित अवस्था में वन में रहकर आदिवासी असुर समुदाय के बच्चों को सांस्कृतिक कथाओं के द्वारा शिक्षित करने का प्रयत्न करती हैं। इसका एक महत्वपूर्ण संदर्भ वी–उपनिवेश भी है और इस बात का प्रमाण भी की प्राथमिक स्तर पर शिक्षा का मातृभाषा में होना अति अनिवार्य है–कारण यदि वहाँ प्राथमिक स्तर

पढ़ने वाले बच्चों को संविधान में लिखित आधिकारिक 22 भाषाओं में से किसी एक भाषा में, जो वहाँ के क्षेत्र की भाषा मानी गई है- में समझाया जाए तो वे समझ नहीं पाते। जैसे गोंड़ी भाषा में गाय को 'मुड़ा', भैंस को 'अडमी' या कुडुख भाषा में पेड़ को 'मन' कहा जाता है। अध्यापक यदि मानक भाषा या प्रदेश की भाषा में बच्चों को यह बताता है तो वे समझ नहीं पाते हैं। अध्यापक यदि भाषा के स्तर पर बच्चों से नहीं जुड़ता है तो वह स्कूल आने से मना कर देते हैं और अशिक्षा की राह पर चलने लगते हैं। आदिवासी भाषाओं के शोधार्थी डॉ. अनाबेल के शोध के अनुसार हर दूसरे हफ्ते में दुनिया से एक आदिवासी भाषा लुप्त हो रही है। नई शिक्षा पद्धति में भारत में जैसे बस्तर प्रदेश में गोंड़ी, हलबी, कुडुख, सरगुजिया को प्राथमिक स्तर की शिक्षा के लिए चुना गया है। पिछड़ा दूर-दराज का आदिवासी समुदाय प्राथमिक स्तर पर शिक्षित हो कर ही आगे बढ़ा सकता है। अपनी मातृ भाषा से जुड़ना अपनी परंपरा, रीति-रिवाज अर्थात् अपनी संस्कृति एवं राष्ट्र से जुड़ना है और यही औपनिवेशिकता से मुक्ति का मार्ग भी है।

निष्कर्ष- भाषा मानव की अस्मिता के साथ जुड़ी हुई है। मनुष्य अपनी संस्कृति को भाषा के माध्यम से ही संरक्षित करता है। जिन देशों को उपनिवेश बनने का दंश सहना पड़ा, वे स्वतंत्र होने के बाद भी भाषा और मानस के स्तर पर औपनिवेशिकता से मुक्त नहीं हो पाए। उपनिवेश बने देशों की देशज भाषाओं को सबसे अधिक हानि हुई। भारत के संदर्भ में इस स्थिति को देखते हुए नई शिक्षा पद्धति में प्राथमिक स्तर पर मातृ-भाषा में शिक्षित करने का कदम स्वागत योग्य है। हाशिये का समाज इसके माध्यम से शिक्षा ग्रहण कर भारत को न केवल विकास में योगदान देगा अपितु औपनिवेशिकता से मुक्ति का सार्थक प्रयत्न भी होगा।

संदर्भः

1. The Last Lesson (E.L. Keene Translation) in Letters of My Windmill, Daudet, A (2005), PP 1-4, Oxford University Press -2005 Original work Published in 1869.
2. गांधी, करमचंद, मोहनदास, सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा: अध्याय-5 हाईस्कूल की परीक्षा, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, पृ. 23
3. नवजीवन : 1920, पृ. 22
4. हरिजन : 1938, पृ. 16
5. वही : सत्य के प्रयोग, पृ. 24
6. वही : सत्य : के प्रयोग:, पृ. 24

7. https://www.heritagetimes.in
8. जिज्ञासु राजेन्द्र, बड़ों की बड़ी बातें, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, पृ. 36
9. भंडारकर प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, पुणे में दिया गया भाषण 1956
10. लोहिया राममनोहर, संपादक ओंकार शरद लोकभारती प्रकाशन, छठा संस्कारण, पृ. 144
11. Decolonising the mind: (The politics of language in African literature): 1986 NGUGI WA THONG'O
12. फारसी विद्वान, जो भारत और श्रीलंका की यात्रा पर 1017-20 के मध्य आया था। प्रसिद्ध पुस्तक-किताब-उल-हिंद या तहक़ीक़-ए-हिंद
13. चाटुर्ज्या सुनीति कुमार, 1954, भारतीय आर्यभाषा और हिंदी:, राजकमल प्रकाशन, पृ. 106-107
14. शर्मा, रामविलास, 1953, भाषा और समाज, राजकमल प्रकाशन, पृ. 39
15. हिंदी की जातीय संस्कृति और उपनिवेशिकता: राजकुमार 2018 17-18 राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. दिल्ली।
16. सर्वोदय: महात्मा गांधी संपादक भारतन कुमारप्पा: 1955, नवजीवन प्रकाशन मंदिर अहमदाबाद, पृ. 158-160
17. बिल्लू शेक्सपियर : पोस्ट बस्तर, अनामिका वाणी, प्रकाशन: 2014
18. तृण धरी ओट : अनामिका, वाणी प्रकाशन: 2014

❑❑

‘हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं तथा साहित्य का अंतः संबंध’

—नन्दराम

सार

भाषायी एवं साँस्कृतिक विविधता भारत की पहचान है। दक्षिण भारत में जहाँ तमिल, तेलुगू, कन्नड़ और मलयालम आदि भाषाओं की प्रधानता है तो वहीं मध्य तथा पश्चिमोत्तर भारत में मराठी, गुजराती, पंजाबी, कश्मीरी तथा उत्तर एवं पूर्वोत्तर में हिंदी, मैथिली, बाग्ला, उड़िया, असमिया, मणिपुरी, संथाली, नेपाली, खासी, गारो, लेप्चा, मिजो तथा नागामीज आदि भाषाओं की बहुलता है। भाषायी विविधता के साथ ही भारत में साँस्कृतिक अनेकता भी विद्यमान है। भारत के विभिन्न क्षेत्रों में खान-पान, रहन-सहन, वेश-भूषा, धर्म, विश्वास, नैतिकता, त्यौहार, उत्सव इत्यादि संबंधी भिन्नताएँ भी मौजूद हैं। भाषायी एवं साँस्कृतिक विविधताओं के साथ-साथ भारतीय भाषाओं के साहित्य में भी भिन्नताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। इन विविधताओं के बावजूद भारत के भाषायी, साँस्कृतिक तथा साहित्यिक स्वरूपों के ऐक्य-भाव भी परिलक्षित होता है। इन्हीं भाषायी, साँस्कृतिक एवं साहित्यिक विविधताओं के मध्य समन्वय एवं समरसता भाव के परिणाम स्वरूप भारत की मजबूत सामाजिक साँस्कृतिक एवं राजनीतिक विरासत का कलेवर निर्मित होता है। बाह्य रूप से भिन्नता की स्थिति होते हुए भी भारतीय संस्कृति भावनात्मक एकता के सूत्र में आबद्ध है, जो भारतीय भाषाओं एवं साहित्य में आंतरिक सहसंबंध का परिचायक है।

बीज-शब्दः *भाषा-वैज्ञानिक, वाङ्मय, भौगोलिक, द्रविड़-परिवार, आर्य-भाषा, परिष्करण, सरलीकरण, ब्राचड़-प्राकृत, शब्द-भंडार, भाषाविद्, गुरुमुखी लिपि, शौरसेनी अपभ्रंश, भारोपीय, मणि-प्रवाल, ब्रजबुलि, मैतैलोन, रिक्थ, आधारभूमि, प्रवृत्तियाँ, समन्वयात्मक लोकतांत्रिक मूल्य।*

नन्दराम

'विविधता में एकता' भारत की प्रमुख सांस्कृतिक विशेषता है। सांस्कृतिक विविधता के साथ ही यहाँ भाषायी विविधता भी विद्यमान है। भारत में जिस प्रकार सांस्कृतिक अनेकताओं के मध्य भावनात्मक, सामाजिक तथा राजनीतिक स्तर पर एकता स्थापित है, उसी प्रकार भाषायी एवं साहित्यिक भिन्नताओं में भी ऐक्य भाव निहित है। भारत में मूलतः चार भाषा परिवारों की भाषाएँ व्यवहृत होती हैं। भारोपीय, द्रविड़, मुंडा तथा चीनी–तिब्बती। भारोपीय परिवार को चार उपशाखाओं में विभाजित किया गया है– आर्य, ईरानी, नूरिस्तानी और दरद। इसमें आर्य उपशाखा के अंतर्गत हिंदी, उर्दू, ब्रज, अवधी, पंजाबी, सिंधी, नेपाली मराठी, कोंकणी, असमिया और बांग्ला आदि भाषाएँ शामिल हैं। द्रविड़ के अंतर्गत दक्षिण भारत की प्रमुख भाषाएँ– तमिल, तेलगू, कन्नड़ और मलयालम सम्मिलित है। मुंडा (आस्ट्रो–एशियाई) वर्ग में पूर्वोत्तर भारत की कतिपय भाषाएँ तथा निकोबार द्वीप में बोली जाने वाली भाषाएँ आती हैं। चीनी–तिब्बती परिवार में अंगामी (नागालैंड), मणिपुरी (मणिपुर), मिजो (मिजोरम), बोडो (असम), लेप्चा (सिक्किम) और लद्दाखी (लद्दाख) आदि शामिल की जाती हैं। ये सभी भाषा परिवार यद्यपि विभिन्नता ग्रहण किए हुए हैं। फिर भी इनमें कतिपय स्तरों पर एकता निहित है।

भारत की भाषायी एवं साहित्यिक एकता तथा महत्व को स्पष्ट करते हुए डॉ. नगेन्द्र ने लिखा है– "भारत वर्ष अनेक भाषाओं का विशाल देश है– उत्तर–पश्चिम में पंजाबी, हिंदी और उर्दू, पूर्व में उड़िया, बाँग्ला और असमिया; मध्य–पश्चिम में मराठी और गुजराती और दक्षिण में तमिल, तेलगू, कन्नड़, और मलयालम। इनके अतिरिक्त कतिपय और भी भाषाएँ हैं, जिनका साहित्यिक एवं भाषा–वैज्ञानिक महत्व कम नहीं है– जैसे कश्मीरी, डोगरी, सिंधी कोंकणी, तूरु आदि। इनमें से प्रत्येक का, विशेषतः पहली बारह भाषाओं में से प्रत्येक का अपना साहित्य है जो प्राचीनता, वैविध्य, गुण और परिणाम – सभी की दृष्टि से अत्यंत समृद्ध है। यदि आधुनिक भारतीय भाषाओं के ही संपूर्ण वाङ्मय का संचयन किया जाये तो मेरा अनुमान है कि वह यूरोप के संकलित वाङ्मय से किसी भी दृष्टि से कम नहीं होगा। वैदिक संस्कृत, संस्कृत, पालि, प्राकृतों और अपभ्रंशों का समावेश कर लेने पर तो उसका अनंत विस्तार कल्पना की सीमा को पार कर जाता है– ज्ञान का अपार भंडार, हिंद महासागर से भी गहरा, भारत के भौगोलिक विस्तार से भी व्यापक, हिमालय के शिखरों से भी ऊँचा और ब्रह्म की कल्पना से भी अधिक सूक्ष्म है। इनमें प्रत्येक साहित्य का अपना स्वतंत्र और प्रखर वैशिष्ट्य है जो अपने प्रदेश के व्यक्तित्व से मुद्रांकित है। पंजाबी और सिंधी इधर हिंदी और उर्दू की प्रदेश सीमाएँ कितनी मिली हुई हैं! किंतु उनके अपने–अपने साहित्य का वैशिष्ट्य कितना प्रखर है! इसी प्रकार गुजराती और मराठी का जनजीवन परस्पर ओत–प्रोत है किंतु क्या इनके बीच में किसी प्रकार की भ्राँति संभव है! दक्षिण की भाषाओं का उद्गम एक है: सभी द्रविड़ परिवार की विभूतियाँ हैं, परंतु क्या कन्नड़ और मलयालम या तमिल और तेलुगू के स्वास्थ्य के विषय में शंका हो सकती है! यही बात बाँग्ला, असमिया और उड़िया के विषय में सत्य है। बाँग्ला के गहरे प्रभाव को पचाकर असमिया और उड़िया अपने स्वतंत्र अस्तित्व को बनाये हुए हैं।"[1]

हिंदी भाषा की जननी प्राचीन आर्य भाषा संस्कृत मानी जाती है। संस्कृत भाषा के परिष्करण, परिवर्धन तथा सरलीकरण की प्रक्रिया से हिंदी भाषा का उद्भव माना जाता है। हिंदी का विकास रूप परिवर्तन की अग्रलिखित प्रक्रिया से हुआ– संस्कृत >प्राकृत >अपभ्रंश >अवहट्ट > पुरानी हिंदी > हिंदी। हिंदी का वर्तमान स्वरूप आधुनिक आर्यभाषाओं की उत्पत्ति के साथ ही निर्मित होना शुरू हुआ। हिंदी के साथ ही आधुनिक आर्यभाषाओं के अंतर्गत कई अन्य भाषाओं का भी विकास हुआ। इनमें प्रमुख हैं– सिंधी, लहंदा, पंजाबी, गुजराती, मराठी, बांग्ला, असमी और उड़िया आदि। बारीकी से विश्लेषण करने पर यह ज्ञात होता है कि ये सभी भाषाएँ आपस में भाषायी एवं साहित्यिक रूप से एक महीन सूत्र से जुड़ी हुई हैं। इनका बाह्य आवरण चाहे भिन्न हो, किंतु आंतरिक स्वरूप कई प्रकार की समानता ग्रहण किए हुए हैं।

भारत के पश्चिमोत्तर प्रांत में प्रयुक्त भाषा सिंधी का उद्भव ब्राचड़ प्राकृत से विकसित ब्राचड़ अपभ्रंश से हुआ है। सिंधी के शब्द–भंडार में कई अन्य आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की तुलना में अरबी–फारसी–तुर्की शब्दों की अधिकता है। इसके बाद भी संस्कृत के तद्भव शब्दों की संख्या इसके संपूर्ण शब्द–भंडार का लगभग 75 प्रतिशत है। संस्कृत भाषा से विकसित अन्य भाषाओं से सिंधी भाषा की निकटता स्वत: सिद्ध होती है।

'पंजाबी' भाषा के विकास के संबंध में प्रसिद्ध भाषाविद् डॉ. भोलानाथ तिवारी ने लिखा है– "इसका विकास टक्क प्राकृत से विकसित टक्क अपभ्रंश से माना जाता है, किंतु साथ ही इस पर केकय, शौरसेनी तथा पैशाची का प्रभाव रहा है। इनमें सबसे अधिक प्रभाव शौरसेनी का है। पंजाबी की अपनी पुरानी लिपि लंडा थी जिसे देवनागरी की सहायता से सुधार कर गुरु अंगद ने गुरुमुखी लिपि बनाई है। अब पंजाबी गुरुमुखी लिपि में ही लिखी जाती है। पंजाबी में घ, झ, ढ, ध, भ का उच्चारण कुछ क्ह, च्ह, ट्ह, त्ह, प्ह जैसा होता है।"[2]

'गुजराती' भाषा भी 'पंजाबी' की तरह शौरसेनी अपभ्रंश से प्रभावित है। 'गुजरात' शब्द का संबंध 'गुर्जर' जाति के लोगों से माना जाता है। ये मूल रूप से मूल आक्रमणकारी शक थे तथा पाँचवी सदी के आस–पास भारत आये थे। पहले इन्होंने पंजाब तथा राजस्थान पर आधिपत्य जमा रखा था, किंतु मुस्लिम आक्रमण के कारण ये गुजरात की ओर पलायन कर गए। इसी कारण गुजराती भाषा, पंजाबी तथा राजस्थानी का भी प्रभाव ग्रहण किए हुए है। गुजराती पर शौरसेनी अपभ्रंश के प्रभाव के संबंध में डॉ. भोलानाथ तिवारी ने लिखा है– "वर्तमान गुजराती का सुस्पष्ट रूप 17वीं सदी के मध्य से दिखाई पड़ने लगता है। गुजराती का संबंध शौरसेनी अपभ्रंश के दक्षिणी–पश्चिमी रूप से है, जैसा कि भौगोलिक स्थिति से स्पष्ट है। इसे नागर अपभ्रंश भी कहा गया है।"[3]

'मराठी' भाषा का संबंध मूलत: महाराष्ट्र से है। इसका प्रयोग सामान्यत: उत्तर में सतपुड़ा से दक्षिण में कृष्णा नदी तक तथा पूर्व में नागपुर से लेकर पश्चिम में गोवा तक होता है। डॉ. गुणे आदि

कतिपय मराठी विद्‌वानों ने मराठी भाषा का संबंध महाराष्ट्री प्राकृत और महाराष्ट्री अपभ्रंश से माना है। डॉ. घोष आदि ने इसे शौरसेनी के बाद का माना है। मराठी की उत्पत्ति के संबंध में सुश्री कुसुमावमती देश पाण्डे ने लिखा है– "महाराष्ट्र की भाषा मराठी की उत्पत्ति के विषय में अनेक मत हैं। यह मान्यता है कि वैदिक भाषा और संस्कृत से मथुरामंडल, मगध, बाल्हीक और महराष्ट्र में क्रमश: शौरसेनी, मागधी, पैशाची और महाराष्ट्री प्राकृतें विकसित हुई। इन प्राकृतों का भी विकास अपभ्रंशों के रूप में हुआ। महाराष्ट्री अपभ्रंश से मराठी का उद्‌भव हुआ।"[4]

द्रविड़ परिवार की भाषाओं (तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम) पर संस्कृत भाषा का पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। दक्षिण भारत की भाषाओं में तमिल भाषा का महत्वपूर्ण स्थान है। जिस प्रकार आर्य भाषा परिवार में संस्कृत को प्रमुख स्थान प्राप्त है, उसी प्रकार द्रविड़ भाषा परिवार में तमिल भाषा की भी स्थिति है। तमिल प्राचीन भाषाओं के रूप में शक्तिशाली तो रही है, यह आज भी आधुनिक भारत की श्रेष्ठ भाषाओं में अग्रगण्य है। द्रविड़ वर्ग की भाषाओं में 'तेलुगू' का भी केंद्रीय स्थान है। इसका मूल आधार पूर्णत: द्रविड़ ही है, किंतु ऊपरी आवरण प्राय: मिश्रित हो गया है। इसमें विदेशी भाषाओं के शब्दों को भी समुचित स्थान मिला है। तेलुगू भाषा के विकास मार्ग को प्रशस्त करने में संस्कृत भाषा का व्यापक योगदान है। द्रविड़ भाषा परिवार की चार मुख्य भाषाओं में तेलुगू तथा कन्नड़ में पारस्परिक समानता अधिक है। दोनों की मूल संरचना प्राय: समान है। कन्नड़ भाषा का क्षेत्र वर्तमान कर्नाटक, आंध्र प्रदेश में विस्तृत है।

'मलयालम' द्रविड़ परिवार की प्रमुख भाषा है। इसका क्षेत्र मुख्यत: केरल में विस्तृत है। भारतीय संविधान में मान्यता प्राप्त चार प्रमुख द्रविड़ भाषाओं में मलयालम भी शामिल है। मलयालम भाषा की उत्पत्ति के संबंध में विद्‌वानों में मतभेद है। इस संदर्भ में प्राय: तीन मत प्रचलित हैं। पहले मतानुसार मलयालम की उत्पत्ति संस्कृत से मानी जाती है। दूसरे में इसकी उत्पत्ति तमिल से मानी गई है। तीसरे मत का दावा है कि मलयालम की उत्पत्ति संस्कृत तथा तमिल दोनों के मिश्रण से हुई है। तीसरे मत का आधार प्राय: सत्य प्रतीत होता है, क्योंकि मलयालम में प्रयोग होने वाले कई शब्द ऐसे हैं, जो संस्कृत तथा तमिल दोनों में पाये जाते हैं।

इन सभी तर्कों एवं आधारों से स्पष्ट होता है कि भारत के प्रमुख भाषा-परिवार; भारोपीय एवं द्रविड़ आंतरिक रूप से संबद्ध हैं। दोनों भाषा परिवारों की भाषाओं के विकास में एक-दूसरे का प्रमुख योगदान है। द्रविड़ भाषा परिवार पर संस्कृत के प्रभाव की व्याख्या करते हुए डॉ. भोलानाथ तिवारी ने लिखा है– "शब्द-समूह के क्षेत्र में संस्कृत का बहुत अधिक प्रभाव द्रविड़ पर पड़ा है। तमिल भाषा का एक रूप 'शेन' (= पूर्ण) कहलाता है, जिसमें संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है। ब्राह्मणों के प्रभाव से मलयालम भी संस्कृत-बहुल हो गई है। मलयालम की संस्कृत-बहुल साहित्यिक शैली को मणि-प्रवाल कहते हैं। कन्नड़ और तेलुगू ने भी संस्कृत शब्द उदारता-पूर्वक लिए हैं।"[5]

भारत के दक्षिण-पश्चिम क्षेत्र में मुख्य रूप से प्रयोग की जाने वाली 'कोंकणी' भाषा का शब्द-भंडार, वाक्य रचना तथा शैली भी उत्तर भारत की प्रमुख भाषा हिंदी और अन्य भाषाओं से कुछ हद तक समानता लिए हुए है। कोंकणी तथा हिंदी भाषा की समानता के बिंदुओं को स्पष्ट करते हुए डॉ. सुनीता ने लिखा है- "कोंकणी और हिंदी दोनों भाषाएँ एक ही सांस्कृतिक वर्ग, एक ही भाषा परिवार की भाषाएँ रही हैं। ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भी ये परस्पर संबद्ध हैं। इनका विकास एक ही मूल भाषा से हुआ है। इनके बोलने वालों के रीति-रिवाज, धर्म, आदर्श और विचारधाराएँ इन्हें विरासत में मिली हैं। इसलिए थोड़ी-बहुत समानताएँ लिए हुए हैं।"[6]

'उर्दू' भारत की एक बहु-प्रचलित भाषा है। इसे कश्मीर की राजभाषा होने का गौरव प्राप्त है। बिहार तथा उत्तर प्रदेश में इसे द्वितीय राजभाषा का दर्जा मिला है। पंजाब एवं आंध्र प्रदेश में भी इसका पर्याप्त प्रचलन है। 'उर्दू' भाषा अन्य भारतीय भाषाओं से घनिष्ठ रूप से जुड़ी है। इस संबंध में डॉ. ख्वाजा अहमद फ़ारूकी ने लिखा है- "उत्तर भारत की यह भारतीय आर्यभाषा भी इसी कारण कई बोलियों में विभक्त हो गयी, जैसे बुंदेली, हरियाणवी, ब्रजभाषा, और खड़ी बोली या हिंदुस्तानी या जबान-ए-देहलवी। इस पश्चिमी हिंदी ने ही उर्दू का आधार निर्मित किया। आज भी उर्दू में उसका व्याकरण, मुहावरे और कई हजार शब्द मौजूद हैं। ये सब उर्दू के भारतीय उद्गम का स्पष्ट निर्देश करते हैं। उर्दू के मूल में निश्चित रूप से खड़ी बोली थी जो दिल्ली और उसके आस-पास बोली जाती थी।"[7] जब उर्दू का विकास साहित्यिक भाषा के रूप में होने लगा तो स्पष्ट ऐतिहासिक कारणों से उसमें फारसी के बहुत से शब्द आ गये। फारसी उस समय भारत की प्रमुख भाषा के रूप में विकसित हो रही थी और उसके माध्यम से अरबी और तुर्की के भी अनेक शब्द उर्दू में आये। डॉ. ख्वाजा अहमद फारूकी ने उर्दू के उद्भव के संदर्भ में आगे लिखा है- " 'उर्दू' का उद्भव सजातीय भारतीय आर्य भाषाओं की भाँति शौरसेनी प्राकृत से हुआ था। भारतीय इतिहास में जब वह महत्वपूर्ण मोड़ आया कि तुर्कों, अफगानों और फारस के लोगों का जबरदस्त फैलाव भारत में हुआ, उस समय पंजाब और दिल्ली के आसपास के इलाकों की बोली में गैर-भारतीय ध्वनियाँ तथा शब्द प्रविष्ट हुए और इन्हीं के परिणामस्वरूप 'उर्दू' का जन्म हुआ।"[8] उर्दू में रचित साहित्य भी अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य से जुड़ा हुआ प्रतीत होता है। उर्दू की गजल एवं कौव्वाली परंपरा का स्पष्ट प्रभाव हिंदी साहित्य में दृष्टिगोचर होता है।

'कश्मीरी' भाषा के उद्भव के संबंध में प्राय: विद्वानों में मतभेद रहा है। इस संदर्भ में दो मत प्रचलित हैं- 1. यह भाषा भारत-ईरानी भाषा-परिवार की दरद शाखा के अंतर्गत आती है, जिसका संबंध भारोपीय मूल भाषा के साथ जोड़ा जा सकता है, तथा 2. यह भाषा भारत-ईरान भाषा परिवार की भारतीय आर्य वैदिक शाखा के दरद भाषा वर्ग में आती है। सच्चाई चाहे जो भी हो, जिस समय संस्कृत तथा फारसी शिक्षित समाज की भाषाएँ थीं, उस समय जनसामान्य द्वारा प्रयुक्त प्राकृत भाषा कश्मीर घाटी के सीमावर्ती इलाकों में बोली जाने वाली भाषाओं तथा उपभाषाओं द्वारा समृद्ध होती रही और

अंततोगत्वा इसने उस भाषा का रूप ग्रहण किया जिसे 'कश्मीरी' संज्ञा से अभिहित किया गया। सामान्यतः एक अपभ्रंश रूप में संस्कृत से उद्भूत होने पर भी चौदहवीं शती में मुस्लिम शासन के उदय के समय इसका स्वरूप भिन्न हो गया, क्योंकि उस समय उसमें अरबी-फारसी शब्दों का भी प्रवेश हो गया था। भाषिक एवं ध्वनि वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि 'कश्मीरी' भाषा की उत्पत्ति संस्कृत के अपभ्रष्ट रूप से हुई है।

'उड़िया' उड़ीसा प्रांत तथा उसके आस-पास के क्षेत्रों के लोगों द्वारा प्रयोग की जाने वाली एक आधुनिक भारतीय आर्यभाषा है। इसका संबंध मागधी अपभ्रंश के दक्षिणी भाग से है। इसे ओरिया, उरिया, उत्कली तथा ओड़ी आदि नामों से भी जाना जाता है। 'उड़िया' के प्रमुख क्षेत्र उड़ीसा राज्य की भौगोलिक स्थिति ऐसी है कि वह कई भारतीय भाषाओं के संक्रमण क्षेत्र में पड़ता है। इस कारण उड़िया पर अन्य भारतीय भाषाओं का पर्याप्त प्रभाव है। इस संदर्भ में शंकरलाल पुरोहित ने लिखा है- "उड़ीसा की भौगोलिक स्थिति विशिष्ट है। इसके दक्षिण में आर्येतर भाषा समुदाय शुरू होता है और उत्तर में आर्य भाषा संघ, पूरब में अनंत तक फैला बंगोपसागर और पश्चिम में शुद्ध हिंदी खड़ी बोली का विशाल भूखंड। करीब-करीब जंक्शन पर अवस्थित होने के कारण उड़ीसा विविधताओं के सर्वाधिक संकुल क्षेत्रों में गिना जाता है। गंजाम, कोरापुट जिले तेलुगू भाषी, कटक, पुरी, बालेश्वर जिले बाँग्ला भाषी और सुंदरगढ़, संबलपुर, बलागीर तथा कालाहांडी हिंदी भाषी क्षेत्रों से सटे हैं। अतः इनका आपसी मेलजोल इन्हीं भाषाओं से होता रहा है। इसके अलावा उड़ीसा का बहुत बड़ा भाग आदिवासी भाषाओं का आता है। परंतु आश्चर्य की बात तो यह है कि उड़ीसा की मूल प्रकृति का उड़ीसा की आदिवासी भाषाओं के साथ उतना मेलजोल नहीं है जितना हिंदी के साथ है। संभवतः इसमें आदिवासी भाषा बोलने वालों का संकोची स्वभाव एवं एकांत-प्रियता है जबकि हिंदी क्षेत्रों और उड़िया भाषा-भाषियों के बीच संबंध कुछ अलग प्रकार के हैं।"[9]

'बँगला एक आधुनिक भारतीय आर्यभाषा है जिसका प्रयोग पश्चिम बंगाल तथा बांग्लादेश में किया जाता है। इसका विकास मागधी अपभ्रंश के पूर्वी रूप से हुआ है। बँगला भाषा को गौड़ी, प्राकृत, मागधी तथा गोल्ली आदि नामों से भी जाना जाता है। बँगला भाषा तथा हिंदी भाषा में कई स्तरों पर समानता पायी जाती है। दोनों की समानता का उल्लेख करते हुए डॉ. भोलानाथ तिवारी ने लिखा है- "मध्यकालीन बंगाली साहित्य, हिंदी के कृष्ण काव्य से प्रभावित है। ब्रजबुलि साहित्य नाम से जो वहाँ साहित्य मिलता है, उसकी भाषा में भी व्याकरणिक दृष्टि से पश्चिमी हिंदी तथा मैथिली के पर्याप्त तत्व हैं। दूसरी ओर आधुनिक काल में बंगाली साहित्य ने भी हिंदी को काव्य (रवीन्द्रनाथ), उपन्यास (बंकिम, शरत) तथा नाटक (डी.एल.राय) के क्षेत्र में पर्याप्त प्रभावित किया है।"[10] भारोपीय परिवार की भाषाएँ होने के कारण बँगला और हिंदी में बहुत ही निकट का संबंध हैं।

असम राज्य एवं उसके आस-पास के क्षेत्रों में मुख्य रूप से प्रयुक्त होने वाली भाषा को 'असमिया' भाषा नाम से अभिहित किया जाता है। यह व्याकरण एवं शब्दावली की दृष्टि से सर्वागीण

एवं विकसित आधुनिक भारतीय आर्यभाषा है। इसका विकास भी बँगला और उड़िया की भाँति पश्चिमी अपभ्रंश से हुआ है। असमिया भाषा के अन्य भारतीय भाषाओं के संबंधों के संदर्भ में डॉ. विरंचि कुमार बरूआ ने लिखा है– "असमिया के निर्माण–काल के उदाहरण आठवीं और बारहवीं शताब्दियों के बीच तांत्रिक बौद्ध आचार्यों द्वारा रचित उन गीतों और सूत्रों से मिलते हैं, जो 'चर्या' के नाम से विख्यात हैं। बँगला के विद्वान इन्हें प्रारंभिक बंगला भाषा के उदाहरण मानते हैं। छानबीन से पता चलता है कि बँगला भाषा मागधी अपभ्रंश के सबसे परवर्ती रूप से मिलती–जुलती है और इस नाते बँगला, असमिया और उड़िया इन तीनों भाषाओं में बहुत कुछ साम्य होना अनिवार्य है।"[11]

पूर्वोत्तर भारत में स्थित सीमांत राज्य मणिपुर की भाषा 'मणिपुरी' है। मणिपुरी को 'मैतैलोन' उपनाम से भी जाना जाता है। विविध भाषाविदों ने मणिपुरी भाषा को चीनी तिब्बती भाषा परिवार के उपकुल तिब्बती–वर्मी के अंतर्गत रखा है, विद्वानों द्वारा इस भाषा को तिब्बती–वर्मी भाषाओं की कड़ी के रूप में स्वीकार किया गया है। अलग भाषा परिवार से संबद्ध होने के कारण अन्य भारतीय भाषाओं से इसकी समानता बाह्म स्तर पर नहीं दिखाई देती है। किंतु आंतरिक रूप से यह भावात्मक दृष्टि से एक–दूसरे से जुड़ी हुई दृष्टिगोचर होती है।

भारत में प्रयुक्त होने वाली विभिन्न भारतीय भाषाएँ बँगला, तमिल, कन्नड़, मलयालम, असमियाँ तथा उड़िया आदि की मूल भाषिक – संरचना में काफी समानताएँ विद्यमान हैं। भाषायी समानता के साथ ही भारतीय भाषाओं में रचे गये साहित्य में भी कई स्तरों पर समानता पायी जाती है। इस संदर्भ में डॉ. नगेन्द्र ने लिखा है– "भारत की भाषाओं का परिवार यद्यपि एक नहीं है, फिर भी उनका साहित्यिक रिक्थ समान ही है। रामायण, महाभारत, पुराण, भागवत, संस्कृत का अभिजात साहित्य–अर्थात् कालिदास, भवभूति, बाण, श्री हर्ष, अमरूक और जयदेव आदि की अमर कृतियाँ, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश में लिखित बौद्ध, जैन तथा अन्य धर्मों का साहित्य भारत की समस्त भाषाओं को उत्तराधिकार में मिला। शास्त्र के अंतर्गत उपनिषद्, षड्दर्शन, स्मृतियाँ आदि और उधर काव्यशास्त्र के अनेक अमर ग्रंथ–नाट्यशास्त्र, ध्वन्यालोक, काव्य प्रकाश, साहित्य दर्पण, रसगंगा धर आदि की विचार–विभूति का उपयोग भी सभी ने निरंतर किया है। वास्तव में आधुनिक भारतीय भाषाओं के ये अक्षय प्रेरणा–स्रोत हैं और प्राय: सभी को समान रूप से प्रभावित करते रहे हैं। इनका प्रभाव निश्चय ही अत्यंत समन्वयकारी रहा है और इनसे प्रेरित साहित्य में एक प्रकार की मूलभूत समानता स्वत: ही आ गई है। इस प्रकार समान राजनीतिक सांस्कृतिक और साहित्यिक आधारभूमि पर पल्लवित – पुष्पित भारतीय साहित्य में जन्मजात समानता एक सहज घटना है।"[12]

भारतीय वाङ्मय की विषयवस्तुगत एकता के साथ ही काव्य–शैलियों और काव्य–रूपों में भी समानता दृष्टिगोचर होती है। भारत के प्राय: सभी भाषाओं के साहित्यों में संस्कृत साहित्य पर आधारित काव्य शैलियों–महाकाव्य, खंडकाव्य, मुक्तक, कथा, आख्यायिका आदि के अलावा अपभ्रंश–परंपरा की भी अनेक शैलियाँ, जैसे चरितकाव्य, प्रेमगाथा–शैली, रास, पद–शैली आदि

सामान्यतः समान रूप से प्राप्त होती हैं। छंदों के स्तर पर भी पर्याप्त समानताएँ मिलती हैं। अनेक वर्णिक छंदों के अतिरिक्त अनेक देशी छंद-दोहा, चौपाई आदि भी भारतीय वाङ्मय के लोकप्रिय छंद हैं। वर्तमान परिस्थितियों में पाश्चात्य साहित्य के अनेक काव्य-रूपों और छंदों का - जैसे प्रगीत-काव्य और उसके अनेक भेदों, जैसे संबोधन गीत, शोक-गीत, चतुर्दशपदी और मुक्त छंद, गद्य-गीत आदि का प्रयोग भी लगभग सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य में होने लगा है।

निष्कर्षः अतः स्पष्ट है कि विविध भारतीय भाषाएँ, हिंदी, बँगला, मराठी, गुजराती, पंजाबी, उड़िया, असमिया और मणिपुरी आदि की भाषिक एवं व्याकरणिक संरचना कई स्तरों पर समानता ग्रहण किए हुए हैं। भारतीय भाषाओं की भाषायी विशेषताओं के साथ ही उनमें रचित साहित्य की मूल प्रवृत्तियाँ, प्रकृति तथा भावनात्मक एवं समन्वयात्मक प्रेरणाओं में भी समानता विद्यमान है। बारीकी से विश्लेषित करने पर यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति, रीति एवं आधुनिक साहित्य की परंपरा लगभग सभी भारतीय भाषाओं की साहित्यिक प्रवृत्ति रही है। विभिन्न भारतीय भाषाओं एवं उनके साहित्य में पायी जाने वाली समानता भारतीय संस्कृति की महानता एवं विविधता का परिचायक है। यह विशेषता भारत की भिन्न-भिन्न संस्कृतियों एवं परंपराओं को एकता के सूत्र में पिरोकर लोकतांत्रिक मूल्यों पर आधारित अखंड भारत के निर्माण में सहायक सिद्ध हो रही है।

संदर्भः

1. नगेन्द्र, संपादन, संस्करण : 2007, 'भारतीय साहित्य', में संकलित लेख 'भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता', प्रभात प्रकाशन, आसफ अली रोड, नई दिल्ली, पृ. 11
2. तिवारी भोलानाथ, संस्करण : 1997, 'हिंदी भाषा', किताब महल प्रकाशन, सरोजनी नायडू मार्ग, इलाहाबाद, पृ. 21
3. तिवारी भोलानाथ, संस्करण : 2004, 'भाषा-विज्ञान', किताब महल प्रकाशन, सरोजनी नायडू मार्ग, इलाहाबाद, पृ. 199
4. नगेन्द्र, संपादन, संस्करण : 2007, 'भारतीय साहित्य' में संकलित सुश्री कुसुमावती देश पांडे का लेख 'मराठी', प्रभात प्रकाशन, आसफ अली रोड, नई दिल्ली, पृ. 244-245
5. तिवारी भोलानाथ, संस्करण : 2004, 'भाषा-विज्ञान', किताब महल प्रकाशन, सरोजनी नायडू मार्ग, इलाहाबाद, पृ. 110
6. भाटिया कैलाशचन्द्र, संस्करण : 2004, संपादक, 'भारतीय भाषाएँ और हिंदी अनुवाद समस्या - समाधान', में संकलित डॉ. सुनीता का लेख 'कोंकणी', वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली' पृ. 63

7. नगेन्द्र, संस्करण : 2007, संपादन, 'भारतीय साहित्य' में संकलित डॉ. ख्वाजा अहमद फ़ारूकी का लेख 'उर्दू', प्रभात प्रकाशन, आसफ अली रोड, नई दिल्ली, पृ. 549

8. वही, पृ. 552

9. भाटिया कैलाशचन्द्र, संस्करण : 2004, संपादक, 'भारतीय भाषाएँ और हिंदी अनुवाद समस्या – समाधान', में संकलित शंकरलाल पुरोहित का लेख 'उड़िया', वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली', पृ. 23

10. तिवारी भोलानाथ, संस्करण : 2004, 'भाषा–विज्ञान', किताब महल प्रकाशन, सरोजनी नायडू मार्ग, इलाहाबाद, पृ. 202

11. नगेन्द्र, संस्करण : 2007, संपादन, 'भारतीय साहित्य' में संकलित डॉ. विरंचि कुमार बरूआ एवं प्रफुल्ल दत्त गोस्वामी का लेख 'असमिया', प्रभात प्रकाशन, आसफ अली रोड, नई दिल्ली, पृ. 429

12. नगेन्द्र, संपादन, संस्करण : 2007, 'भारतीय साहित्य', प्रभात प्रकाशन, आसफ अली रोड, नई दिल्ली, पृ. 14

❑❑

शब्दकोश निर्माण में जेंडर संबंधी प्रश्न (हिंदी एवं स्पैनिश भाषा के संदर्भ में)

—पी. कुमार मंगलम/ मधु प्रिया

सार

कोश के नित नए संस्करण प्रकाशित हो रहे हैं, जिनमें नए प्रयोग हो रहे शब्दों को जोड़ा जा रहा है। कोश को अद्‌यतन करते रहने के बावजूद पेशे से जुड़े ऐसे बहुत से शब्द हैं, जो महिलाओं के लिए गढ़े गए हैं, लेकिन उनका उल्लेख शब्दकोश में नहीं मिलता है। शब्दकोश निर्माण प्रक्रिया में सामाजिक पक्षों को तवज्जो देने के बावजूद शब्दकोश में जेंडर संबंधी प्रश्न अनसुलझे हैं। शब्दकोश एक वैचारिक पाठ है जो बहुत प्रभावशाली है, क्योंकि लाखों लोग इसे विश्वसनीय स्रोत के रूप में मानते हैं, परंतु यह जेंडर पूर्वाग्रहों को बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका भी निभा रहा है।

प्रस्तुत आलेख में हिंदी तथा स्पेनी भाषाओं के शब्दकोशों में जेंडर-संबंधी पूर्वाग्रह का विश्लेषण किया गया है। साथ ही, यह भी बताने का प्रयास किया गया है कि शब्दकोश जब प्रौद्‌योगिकी से जुड़ता है, तब भी कैसे कई मौकों पर जेंडर विसंगतियों को और पुष्ट करने का काम करता है।

बीज शब्द: *शब्दकोष, लैंगिक असमानता, भाषा, प्रौद्‌योगिकी, आलोचनात्मक शब्द-अध्ययन*

1. परिचय– शब्दकोश की प्रासंगिकता प्राचीनकाल से लेकर वर्तमान काल तक बनी हुई है। शब्दकोश का प्रयोग भाषा शिक्षण, तकनीकी शब्दावली का गठन और सामग्री निर्माण के साथ-साथ भाषा-प्रौद्‌योगिकी के विभिन्न अनुप्रयोगों के निर्माण में हो रहा है। बहुभाषिकता और प्रौद्‌योगिकी के युग में कोश की उपयोगिता भविष्य में बनी रहेगी। शब्दकोश से अभिप्राय शब्दों के क्रमबद्‌ध संग्रह, उनके अर्थ-निर्धारण और व्याकरणिक कोटियों से है। कोश के विभिन्न प्रकार हैं,

जैसे- पर्याय कोश, विलोम कोश, व्युत्पत्ति कोश, उच्चारण कोश, प्रयोग कोश, एक भाषीय कोश, द्विभाषीय कोश, बहुभाषीय कोश, बोली कोश, ऑनलाइन कोश, ई-कोश आदि।

कोश निर्माण समय एवं श्रम साध्य कार्य है। यह कार्य कई चरणों में संपन्न होता है। प्रथम चरण में कोश की रूपरेखा तैयार की जाती है, जो प्रयोक्ता के उद्देश्य पर निर्भर होती है। उद्देश्य के अनुसार ही सामग्री संकलन का कार्य किया जाता है, फिर प्रविष्टियों का चयन होता है। प्रविष्टियों का चयन करते वक्त कोशकार को बहुत सचेत रहना होता है। कोश में किन शब्दों को रखा जाना चाहिए, किन शब्दों को नहीं रखा जाना चाहिए यह कोशकार का निर्णय होता है। द्वितीय चरण में प्रविष्टि की संरचना तैयार की जाती है। इसमें शीर्ष शब्द का निर्धारण, उच्चारण, अर्थ, परिभाषा, प्रयोग, व्युत्पत्ति आदि कार्य शामिल हैं। कोश का मुख्य कार्य यही है और कोशकार का अधिकांश समय इसी में लगता है। तृतीय चरण में कोश की प्रविष्टियों को एक व्यवस्थित क्रम में रखा जाता है। कोश में प्रयुक्त संकेतों, चिह्नों को भी ठीक किया जाता है।

ऊपर वर्णित क्रम में कोशकार को भाषा के सामाजिक पक्षों को भी ध्यान में रखना होता है। इस संदर्भ में सी.सी. बर्ग ने बल देते हुए कहा है *"कोश उन समाजीकृत भाषिक रूपों की व्यवस्थित तथा क्रमबद्ध सूची है जो भाषा-भाषी समुदाय के वाक-व्यवहार से संग्रह किए गए हैं और जिनकी व्याख्या कोशकार द्वारा इस प्रकार की गई हो कि योग्य पाठक प्रत्येक रूप का स्वतंत्र अर्थ समझ सके तथा उस भाषिक रूप के सामुहिक प्रकार्य और तथ्यों से अवगत हो सके।"*

इस परिभाषा से यह बात स्पष्ट होती है कि कोश का समाज के साथ सीधा और गहरा रिश्ता है। कोश-निर्माण के दौरान कोश में ऐसे सभी शब्दों की प्रविष्टि दी जाती है, जिनका प्रयोग समाज में करना सही नहीं माना जाता है। कोश में ऐसे भी शब्द को रखा जाता है, जिनका प्रयोग वर्तमान समय में कम हो रहा है। ऐसे शब्द भी कोश में शामिल किए जाते हैं, जिनका प्रयोग अभी-अभी होना शुरू हुआ है। उम्मीद स्वाभाविक रूप से यह की जाती है कि शब्दकोश अपने समय और काल में चलन में रहे सभी शब्द-रूपों को सामने रखेंगे। परंतु वास्तव में स्थिति थोड़ी भिन्न है। यही नहीं, इस संबंध में चल रहे शोध यह भी बताते हैं कि कई बार शब्दकोश समाज में मौजूद गैर-बराबरी कायम रखने वाली धारणाओं, परिभाषाओं की भाषाई अभिव्यक्तियों को उसी स्वरूप में स्थान देकर उन्हें व्यापक स्वीकृति दिलाने का काम करते हैं।

क्रिटिकल लेक्सिकोग्राफी यानी आलोचनात्मक शब्द-अध्ययन के क्षेत्र में सामने आ रही प्रस्थापनाएँ हमारे लिए उपयोगी हैं। काचरू (1995) के मत को थोड़ा विस्तार देते हुए यह जोड़ना ख़ास तौर प्रासंगिक है कि शब्द भी ख़ास तरह के पूर्वाग्रहों से मुक्त नहीं होते, बल्कि वे विचारधारा, सत्ता और राजनीति जैसे कारकों से प्रभावित होते हैं। इस स्थापना के साथ *क्रिटिकल लेक्सिकोग्राफी* अलग-अलग भाषाओं के शब्दकोशों की पड़ताल करने का काम करता है।

इस लेख के लिए चयनित विशेष संदर्भ की बात करें, तो हिंदी और स्पेनी दोनों भाषाओं में पेशा या व्यवसाय आधारित संज्ञाओं में अक्सर ही सिर्फ पुरुषवाचक संज्ञा का प्रयोग दिखता है। फिर, जहाँ किसी ख़ास पेशा का स्त्रीलिंग रूप मिलता भी है तो वहाँ पुरुषवाचक रूप को मूल बताया जाता है। इसके अलावा, इन संज्ञाओं के बहुवचन रूपों के प्रयोग में हमेशा पुरुषवाचक रूप के बहुवचन का उल्लेख होता है। इसके साथ ही यह भी देखा गया है कि हिंदी शब्दों के वर्णन में 'वाली' शब्द का प्रयोग नहीं है, जो यह इंगित करे कि उक्त कार्य को महिलाएँ भी कर सकती हैं।

प्रस्तुत शोध पत्र में हिंदी एवं स्पैनिश भाषाओं में उपलब्ध शब्दकोशों में जेंडर संबंधी इन्हीं प्रश्नों को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है। अध्ययन हेतु हिंदी एवं स्पैनिश भाषाओं का चयन कुछ ख़ास कारकों को ध्यान में रख कर किया गया है, जहाँ इन दोनों भाषाओं की कुछ बुनियादी साम्यताएँ दिखती हैं। सर्वप्रथम, दोनों भाषाएँ बृहतर इंडो-यूरोपीय भाषा-परिवार से आती हैं। यहाँ एक और समानता जो ख़ास तौर से इस आलेख के संदर्भ में प्रासंगिक है, वह है इन दोनों भाषाओं में संज्ञाओं का लिंग निर्धारित होना तथा इस तरह पुल्लिंग या स्त्रीलिंग में विभक्त संज्ञाओं का इस्तेमाल। एक और चीज जो ग़ौर करने लायक़ है वह यह कि इन दोनों भाषाओं में जब किसी वाक्य में हम किसी स्त्रीलिंग या पुल्लिंग संज्ञा का प्रयोग करते हैं तब उस वाक्य में आई क्रिया तथा वहाँ इस्तेमाल होते विशेषण का स्वरूप भी उस ख़ास संज्ञा के आधार पर बदलता है। इस सबके साथ, दोनों भाषाएँ अपने-अपने समाजों की एक-दूसरे से मिलती जेंडर असमानताओं, ख़ासकर स्त्रियों की अनदेखी, को अपने कई पहलुओं में व्यक्त करती हैं, जिनमें से कुछ का अध्ययन इस लेख में विस्तार से किया जाएगा।

जेंडर की अवधारणा

जेंडर की निर्मिति सामाजिक रूप से होती है। परिवार, समाज और अन्य सामाजिक-आर्थिक संरचनाएँ शिशु के लिंग के आधार पर विभेदों को निर्धारित करती हैं। इन विभेदों में कपड़े पहनना, बात-व्यवहार, सामाजिक भूमिका, स्थिति, पहचान और जिम्मेदारी शामिल है। इस प्रकार जेंडर की निर्मिति की जाती है और उसका व्यवहार किया जाता है। स्त्रीवाचक और पुरुषवाचक गुणों पर बार-बार जोर देना ही जेंडर प्रारूपों को रूढ़ करना है। वह यह बताता है कि पुरुष कौन-सा कार्य कर सकते हैं और महिलाएँ कौन-सा कार्य कर सकती हैं। जेंडर रूढ़िवादिता के कारण पुरुषों और महिलाओं के लिए अपनी-अपनी भूमिकाओं को उलटने की प्रक्रिया धीमी होती है। जेंडर रूढ़िवादिता का प्रभाव भाषा के विभिन्न पक्षों पर भी देखने को मिलता है। वर्तमान समय में जहाँ महिलाएँ हर क्षेत्र में आगे आ रही हैं वहीं शब्दकोश के लिए यह मान लिया गया है कि आयोजक, अनुवादक, अध्यक्ष, अभिनेता, परीक्षक आदि जैसे शब्द केवल और केवल पुरुषों के लिए ही हैं। शायद इसीलिए शब्दकोश में स्त्री के संबोधन हेतु कोई अलग शब्द उपलब्ध नहीं हैं और न ही अर्थ के वर्णन में 'वाली' शब्द का प्रयोग हुआ है। शब्दकोश में जेंडर की इन्हीं स्थितियों को आगे अनेक उदाहरणों द्वारा समझाने का प्रयास किया गया है।

2. हिंदी शब्दकोश में जेंडर प्रस्तुति

जब हम कोश में शब्दों को देखते हैं, तो ज्ञात होता है कि प्रविष्टि से लेकर रचना तक में कोश जेंडर-निरपेक्ष नहीं है, वह जेंडर पूर्वाग्रह से ग्रसित है। इसे कुछ उदाहरणों से समझा जा सकता है- हिंदी शब्दकोश में पेशे से जुड़े जितने भी शब्द हैं उनका पुलिंग रूप ही कोश में दिया जाता है, जैसे- अध्यक्ष, अभिनेता, परीक्षक जैसे पुरुष संबंधी शब्द उपस्थित हैं परंतु स्त्री संबंधी शब्द जैसे अध्यक्षा, अभिनेत्री जैसे शब्द अनुपस्थित हैं। इसके साथ ही शब्दों के वर्णन में 'वाली' शब्द का प्रयोग भी नहीं हुआ है, जो यह दर्शाए कि किसी भी पेशे या व्यवसाय के लिए पुरुष होना कोई पूर्वशर्त नहीं हो सकता। इसका एक मात्र स्पष्टीकरण शब्दकोश निर्माण में पुरुषवादी सत्ता और विचारधारा का प्रभाव है। कोश में केवल वही शब्द रखे जाते हैं, जो पुरुष केंद्रित हैं। जैसे:

- एक भाषीय कोश

  आयोजक : (सं-पु) आयोजन करने वाला।[1]

इस कोश में स्त्री के संबोधन हेतु कोई अलग शब्द उपलब्ध नहीं है और न ही आयोजक के अर्थ के वर्णन में 'वाली' शब्द का प्रयोग हुआ है।

- द्विभाषीय कोश

  ❖ गुजराती-हिंदी शब्दकोश

अध्यक्ष, अध्यापक, अभिनेता, परीक्षक जैसे पुरुष संबंधी शब्द उपस्थित हैं परंतु स्त्री संबंधी शब्द जैसे अध्यक्षा, अध्यापिका, अभिनेत्री को कोश में स्थान नहीं दिया गया है।

❖ मराठी-हिंदी शब्दकोश

अधीक्षक (जो अपने अधीन कर्मचारियों पर निगरानी करता है।), अध्यापक, अनुवादक (फिर से दोहराने वाला) जैसे शब्द तो हैं परंतु अध्यापिका शब्द नहीं है। और ना ही अधीक्षक और अनुवादक के वर्णन में 'वाली' शब्द को रखा गया है, जो यह दर्शाए कि महिलाएँ भी बराबर की सहभागी हैं।

हिंदी कोश में संज्ञा और विशेषण संबंधी ऐसे और भी उदाहरण हैं, जिनमें महिलाओं की सहभागिता को शून्य दिखाया गया है, जैसे:

1. जानकार : जाननेवाला
2. रसोइया (सं.पु) : खाना बनाने वाला
3. वैमानिक (सं-पु) : विमान चालक
4. वैयाकरण (स-पु)

13. प्रशिक्षक (सं-पु)
14. प्रशिक्षणार्थी (सं-पु)
15. प्रस्तुतकर्ता (सं-पु)
16. प्रस्तोता (सं-पु)

5. वैज्ञानिक (सं-पु)
6. व्याख्याता (सं-पु)
7. वकील (सं-पु)
8. वक्ता (सं-पु)
9. वास्तुकार (सं-पु)
10. पत्रकार (सं-पु)
11. प्रतिभागी (सं-पु)
12. प्रवक्ता (सं-पु)
17. प्रतिनिधि (सं-पु)
18. सैनिक (सं-पु)
19. स्पर्धीस्पर्धा करने वाला
20. स्पोर्ट्स मैन (सं-पु)
तो है परंतु स्पोर्ट्स विमेन नहीं है।
21. उपन्यासकार (सं-पु)
22. लिपिक (सं-पु)
23. ज्योतिषी (सं-पु)

इस प्रकार हम देखते हैं कि पेशे से जुड़े शब्दों में स्त्रीलिंग शब्द पूरी तरह से गायब हैं। इसके पीछे यह तर्क दिया जा सकता है कि शब्द बनाए नहीं गए हैं, तो उनको कोश में कैसे रख सकते हैं? परंतु यह कहकर महिलाओं के योगदान को नजरंदाज नहीं किया जा सकता है। समय के साथ लड़कियों/महिलाओं में भी विकास हुआ है और आज समाज में उनकी बराबरी की सहभागिता है। कोई ऐसा क्षेत्र नहीं हैं, जहाँ महिलाओं ने अपनी भागीदारी सुनिश्चित न की हो। महिलाएँ उच्च पद पर आसीन हैं, वे अनुवाद का कार्य भी कर रही हैं और अभिनेत्री के रूप में भी कार्य कर रही हैं। परंतु शब्दकोश में उनका प्रतिनिधित्व करने वाले शब्दों की अनुपस्थिति जेंडर-संबंधी रूढ़िवादिता को दर्शाता है।

3. स्पेनी शब्दकोश एवं जेंडर

स्पेनी भाषा के संदर्भ में स्पेन तथा लातीनी अमरीका का बड़ा हिस्सा तथा हिंदी के संदर्भ में भारत के हिंदी-भाषी प्रदेश जेंडर की कुछ मूलभूत विसंगतियों तथा असमानताओं का पोषण करते रहें हैं, जिसकी अभिव्यक्ति इन दोनों भाषाओं तथा उनके शब्दकोशों में दिखती है। हिंदी भाषी समाज की तरह ही स्पेनी-भाषी समाज में भी स्त्रियों को कुछ ख़ास दायरों में रखा गया है। ये दोनों समाज अपनी बुनावट में गहरे और बुनियादी तौर पर सामंती, पुरुषवादी तथा शोषण की कई सीढ़ियों वाले समाज रहे हैं। जाहिर है, अलग-अलग ऐतिहासिक-राजनीतिक-आर्थिक कारकों से पैदा होता यह सब अपने स्वरूपों में अलहदा है। वैसे, देखा जाए तो इन दोनों ही समाजों में स्त्रियों को मुख्यत: घर-बार संभालने वाली, पुरुषों की इच्छा-पूर्ति करने वाली तथा हमेशा उनके निर्देश तथा संरक्षण के भरोसे रहने वाली अशक्त माना और देखा गया है। यहाँ स्त्रियों को पुरुषों के मुकाबले चारित्रिक दुर्गुणों वाली, अशुद्ध, नासमझ तथा कमजोर माना गया है। स्पेनी भाषा में लिखे गए साहित्य का ज्यादातर हिस्सा स्त्रियों की इन्हीं गढ़ी हुई अवास्तविक छवियों को पुख़्ता करता आया है, जहाँ या तो उनकी कोई भी सकारात्मक भूमिका नदारद है या फिर जो भी भूमिका है वह इन छवियों के इर्द-गिर्द है। साहित्य के अलावा भाषा के स्तर पर स्त्रियों को लेकर कायम रहा यह पुरुषवादी रवैया शब्दकोशों के पृष्ठों पर भी मौजूद रहा है।

इनमें सर्वप्रमुख भूमिका स्पेनी भाषा शब्दकोश की है, जो अपने स्पेनी संक्षिप्त रूप में *डीएलई (DLE-Diccionario de Lengua Española)* के नाम से जाना जाता है। डीएलई तथा कुछ अन्य शब्दकोशों के विश्लेषण से हमारे अध्ययन के संदर्भ में महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकलते हैं। ये हमें बताते हैं कि कैसे इन शब्दकोशों में, जो स्पेनी भाषा के लिए दुनिया भर में सर्वमान्य माने जाते हैं, स्त्रियों की उपस्थिति तथा उनकी भूमिका को दर्ज नहीं किया गया है। सबसे पहले, शब्दों और ख़ासकर पेशा बताने वाले शब्दों में यह गायब कर दिए जाने की प्रक्रिया दिखती है। उदाहरण के लिए, शिक्षक के लिए प्रयुक्त होने वाला जो पुरुषवाचक शब्द **प्रोफ़ेसोर (professor)** है, उसे बीज शब्द तथा स्त्रीवाचक शब्द **प्रोफ़ेसोरा (professora)** को उसका रूप बताया जाता है। यह विसंगति पुरुषों के पक्ष में और ज़्यादा दिखती है, जब बहुवचन शब्दों की बात आती है, जहाँ बिना किसी अपवाद के हमेशा पुरुषवाचक बहुवचन रूप का इस्तेमाल होता है। जैसे कि जब हम यह कहना चाहेंगे कि इस विश्वविद्यालय में कई प्रोफेसर पढ़ाते हैं, तब स्पेनी भाषा में यह कहने के लिए प्रोफेसर के बहुवचन रूप **प्रोफ़ेसोरेस** का इस्तेमाल होगा न कि स्त्रीवाचक शब्द प्रोफेसोरा के बहुवचन रूप **प्रोफ़ेसोरास** का। इस तरह, शब्दों के इस ख़ास इस्तेमाल से एक झटके में स्त्रियों की मौजूदगी को हमारी नजरों से गायब कर दिया जाता है।

यह पूरा मामला इन शब्दकोशों के प्रिंट या ई-संस्करणों तक सीमित नहीं है। उनके जरिए रचा गया भाषा का वो ख़ास संसार, जहाँ स्त्रियाँ या तो सिरे से नदारद हैं या फिर सिर्फ शब्दों के स्त्रीवाचक रूप के तौर पर मौजूद हैं, स्पेनी भाषा के सबसे प्रमुख शब्द-संचयनों के असीमित दायरे तक फैलता जाता है। यहाँ ऐसे ही एक संचयन *CORPES XXI* की बात करें, तो वहाँ ***प्रोफेसर*** शब्द सर्च करने पर ***प्रोफेसर*** शब्द के पुल्लिंग एवं स्त्रीलिंग रूपों के एकवचन एवं बहुवचन सहित सभी शब्द मिलते हैं *(प्रोफेसर, प्रोफ़ेसोरा, प्रोफ़ेसोरेस, प्रोफेसोरास)*। लेकिन, अगर प्रोफ़ेसोरा सर्च किया जाए, तो सिर्फ स्त्रीवाचक प्रोफ़ेसोरा तथा उसका बहुवचन रूप प्रोफ़ेसोरास मिलते हैं।

एक-दूसरा तरीक़ा जिसके जरिए स्पेनी भाषा के शब्दकोश स्त्रियों की भूमिका को कम करते हैं, वह नए शब्दों के बनाए जाने की प्रक्रिया में बखूबी दिखता है। यहाँ उनको बनाए जाने की जरूरत तथा उनका स्वरूप दोनों ही पूर्वाग्रह से भरी इस परिघटना की परतें खोलते हैं। मिसाल के लिए, स्पेनी समाज सदियों से विशेष परिधानों को तैयार करने वालों के लिए स्त्रीवाचक संज्ञा ***मोदिस्ता*** *(modista)* का प्रयोग करता रहा है, जहाँ पारंपरिक रूप से शब्दकोशों में भी इसी संज्ञा का जिक्र होता रहा है। यह सब उस सामाजिक यथार्थ को प्रतिबिंबित करता है, जहाँ हमेशा से इन विशेष परिधानों को, और ख़ासतौर से स्त्रियों के लिए, तैयार करने का जिम्मा स्त्रियाँ ही उठाती रही हैं। अब हाल के दिनों में जब कई पुरुष भी इस पेशे में आए हैं और उनकी संख्या भी बढ़ रही है, तब शब्दकोशों ने ***मोदिस्ता*** का पुरुषवाचक रूप ***मोदिस्तो*** *(modisto)* गढ़ लिया है, जो ख़ास ऐसे पुरुष वस्त्रकारों के लिए इस्तेमाल होता है। यहाँ यह सवाल उठता है कि जैसे ***प्रोफेसर*** के संदर्भ में इस पुरुषवाचक शब्द

को बीज शब्द तथा स्त्रीवाचक शब्द प्रोफ़ेसोरा को उसका रूप बताया जाता है, उसकी तरह दर्ज किया जाता है, तब ***मोदिस्ता*** के संदर्भ में यही नियम क्यूँ लागू नहीं होता ? यहाँ भी स्त्रीवाचक शब्द ***मोदिस्ता*** को बीज शब्द तथा पुरुषवाचक शब्द ***मोदिस्तो*** को उसका रूप क्यूँ नहीं बताया जा सकता ? ठीक यही बात हम ऐसे ही प्रचलित एक-दूसरे शब्द ***एनफेरमेरा*** *(enfermera)* के संदर्भ में देखते हैं। स्पेनी-भाषी समाजों में सालों से तीमारदारी करने वाली नर्स या परिचारिका के लिए यह स्त्रीवाचक शब्द प्रयुक्त होता रहा है, जो इस सामाजिक यथार्थ तथा अनुभव की गवाही देता है कि इन समाजों में यह भूमिका अधिकांश मामलों में स्त्रियाँ ही निभाती आई हैं। फिर, जब पुरुष नर्स के पेशे में आने लगे और उनकी संख्या बढ़ी, तब शब्दकोशों में पुरुषवाचक शब्द ***एनफेरमेरो*** *(enfermero)* गढ़ लिया गया तथा यहाँ पुनः पहले से चले आ रहे स्त्रीवाचक एनफेरमेरा को बीज शब्द का दर्जा नहीं दिया गया।

इस तरह, स्त्रियों की भूमिका को कमतर या फिर बिलकुल ही गायब कर देने की कवायद पेशा-संबंधित शब्दों के ख़ास तरीके से इस्तेमाल में दिखती रही है। साथ ही साथ, कई शब्दों के प्रयोग में स्त्रियों की भूमिका कुछ विशेष कार्यों तक सीमित कर देखने की बानगी भी मिलती है। मसलन, अखबारी रिपोर्टों में नारीवादी आंदोलनों के संदर्भ में फेमिनिस्टों का जिक्र आने पर हमेशा लास फेमेनिस्तास *(las feministas)* पद का इस्तेमाल होता है, जहाँ लास *(las)* स्त्री वाचक उपपद ला *(la)* का बहुवचन रूप है। अर्थात् जो भी फेमिनिस्ट है वह अनिवार्य रूप से स्त्री ही है, यहाँ पुरुष फेमिनिस्ट होने की कोई संभावना नहीं दिखती है।

4. भाषा प्रौद्योगिकी पर प्रभाव

यदि हम यह मान लें कि स्त्रीलिंग शब्द शब्दकोश में नहीं भी होगा, तो कुछ विशेष समस्या नहीं है। स्त्रीलिंग के अर्थ में प्रयुक्त होने वाले शब्द प्रयोक्ता के मानव मस्तिष्क में खुद-ब-खुद आ जाएंगे। परंतु वर्तमान समय में बात यहाँ खत्म नहीं होती। आज हम प्रौद्योगिकी के युग में हैं। भाषा प्रौद्योगिकी के नित नए अनुप्रयोग विकसित हो रहे हैं, चाहे वह मशीनी अनुवाद हो या ऑनलाइन शब्दकोश या फिर कुछ और। ये अनुप्रयोग इतने विकसित नहीं हुए हैं कि ये खुद सोच सकें कि महिलाएँ भी कोई कार्य कर सकती हैं। जिसका परिणाम है कि मशीनी अनुवाद में जेंडर संबंधी पूर्वाग्रह सामने आ रहा है और मशीनी अनुवाद गलत भी हो रहा है जैसे-

अंग्रेजी वाक्य	**हिंदी वाक्य**
They are playing cricket.	वे क्रिकेट खेल रहे हैं।
They are applying henna.	वे मेहंदी लगा रही हैं।
Teacher is going to class.	शिक्षक कक्षा में जा रहा है।

उपरोक्त उदाहरण में क्रिकेट, प्रोफेसर जैसे व्यवसाय के लिए क्रियापद में रहे, रहा जैसे पुरुषवाची रूप का प्रयोग हुआ है। जबकि मेहंदी लगाने के कार्य में स्त्रीलिंग रूप का प्रयोग हुआ है।

स्पेनी भाषा के संदर्भ में बात करें, तो यह विरोधाभास किसी दूसरी भाषा से आते वाक्य के अनुवाद में दिखता है। उस स्रोत भाषा के वाक्य में आता कोई शब्द भले ही पुरुष को इंगित न करता हो, तब भी उसके स्पेनी अनुवाद में उसके लिए पुरुषवाचक शब्द का प्रयोग होता है। मसलन, अंग्रेजी भाषा के वाक्य *they are playing* के स्पेनी अनुवाद को देखते हैं। यह अनुवाद होता है *ellos están jugando* (ऐयोस एस्तान खुगाँदो), जहाँ *ellos* (ऐयोस) वैसे तो *they* के लिए आ रहा है, लेकिन यह एक पुरुषवाचक सर्वनाम *él* (एल) यानी वह का बहुवचन रूप है। अर्थात्, जहाँ अंग्रेजी वाक्य में *they* किसी ख़ास जेंडर को इंगित नहीं करता, वहीं *ellos* (ऐयोस) एक पुरुषवाचक सर्वनाम है।

ऑनलाइन डिक्शनरी एवं शब्दतंत्र

अंग्रेजी–हिंदी ऑनलाइन डिक्शनरी में भी ऐसे शब्दों की सूची है, जो पुरुषवाची हैं। जैसे:

- Driver : चालक (m), ड्राइवर, संचालक (m), गाड़ीवान (m), कोचवान (m), चलाने वाला (m), वाहन चालक (m)।
- Pilot : चालक (m), पायलट (m), संचालन (m), मार्गदर्शक (m), अगुआ, कर्णधार (m), विमानचालक (m), खेवनहार, मार्गदर्शी, पोतचालक, विमानक, जहाजरान, विमान–चालक, उड़ाका, हवाबाज, राहनुमा।
- Professor : आचार्य (m), प्राध्यापक (m),
- Player : खिलाड़ी (m), अभिनेता (m), खिलाड़ी (m), अदाकार, वादक (m), जुआरी (m), कसरती, खिलाड़ी, ताश के पत्ते खेलने वाला, जुआ खेलने वाला, पत्ते खेलने वाला व्यक्ति।

शब्द तंत्र

(चित्र–1)

(चित्र–2)

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट हो रहा है कि आज प्रौद्योगिकी पुनः उसी रूढ़िवादी मानसिकता को प्रदर्शित कर रहा है। प्रौद्योगिकी युग में भी यह स्वीकार कर पाना मुश्किल हो रहा है कि महिलाएँ भी बराबर की सहभागी हैं। महिलाएँ भी रेल, विमान आदि चला रहीं हैं। महिलाएँ भी अकादमिक क्षेत्र हो या खेल का क्षेत्र सभी क्षेत्रों में बराबर की सहभागिता दे रही हैं। प्राकृतिक भाषा संसाधन में जेंडर रूढ़िवादिता विद्यमान है, इसके पीछे यह संभव है कि जिन शब्दकोशों का प्रयोग हो रहा है, उनमें भी स्त्रीलिंग शब्दों के प्रति वही उदासीनता बरकरार होगी। शब्दकोश में व्यवसाय से जुड़े शब्द में स्त्रीवाची शब्द रूप नहीं रखे गए होंगे और उनकी व्याख्या में स्त्री को इतनी तवज्जो नहीं दी जा रही है। इसका परिणाम है कि स्त्रीवाची शब्द अनुपस्थित हैं।

निष्कर्ष : प्रस्तुत आलेख शब्दकोशों के बारीकी से, आलोचनात्मक विश्लेषण की दिशा में एक प्रयास है। इस विश्लेषण को एक ख़ास परिप्रेक्ष्य में देखे जाने की कोशिश की गई है। वह है शब्दकोशों में जेंडर को लेकर दिखते पूर्वाग्रह। भौगोलिक रूप से दूर, लेकिन सामाजिक–सांस्कृतिक और भाषिक रूप से कुछ समानताएँ ली हुई दो भाषाओं हिंदी तथा स्पेनी के कुछ चुने हुए शब्दकोशों के विश्लेषण के माध्यम से यह लेख इस परिप्रेक्ष्य में कुछ सवाल प्रस्तुत करता है। सबसे महत्वपूर्ण सवाल यह कि क्या शब्दकोश सिर्फ शब्द को दर्ज करते हैं और अपने इस काम में किसी भी तरह के सामाजिक पूर्वाग्रह से मुक्त होते हैं, या फिर यह सब इतना सरल नहीं है और शब्दकोश भी भाषा में आते कई सामाजिक–सांस्कृतिक पूर्वाग्रहों को पुष्ट करते हैं। इस लेख के माध्यम से यह दिखाने की

कोशिश की गई है कि कैसे हिंदी और स्पेनी के शब्दकोश उनके समाजों में आज तक चली आ रही जेंडर की विसंगतियों तथा उनसे उपजते विरोधाभासों को दुहराने का काम कर रहे हैं। हमने देखा कि यहाँ कैसे दुनिया की आधी आबादी, जो वर्तमान समय में हर क्षेत्र में अपनी उपस्थिति सुनिश्चित कर रही है, या तो एक सिरे से गायब है या फिर बीज शब्द बना दिए गए पुरुषवाचक शब्दों के स्त्रीलिंग रूप की बेहद सीमित भूमिका में आती है। जेंडर असमानता की यह भाषिक अभिव्यक्ति शब्दकोश से होते हुए, संचयनों से लेकर मशीनी अनुवाद तक दिखती है।

अत: शब्दकोश निर्माण प्रक्रिया में पेशे से जुड़े शब्दों के साथ-साथ अन्य कई पहलूओं में स्त्रियों की उपस्थिति दर्शाने के लिए भाषिक बदलावों तथा नवाचारों की आवश्यकता है।

संदर्भ:

1. सिंह, राम आधार (1990) कोश विज्ञान: सिद्धांत एवं प्रयोग, दक्षिण भारत हिंदी प्रचारसभा, मद्रास।
2. शुक्ल, त्रिभुवननाथ (1996) कोश निर्माण: प्रविधि एवं प्रयोग, जय भारतीय प्रकाशन, इलाहाबाद।
3. पाण्डेय, अनिल कुमार, द्वितीय संस्करण-2019, वर्धा हिंदी शब्दकोश, भारतीय ज्ञानपीठ, आई.एस.बी.एन- 9789326352291
4. गुजराती-हिंदी शब्दकोश, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, भारत सरकार, प्रथम ई संस्करण 2018
5. मराठी-हिंदी-अंग्रेजी त्रिभाषा कोश, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, भारत सरकार, प्रथम ई संस्करण-2018,
6. प्राकृतिक भाषा संसाधन में लैंगिक पूर्वाग्रह: हिंदीभाषा के संदर्भ में, डॉ. मधु प्रिया, डॉ. सत्येन्द्र अवस्थी, गवेषणा, केंद्रीय हिंदी संस्थान, अंक 132, 2023
7. Costa-jussà, M. R., Gonen, H., Hardmeier, C., & Webster, K. (Eds.) (2021). Proceedings of the Third Workshop on Gender Bias in Natural Language Processing. Association for Computational Linguistics. https://www.aclweb.org/anthology/volumes/2021.gebnlp-1/
8. Fuertes-Olivera, Pedro A., & Tarp, Sven. (2022). Critical Lexicography at Work: Reflections and Proposals for Eliminating Gender Bias in General Dictionaries of Spanish. Lexikos, 32 (spe), 105-132. https://dx.doi.org/10.5788/32-2-1699

9. Diccionario de uso del español actual (Clave 2004) (दिक्सियोनारियो दे उसो देल एस्पान्योल आक्तुआल, वर्तमान स्पेनी भाषा का प्रयोग-परक शब्दकोश)
10. Diccionario de uso del español (Maria Moliner 2007) (दिक्सियोनारियो दे उसो देल एस्पान्योल, स्पेनी भाषा का प्रयोग-परक शब्दकोश)
11. Diccionario del español actual (Seco, Andrés and Ramos 2011) (दिक्सियोनारियोदेल एस्पान्योलआक्तुआल, वर्तमान स्पेनी भाषा का शब्दकोश)
12. Diccionario de la lengua Española (DLE 2014) (दिक्सियोनारियो देला लेंगुआ एस्पान्योला, स्पेनी भाषा का शब्दकोश)

(Pedro A. Fuertes-Olivera एवं Sven Tarp, 2022 120)

❑❑

थारू जनजाति की सांस्कृतिक एवं सामाजिक लोकजीवन : एक अध्ययन

—विकाश सिंह मौर्य/ प्रतिमा गोंड

सार

थारू जनजाति मुख्य रूप से उत्तर भारत के उत्तर प्रदेश, उत्तराखंड, बिहार तथा नेपाल के तराई क्षेत्रों में निवास करती है। थारुओं की अपनी प्राचीन तथा समृद्ध सांस्कृतिक धरोहर है। थारुओं की संगठनात्मक संरचना में ऐसे कई महत्वपूर्ण तत्व शामिल हैं जो उनके सांस्कृतिक तथा आर्थिक जीवन को चौतरफा प्रभावित करते हैं। थारू जनजाति के लोगों का सामाजिक जीवन ऐसी विशिष्ट परंपरागत तथा नवोन्मेषी सांस्कृतिक धारा पर आधारित है, जिसमें उनके परंपरागत विश्वास, सामाजिक संगठन तथा सामाजिक सहकार अपनी महत्वपूर्ण भूमिका में होते हैं। ये चीजें थारुओं के सामाजिक तथा सांस्कृतिक धरोहर, परंपराओं, कला, संगीत, रीति-रिवाज, भोजन, जीवनशैली तथा धर्म के रूप में अभी भी अविच्छिन्न हैं। थारू समाज के लोगों का जीवन अधिकांश आदिवासी समुदायों की ही तरह सामूहिकता, आपसी सहयोग, पारिवारिक तथा अटूट जातीय बंधन द्वारा निर्देशित होता है। प्रस्तुत शोध प्रपत्र में वर्णनात्मक शोध अभिकल्प तथा तत्थ संकलन हेतु प्राथमिक शोध सामग्री के लिए असहभागी अवलोकन एवं साक्षात्कार तथा द्वितीयक सामग्री का प्रयोग करते हुये उपरोक्त बिंदुओं को केंद्र में रखकर पश्चिमी चंपारण के थारू जनजाति के लोकजीवन का अध्ययन किया गया है।

बीज शब्दः *थारू जनजाति, संस्कृति, प्रकृति, परंपरा, लोकजीवन, भाषा, शिक्षा, सामाजिक आयाम।*

प्रस्तावनाः थारू मानव जीवन के प्रारंभिक काल से प्रकृति की गोद में निवास करते आ रहे हैं। जंगलों की हरियाली अद्भुत शांति एवं वैभव उनके जीवन को संवारते रहे हैं। पहाड़ों

की महिमा, भव्यता तथा संरक्षण उनके हृदयों की सूक्ष्म भावनाओं को संपोषित करती रही है तथा जंगलों, पहाड़ों के आलिंगन में स्थित भूमि की उर्वरता उनके परिश्रम शक्ति परीक्षण के साथ-साथ उनके पेटी भूख को बड़ी ही सहृदयता से मिटाती रही है। 'निःसंदेह थारू जाति प्रकृति वफादार एवं प्राकृतिक उपजीव्यों की भक्त एवं पुजारी रही है। इसके धार्मिक आचार-विचार प्राकृतिक शक्तियों के प्रभावों की उपज रहे हैं।'[1] उन्होंने उन्हीं शक्तियों की पूजा की जिनके उन्होंने साक्षात दर्शन अपने जीवन-यापन के क्रम में किया। वैसे सामान्यतः थारू जाति के लोग किसी एक देवता के आराधक नहीं रहे हैं। उनका कोई विशेष धर्म-दर्शन भी नहीं रहा है। वे स्पष्टतः प्रकृति-पूजक एवं बहुदेव पूजक रहे हैं। उनकी स्तुति का आधार प्रकृति की विभिन्न घटनाएँ और शक्तियाँ रही हैं। जिन प्राकृतिक घटनाओं या शक्तियों ने उन्हें आनंद प्रदान किया उनको उन्होंने आराध्य मान लिया। 'श्री गौरीशंकर के अनुसार थारूओं में ऋक्षेश्वर यानी भालू देवता के पूजन की परंपरा थी।' 'संभवतः थारूओं की पूजा पद्धति एवं उनके धार्मिक विश्वास पर कवि तुलसीदास की यह उक्ति उचित बैठती है "बन्दौ संत असज्जन चरणा।" अर्थात् संभवतः डर एवं प्राणरक्षा के लिए थारूओं ने भालू को अराध्य मान लिया है।'[2] किंतु भाषा विज्ञान की दृष्टि से देखें तो ऋक्षेश्वर आवश्यक नहीं है कि भालू जैसे जानवर की ही पूजा का द्योतक हो। यह किसी महत्वपूर्ण पुरखे के सम्मान या किसी विशिष्ट साँस्कृतिक विरासत का भी अवशेष हो सकता है। थारूओं की यह प्रथा उनके शांत, सहनशील, सबों के प्रति समभाव और अनिष्टकारियों से दूर रहने की प्रवृत्ति का भी द्योतक है।

उद्देश्यः प्रस्तुत शोध के अंतर्गत थारू जनजाति के जीवन के विविध संदर्भों को निम्नलिखित बिंदुओं के अंतर्गत रखकर गत्यात्मक पहलुओं का समाजशास्त्रीय विश्लेषण किया गया है।

संस्कृति का अध्ययनः थारू जनजाति की विशिष्ट साँस्कृतिक विशेषताओं, परंपराओं, रीति-रिवाजों, लोकगीतों, और लोकनृत्यों का गहन विश्लेषण।

सामाजिक संरचनाः थारू समाज की सामाजिक संरचना जैसे जाति, कुल, परिवार और विवाह प्रणाली के साथ-साथ उनके सामाजिक जीवन में हुए परिवर्तनों को समझना।

आर्थिक जीवनः उनके आर्थिक जीवन जैसे कृषि, कुटीर उद्योग व जीविका के अन्य साधनों का अध्ययन करना।

लोक मान्यताएँ और धार्मिक विश्वासः उनके धार्मिक विश्वासों, अनुष्ठानों, और देवी-देवताओं के प्रति आस्था का विश्लेषण।

चुनौतियाँ और समस्याएँः वर्तमान में थारू जनजाति को आने वाली समस्याएँ, जैसे भूमि, रोजगार, शिक्षा, और स्वास्थ्य का अध्ययन।

शोध प्रविधिः प्रस्तुत शोध के अंतर्गत गुणात्मक एवं वर्णनात्मक शोध प्रविधि का प्रयोग किया गया है। साँस्कृतिक और सामाजिक पहलुओं का अध्ययन के लिए केस स्टडी और नृजातीय

अनुसंधान का उपयोग किया गया है। अध्ययन हेतु थारू जनजाति के प्रमुख व्यक्तियों, बुजुर्गों, महिलाओं, और युवा पीढ़ी का चयन किया गया। प्रत्यक्ष एवं असहभागी अवलोकन द्वारा उनके दैनिक जीवन, परंपराओं, और अनुष्ठानों का निरीक्षण किया गया है। इस अध्ययन का उद्देश्य थारू जनजाति के अद्वितीय साँस्कृतिक और सामाजिक जीवन को समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से समझना है।

थारू जनजाति के जीवन का साँस्कृतिक पक्ष:

1. थारू देवी-देवता:

'थारू समाज के लोग बहुदेववादी होते हैं। इनके समाज में कम से कम दो दर्जन देवी-देवताओं की पूजा-अर्चना होती है। स्थान तथा क्षेत्र परिवर्तन के साथ देवी-देवताओं के नाम तथा पूजन-विधि में कुछ परिवर्तन पाया जाता है। परंतु प्राय: सभी देवी-देवताओं के पूजा-पाठ में बलि चढ़ाने की परंपरा पायी जाती है। इनके मूल देवी-देवता मात्र मिट्टी के छोटे टीले या पत्थर की मजबूत आकृतियाँ होती हैं। ये मिट्टी के टीले या पत्थर की विभिन्न अटपटी सी दिखने वाली आकृतियाँ बड़े-बड़े पेड़ों या घनी झाड़ियों के साये में बनी या गड़ी हुई होती हैं। किंतु इन अटपटी सी दिखने वाली आकृतियों का थारूओं के जीवन में बहुत अधिक महत्व है।'[3] हिंदुत्व के दर्शन से प्रभावित विद्वानों ने जिस सहज तरीके से इन साँस्कृतिक प्रतीकों को 'अटपटी आकृतियों' से संबोधित किया है, शायद उन्हें साँस्कृतिक वर्चस्व के माध्यम और प्रतीक के रूप में विगत कई शताब्दियों से प्रयोग किए जा रहे हिंदुओं की चार, आठ, दस हाथ-पैरों वाली तथा विभिन्न जानवरों के सिर और चेहरों वाले देवी-देवताओं के बारे में ऐसा विचार कभी मन में भी न आया हो, ऐसा साँस्कृतिक सापेक्षता के सिद्धांतों को बिना समझे किए गए लेखन और अध्ययन का नतीजा माना जा सकता है। थारूओं सहित उत्तर भारत के लगभग समस्त किसान, पशुपालक एवं शिल्पकार समुदायों के स्थानीय पूजा स्थल तथा मूर्तियाँ एवं घर के अंदर स्थापित देवी-देवता भी सामान्यत: मिट्टी के टीले ही होते हैं। थारू लोग अत्यन्त श्रद्धा तथा भक्ति से इन विचित्र आकृतियों की पूजा करते हैं।

2. प्रकृति से संबंधित देवी-देवता:

'थारू समाज में प्रकृति पूजन का व्यापक प्रचलन है। इनका सबसे महत्वपूर्ण देवता पृथ्वी है जिसे ये 'जारव' के नाम से पुकारते हैं। पृथ्वी की पूजा थारू समाज में सर्वाधिक महत्वपूर्ण इसलिए है कि ये अपने जीवन-यापन हेतु मुख्यत: कृषि पर निर्भर रहते हैं। जारव की पूजा-आराधना के द्वारा ही ये पृथ्वी को प्रसन्न कर उससे अच्छी फसल प्राप्त करते हैं। जारव देवता को प्रसन्न करने हेतु थारू प्राय: एक खस्सी (बकरा) की बलि देते हैं। बलि दी गयी खस्सी का सिर खेत में गाड़ दिया जाता है तथा इसके शरीर को घर ले जाकर भोज में प्रसाद के रूप में खाया जाता है।'[4] जारव देवता की पूजा साल में एक बार सामूहिक रूप से गाँव स्तर पर होती है।

3. वरना पूजाः

थारूओं की एक महत्वपूर्ण पूजा 'वरना' कहलाती है। इसका वृहत् पैमाने पर थरूहट में आयोजन होता है। शारदा प्रसाद का मानना है कि यह पूजा देवी-दुर्गा की है, जिन्हें थारू लोग अपने खेत-खलिहानों की रक्षिका मानते हैं। 'वरना' पूजा थरूहट के विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग ढँग से होती है। शारदा प्रसाद का यह मत भी अभिमतपूर्ण है। हम ऐतिहासिक रूप से जानते हैं कि दुर्गा की पूजा भारत में अठारवीं शताब्दी के पहले कहीं नहीं थी। तिब्बती बौद्ध परंपरा में एक संकल्पना 'तारा देवी' की है। भारत में उस तारा को 'काली' कहते हैं। कोई भी योग अथवा तांत्रिक क्रियाकलाप काली एवं शिव की स्तुति के बिना नहीं होती है। गोरखनाथ और काली के युद्ध का बहुत रोचक वर्णन हमें लोकगाथाओं में मिलता है। तारा और काली की यह आराधना बौद्ध दर्शन में स्त्रियों के सम्मान और समाज में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका से जुड़ी हुई है। बौद्ध धर्म में महिलाओं को प्रज्ञा की मूर्ति कहा गया है। तात्पर्य यह कि यदि आपको ज्ञान प्राप्त करना है तो महिलाओं का सम्मान/पूजा करना जरूरी है। ज्ञान की अभिलाषा हो तो महिला का सम्मान करें। बज्रयान में स्त्री को ज्ञान काया माना गया है। ऐसा माना जाता है कि फेमिनिन एनर्जी के बगैर ज्ञान संभव नहीं है। बज्रयान में एक ध्यान विश्व की समस्त स्त्री जाति के लिए होता है। हम मनुष्य समेत समस्त जीवों की स्त्री जाति का ध्यान करते हैं। उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हैं कि अगर आप न होतीं तो मैं न होता। आपके बगैर हमारा कोई अस्तित्व न होता। हम उनके प्रति आभार व्यक्त करते हैं, गलतियों के लिए उनसे क्षमा प्रार्थी होते हैं। यह एक विशेष ध्यान है जिसमें हम प्रज्ञा/ज्ञान की कामना करते हैं। (आप माँस खाते हैं तो बकरी या मुर्गी के प्रति कृतज्ञ हो सकते हैं कि अगर आप न होतीं तो बकरे, मुर्गे का अस्तित्व नहीं होता।) महिलाओं के बारे में बुद्ध की सोच को लेकर तमाम शोध हो चुके हैं। विश्व भिक्षुणी संघ ने इस पर व्यापक शोध कराया कि महिलाओं को लेकर जो भी बुरी बाते हैं, बाद की जोड़ी हुई हैं।

'वरना पूजा के समय थारू-समाज में कोई काम नहीं किया जाता है। थारू मुख्यतः कृषि एवं पशुपालन पेशा से जुड़े हैं। इन दोनों पेशों में हरी घास या पौधों का महत्वपूर्ण स्थान है। परंतु वरना पूजा के अवसर पर हरी घास या पेड़-पौधों को नहीं काटा जाता है। यह पूजा बैशाख माह में आयोजित होती है। इस समय धान रोपनी हेतु सभी खेत जुते होते हैं तथा धूप के ताप से मिट्टी सूखकर ढेले के समान हो जाती है। यह पूजा सरेह में जहाँ चारों तरफ से खुला सिवान होता है पर आयोजित की जाती है।'[5] इसमें ब्रह्म बाबा की ही मुख्य रूप से पूजा-अर्चना होती है। यह ब्रह्म बाबा हिंदुओं के ब्रह्म की अवधारणा से अलग हैं। हमें स्मरण रखना चाहिए कि बैशाख का महीना बुद्ध से गहरे रूप में जुड़ा हुआ है।

4. प्रेतात्माओं से संबंधित देवी-देवताः

'थारू लोग बुरे-भले दोनों प्रकार की प्रेतात्माओं की पूजा करते हैं। इनमें 'लुकही देवी' आग देती हैं, वरनात मुर्दाघटी की देवी हैं, समीरधीर आँधी-तूफान के देवता हैं, नेटुआ पहलवान अपदूत है

तथा जीन भी एक भयंकर अपदूत है। थारूओं की आस्था है कि विभिन्न देवी-देवता तथा प्रेतात्मायें पारलौकिक शक्तियों से युक्त होती हैं।'[6]

5. परिवारिक तथा ग्राम देवी-देवताः

'प्रत्येक थारू परिवार का अपना कुल देवता होता है, जिसे 'गण' कहा जाता है। इस कुल देवता को ये लोग प्रचलित देवी-देवताओं जैसे काली, भगवती 'मईया', पारवती (पार्वती), गौरी स्थान आदि नामों से भी संबोधित करते हैं। अपने कुल देवता की पूजा में दूध, रेशमी कपड़े, सफेद कबूतर तथा मुर्गा की बलि चढ़ाते हैं। पूजा संपन्न होने पर भी औरत-पुरुष एक ही पात में बैठकर खाना खाते हैं। इसमें जूठ का भेद नहीं होता है। इस अवसर पर भगत लोग भी मईया के प्रसाद के रूप में माँस खाते हैं।'[7] थारू समुदाय में भगत उस व्यक्ति को कहा जाता है जो विभिन्न सामुदायिक तथा पारिवारिक अनुष्ठानों को अपनी देख-रेख में संपन्न करवाता है। इस अर्थ में भगत की तुलना हिंदुओं के पुरोहित से की जा सकती है। किंतु भगत पुरोहित से इस अर्थ में अलग होता है कि भगत की सामान्य दिनों की जीवन शैली तथा आवास-निवास-व्यवहार तथा प्रस्थति अनुष्ठानिक अवसरों पर ही विशिष्ट होती है। शेष समय में उसका जीवन और व्यवहार किसी विशेषाधिकार संपन्न व्यक्ति का न होकर समुदाय के किसी भी सामान्य व्यक्ति की ही तरह का होता है। भगत कभी सामान्य दिनों में भी माँस का सेवन नहीं करते हैं।

6. धन टिकाईः

बिहार के पश्चिमी चंपारण जिला तथा नेपाल के चितवन, परसा आदि जिलों के थारू एक विशेष प्रकार की सामूहिक पूजा करते हैं, जिसे ये 'धन टिकाई' पूजा कहते हैं। यह पूजा इस क्षेत्र में स्थित प्रसिद्ध 'सहोदरा' स्थान पर यहाँ के प्रत्येक ग्राम के थारूओं द्वारा अपने-अपने गाँव के स्तर पर सामूहिक रूप से होती है। इसके लिए सभी लोग चंदा देते हैं। जिससे अडूआ खस्सी (विशेष शारीरिक स्थिति वाला बकरा) खरीदा जाता है। अन्य लोग अपना-अपना व्यक्तिगत कबूतर, लवंग, धूप, मिठाई आदि ले जाते हैं तथा देवी को अर्पित करते हैं।

इस पूजा में औरत और पुरुष दोनों भाग लेते हैं परंतु औरतों की विशिष्ट भूमिका होती है। औरतें नदी से गगरी (घड़ा) में जल भरकर मंगल गीत गाती हुई माई के स्थान पर आती हैं। सहोदरा स्थान पर स्थित मंदिर में माई की काले पत्थर से बनी एक प्राचीन मूर्ति है। चुनरी पहनाने के पश्चात् माई की चुनरी में खोइछा भरा जाता है तथा माथे पर सिंदूर लगाया जाता है। इस प्रक्रिया को ही 'धन कटाई' कहा जाता है। मंदिर के बाहर थारू अडूआ खस्सी की बलि चढ़ाते हैं। उसका माँस संबंधित गाँव वाले वहीं पर बनाकर प्रसाद के रूप में खाते हैं।

7. थारू पर्व-त्योहारः

थारू समाज साल भर कोई न कोई पर्व-त्योहार मनाते रहते हैं। आदिवासी तथा किसान समुदायों में वर्ष भर कोई न कोई छोटा-बड़ा उत्सव, पर्व और त्योहार मनाया जाता रहता है। यहाँ ध्यातव्य है कि इन उत्सवों और त्योहारों में व्रत और उपवास जैसी रीतियाँ एवं परंपराएँ नहीं निभाई जाती हैं। इन त्योहारों पर अक्सर सामुदायिक तौर पर उत्सवी भोज का आयोजन होता है। थारूओं का कोई भी त्योहार और पर्व व्रत एवं उपवास से जुड़ा हुआ नहीं है। थारूओं का सबसे लोकप्रिय पर्व 'बड़का-इतवार' है। भादों महीना के अंतिम इतवार को ये 'बड़का-इतवार' पर्व के रूप में मनाते हैं। थारू लोग अन्य स्थानीय हिंदुओं की तरह 'दसई' या दशहरा, जिउतिया, फगुआ, मकर-संक्रांति, आदि त्योहार भी मनाते हैं परंतु गैर-थारू हिंदुओं से इनका इन त्योहारों को मनाने का तरीका एकदम भिन्न होता है।

थारू जीवन के सामाजिक आयामः

थारू जाति निःसदेह नृवंश विज्ञान तथा जेनेटिक्स के दृष्टिकोण से एक ही मानव जाति है, परंतु थारू समाज कोई नेजिमेनटेड या फौसीलाइंड समाज नहीं है। इस समुदाय के अंदर ही अंदर कई तरह की सामाजिक तरंगे लहराती रहती हैं, जो थारू समाज को सदियों से गति प्रदान करती आयीं हैं। 'गतिशीलता की वजह से इसने धान की खेती के उत्कृष्ट तरीकों तथा धान की अनोखी किस्मों का निर्माण तथा खोज किया है। इसी गतिशीलता की वजह से इसने विभिन्न प्रकार के पशु-पक्षियों का माँस तथा अनोखी मछलियों का स्वाद एवं स्वास्थ्य के आवश्यकतानुसार भक्षण कर अपना भरण-पोषण करना सीखा। इस समुदाय की अनुपम कलाकृति, मनोरम गीत-नृत्य तथा विपदाओं के बीच भी मस्त रहने की कला संभवतः इसी गतिशीलता का प्रतिफल है।'[8]

ऐतिहासिक रूप से साँस्कृतिक बदलावों, आर्थिक एवं राजनैतिक परिवर्तनों तथा उत्पादन (प्रणाली में हुए परिवर्तनों के साथ ही थारू समाज में भी कई सामाजिक वर्गीकरण या विभिन्नताएँ विकसित हुईं, परंतु ये वर्गीकरण या विभिन्नताएँ थारू समाज में व्याप्त एकता के सूत्र को तोड़ने या विघटित करने के लिए नहीं बल्कि उसे सौंदर्य, समृद्धि एवं तारतम्यता प्रदान करने में सहायक रहीं हैं। प्रकृति की गोद में खिलने वाला यह थारू सामाज प्रकृति की विभिन्न विपुलताओं को अपने सामाजिक ढाँचों में पिरोये बिना कैसे रहता उसमें अगर सामाजिक विभिन्नता नहीं रहती। थारू समाज की संस्कृति मूलतः तांत्रिक रही है जिसने भगवान बुद्ध की मानवतावादी विचारधारा को पैदा किया तथा स्वयं पुनः इस धारा से पल्लवित भी हुई। 'तांत्रिक संस्कृति में स्त्री-पुरुष की समानता का विशेष स्थान रहा है, बल्कि स्त्री का ज्यादा ही महत्व रहा है।'[9] इसका कारण यौन या कामवासना कदापि नहीं रहा है, बल्कि स्त्री के जननी होने के कारण उसका स्थान पुरुषों से ऊँचा रहा है। इसके पीछे मातृभावना या श्रद्धा का समावेश रहा है।

थारूओं की सामाजिक संस्थाँए एवं व्यवस्थाएँ:

थारूओं के सामाजिक संगठन तथा उनकी सामाजिक संस्थाएँ कालांतर में परिवर्तनों से प्रभावित होने के बावजूद आज भी काफी हद तक अपनी मूल विशिष्टताओं से युक्त हैं। थारू समाज में प्रचलित सामाजिक व्यवस्थाओं के अध्ययन से उनके कुछ गूढ़ सामाजिक रहस्यों का पता चलता है।

1. पारिवारिक संरचनाः

अन्य जनजातियों तथा जतियों की तरह थारू समाज में भी परिवार की सबसे छोटी तथा महत्वपूर्ण इकाई है। थारू समाज में सम्मिलित परिवार की परंपरा काफी व्यापक स्तर पर प्रचलित है। कृषि प्रधान थारू समाज के लिए सम्मिलित परिवार परंपरा काफी उपयोगी रही है। गणेश चौबे का कथन है कि हमें अनेक ऐसे परिवार मिले जिनमें सदस्यों की संख्या पचास से भी अधिक है और सभी प्रेमपूर्वक रहते हैं। हमने यह भी सुना है कि ऐसे थारू परिवार भी हैं जहाँ दो–दो सौ आदमी एक साथ रहते हैं और उनकी रसोई एक साथ बनती है। ऐसे परिवारों में अनके स्त्रियाँ मिलजुलकर भोजन बनाती हैं।

2. नारी की प्रधानताः

थारू समाज में खाना बनाना तथा अन्य रसोई घर से संबंधित कार्यों का निष्पादन पूर्णतः औरतों की जिम्मेवारी होती है। 'प्रायः घर की सबसे छोटी बहू–बेटी खाना बनाने का कार्य करती है। अन्य बहू–बेटियाँ उसके कार्य में तहेदिल से हाथ बंटाती हैं, परंतु ये कार्य घर की सबसे बूढ़ी औरत के निर्देशन में संपादित होता है। इसी कारण परिवार की सबसे बूढ़ी औरत को 'मलकिनी' कहा जाता है। घर के बाहर का कार्य सामान्यतः बड़े उम्र की औरतें 'मलकिनी' के नेतृत्व में करती हैं।'[10] थारू परिवारों में सास–बहू एवं बहू–बेटी का द्वंद्व एकदम नहीं दिखता है। थारूओं में उम्र के हिसाब से पारिवारिक अधिकार एवं कर्त्तव्य का निर्णय होता है। थारूओं में बड़ी उम्र वालों के प्रति नैसर्गिक श्रद्धा उमड़ती दिखती है। वैसे थारू समाज खुलापन एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रता का पालना है। कोई भी किसी के अधिकार क्षेत्र में दखल नहीं करता, परंतु बड़े ही स्वाभाविक ढंग से छोटी उम्र वाले अपनी पसन्द तथा इच्छा के विपरीत भी अपने से बड़ों के आदेशों, निर्देशों तथा विमर्शों को बेहिचक शिरोधार्य करते हैं। यह परिवार के सभी स्त्री–पुरुष दोनों में पाया जाता है। शायद यही कारण है कि बड़ा से बड़ा थारू परिवार भी अवज्ञा या मनमुटाव के कारण नहीं बिखरता है। जो थारू औरतें परिवार की धुरी हैं वे अपनी जिम्मेदारियों को अच्छी तरह समझती हैं। बड़ा से बड़ा पारिवारिक झंझावत भी इन्हें अपने कर्त्तव्य से नहीं डिगा पाता। डी. एन. मजूमदार का कहना है कि थारू जाति मेघालय क्षेत्र में बसे खासी जनजाति के समान हैं तथा खासी जनजाति की संरचना मातृ प्रधान है। अतः यह संभव है कि तराई हिमालय क्षेत्रों में बसे आदिम थारू एवं अन्य आदिम भारतीय आर्यों की सामाजिक संरचना मूलतः मातृ प्रधान रही है। यहाँ मजूमदार भी ऐसा प्रतीत होता है कि अपने अवचेतन में आर्यों को ही भारत का

मूलनिवासी मानते थे। ऐसा नहीं होता तो यहाँ पर मजूमदार 'भारतीय आर्यों' न कहकर 'भारतीय समुदायों' लिखते।

3. थारू नारी और लौंडा नृत्यः

'थारू नारियों के बीच नाच, खास करके लौंडा नाच देखने का अत्यधिक प्रचलन है। लौंडा के नाच में युवक स्त्री के वेश-भूषा में नाच-गान करते हैं। लौंडे स्त्री वेश में नारियों से भी ज्यादा कामुक दिखते हैं तथा इनके हाव-भाव से भी कामुकता झलकती है। यह आश्चर्य तथा शोध का विषय है कि आखिर क्यों थारू नारियाँ लौंडा नाच में इतनी ज्यादा दिलचस्पी लेती हैं।'[11] इसके पीछे निःसंदेह मनोवैज्ञानिक तथा अनुवांशिक रहस्य छिपे हैं। आखिर थारू नारी लौंडा के रूप में नकली स्त्री क्या पाती हैं इतनी तन्मायात से इनका नाच देखती हैं। 'थारू युवतियाँ लगातार दो-तीन दिनों तक नाच देखते रह जाती हैं। मात्र भोजन तथा अन्य शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु ही वे नाच स्थल से कुछ समय के लिए हटती हैं।'[12] थारू नारियों के लिए लौंडा का नाच, यज्ञ आदि उत्सव के थारु समाज में होता है। वे आपस में चंदा इकट्ठा कर लौंडा का नाच करवाती हैं। नाच शुरू होने के दिन शाम से ही गाँव में उत्सव का माहौल बन जाता है।

पश्चिमी चंपारण के थारू बाहुल्य चौहद्वा ग्राम के रामानंद महतो बताते हैं कि कुछ थारू युवतियाँ नचनिया (नर्तकी) से इतना प्रभावित या मोहित हो जाती हैं कि वे उनसे प्यार तथा शादी कर लेती हैं। ये नचनिय थारू लड़के ही होते हैं। कभी-कभी तो विवाहित थारू युवतियाँ अपने पतियों को छोड़कर नाच के लौंडे के साथ भागकर उससे विवाह भी कर लेती हैं। परंतु आश्चर्य तब होता है जब गैर थारूओं के विपरीत थारू युवतियाँ थारू लौंडों की दिवानी हो जाती हैं।

4. ग्राम या जातीय संगठनः

थारू ग्राम आपसी सद्भाव तथा सामूहिक जीवन का अजूबा स्थल है। थारूओं के बीच एक विशिष्ट प्रकार की सामाजिक एकता देखने को मिलती है। सामान्यतः प्रत्येक थारू ग्राम एक विशिष्ट थारू उपजाति या जाति का रहवास होता है। अतः वह ग्राम उक्त थारू उपजाति की विशिष्टताओं का दर्पण होता है। 'थारू ग्रामवासी अपनी विभिन्न समस्याओं तथा मतभेदों का निराकरण आपसी मेल-मिलाप तथा सद्भावना से करते हैं। इस कार्य का निष्पादन बुजुर्ग थारू ग्रामीणों की एक समिति द्वारा प्रायः संपन्न किया जाता है। इस समिति का नेतृत्व ग्राम के परंपरागत मुखिया जिसे चंपारण के थरूहट में 'गुमास्ता' कहा जाता है, द्वारा किया जाता है।'[13] वैसे चंपारण के थरूहट के प्रथम स्नातकोत्तर 70 वर्षीय लक्ष्मण प्रसाद गुमास्ता संगठन के बारे में बड़े ही विनोदपूर्वक कहते हैं कि "गुमासता गुम" रहते हैं। वे केवल जंगल से लकड़ी की व्यवस्था करने के लिए उभरते हैं। श्री प्रसाद के अनुसार गुमास्ता अंग्रेजों की देन है। हर गाँव में गुमास्ता होता है। जब अंग्रेज थरूहट के जंगलों में शिकार करने के लिए आते थे तब गुमास्ता लोग "झारा" करवाने का इंतजाम करते थे। पश्चिमी चंपारण के गौनाहा अंचल के थारू बाहुल्य प्रसंडा ग्राम के युवा गुमास्ता जगदीश प्रसाद महतो गुमास्ता

संस्था तथा उसके कार्यों के बारे में कहते हैं- गुमास्ता का मुख्य कार्य जंगल से लकड़ी पाने के अधिकार को संचालित करना है।

5. जवरा व्यवस्था:

थारू समाज पूर्णत: कृषि पर आश्रित है। अत: इसकी बहुत सी सामाजिक मान्यताएँ तथा प्रथाएँ इस कृषि-व्यवस्था के संचालन की आवश्यकताओं के अनुरूप उत्पन्न हुई हैं। अर्थ के मापदंड के अनुसार थारू धनी तथा गरीब मजदूर में विभक्त हैं। नि:संदेह गरीबी या मजदूरी करना किसी भी तरह से समाजिक निकृष्टता नहीं माना जाता है। आर्थिक अंतर की वजह से थारू समाज में मालिक-मजदूर की प्रथा है। यह प्रथा 'जवरा' व्यवस्था के नाम से जाना जाता है। इसके तहत मजदूर अपने मालिक या किसान से सालभर के लिए मौखिक अनुबंध करता है कि वह उक्त किसान को कृषि-कार्य में एक विशिष्ट समय के लिए पूर्ण सहयोग देगा और अपने सहयोग के बदले में मजदूरी या पारिश्रमिक पाएगा।

थारू आकृति, वेश-भूषा एवं शृगांर:

संभवत: एक अज्ञात हास्य कवि ने थारूओं की शक्ल सूरत के बारे में बड़े ही सटीक शब्दों में कहा है-

"नाक चिपट मुँह बईठल देखीं
मोंछ कबो ना अईंठल देखीं
नाम सुनी मँगरू-कोतवारू
तब समझी ई-हउवे थारू।"

ये शब्द नि:संदेह इंगित करते हैं कि थारू मंगोल प्रजाति से जुड़े हैं। आधुनिक युग में प्रजाति या वंश निर्धारण हेतु विभिन्न ठोस वैज्ञानिक मानदंडों का ईजाद हुआ है। मानवशास्त्री डी.एन. मजूमदार का मानना है कि प्रजातीय दृष्टिकोण से थारू बहुत हद तक मंगोली रूप-रंग से युक्त होते हैं। वे प्राय: सुंदर माँसपेशीय तथा सुडौल शरीर के धनी होते हैं। उनका कद सामान्यत: छोटा ही होता है।

थारूओं के बाल प्राय: काले तथा मुलायम होते हैं। उनके बालों की बारीकी एवं कालिमा काफी मनोहर दिखती है। लंबाई की दृष्टिकोण से इनके बाल मध्यम से छोटे और सीधे होते हैं, जिन्हें बड़ी ही सहजता से कंघी किया जा सकता है। सामान्यत: इनके चेहरों पर बाल नहीं पाए जाते हैं। इनके शरीर के अन्य भागों पर भी बाल वस्तुत: नहीं ही पाए जाते हैं। थारूओं की त्वचा का रंग साँवला-गेहुआँ से सफेद गोरा होता है। थारू जाति के लोग नाटे तथा मध्यम कद के होते हैं। इनका औसत कद 1.63 मी. यानी 63 इंच होता है। उनका बदन हल्का छरहरा, परंतु विकसित एवं गठीला होता है। मोटे थुलथुले थारू बहुत कम देखने को मिलते हैं। थारूओं के सिर का आकार भी अपने आप में अनूठा होता है।

थारूओं की नाक संकीर्ण होने के साथ-साथ इसका आकार चौड़ा भी दिखता है। थारू जाति के लोग भी साधारणतः मंगोली आँखों से युक्त कहे जा सकते हैं। उनके नेत्रविवर कमोवेश एक विशिष्ट प्रकार का तिरछापन लिए होते हैं। मजूमदार ने थारू जाति के पुरुषों और महिलाओं दोनों के रक्त वर्गों का अध्ययन किया है और उनका प्रतिशत भी निकाला है जो निम्नलिखित है-[14]

रक्त वर्ग	O	A	B	AB	B +
थारू पुरुष (संख्या 241)	27.1	17.0	37.5	18.4	55.9
थारू महिलाएँ (संख्या 82)	13.4	13.4	42.7	18.3	61.0

वेष-भूषाः

भूमंडलीकरण का भूत थारूओं को भी पकड़े हुए हैं। परंपराएँ इनकी भी बिखरने लगी हैं। इसके परिणाम स्वरूप उनके पारंपरिक परिधानों में जबरदस्त बदलाव आया है। फिर भी, अन्यों के मुकाबले थारू समाज अपनी परंपराओं से पूर्णतः विचलित नहीं हुआ है। प्रौढ़, बुर्जुग अपने पुराने पोशाकों को अभी भी अपनाये हुए हैं।

पश्चिमी चंपारण के थारू बरसात के समय बाँस की बाती से बनी वस्तुओं का प्रयोग वर्षा की बौछार से बचने हेतु करते हैं। इन वस्तुओं को मोहलान के पत्तों से छा दिया जाता है। छतिया को पीठ पर बाँधकर थारू औरतें रोपनी करती हैं। बाँस से ही बनी टोपी को थारू पुरुष सिर पर बाँधते हैं।

थारू जनजाति द्वारा पहने जाने वाला गहनाः

कान में	**हाँथ में पहनने**	**पैर में**	**नाक में**	**गर्दन में**
काना	मट्ठा	गोड़हरी	छोछी	चमुहार
फुलिया	छ्निया	चूड़	नथिया	हसुली
झुमका	हाथ संकर	छगल पावजेब		तबक

(लेखक द्वारा संकलित मूल डाटा है)

थारू भाषा, साहित्य एवं नृत्य-गीत

थारू भाषा भी थारूओं की तरह ही बहुरंगी एवं अनूठी है परंतु समरसता तथा एकता के मार में बंधी हुई है। वैसे, ग्राम्य भाषाएँ तो सामान्यतः प्रत्येक 50 मील के बाद कुछ-न-कुछ बदल ही जाती हैं। वैसे उनकी भाषा भोजपुरी है, जिस पर बज्जिका का कुछ प्रभाव है।

श्री राय उपर्युक्त थारूई भाषा पश्चिमांचल में, अपभ्रंश भोजपुरी भाषा, मध्यांचल के पश्चिमी भाग में तथा बाकी क्षेत्र में मैथिली अपभ्रंश का व्यवहार बताते हैं। वे इन तीनों भाषाओं के निम्नलिखित उदाहरण देते हैं:

पश्चिमांचल की थारूई भाषा

थारू भाषा	**हिंदी भाषा**
मई जई हूँ।	मैं जाता/जाती हूँ।
मई अई हूँ।	मैं आता/आती हूँ।
मनई जाइटा।	मनुष्य जाता/जाती है।
बापू।	पिता।
राम जाइटा।	राम जा रहा है।
सीता हेरत रहे।	सीता देख रही थी।
का तई पढ़वे ?	क्या तुम पढ़ोगी ?

श्री राय के अनुसार क्रिया भूतकाल में एक वचन शब्द 'ले और रहे', वर्तमान के लिए हूंटू और 'इहा' तथा भविष्य के लिए 'वे' का प्रयोग किया जाता है।

मध्यांचल की भाषा

अपभ्रंश भोजपुरी	**हिंदी**
हम अवइत बारी।	मैं आता/आती हूँ।
तू जाइत बारे।	तुम जाती/जाते हो।
ऊ नीमन बा।	वह अच्छी/अच्छा है।
हम देखत बारी।	मैं देखता/देखती हूँ।
बाब, बाबू।	पिता।
दाई, दुधू और माँ।	माता।

भाई, बहन, चाचा, चाची, मामा, मामी, नाना, नानी, मौसा, मौसी, फुफू (बुआ), फूफा, साला, देवर, भाभी, यह प्रायः समान उच्चारण है। बड़े भाई को दादा, छोटे को बउआ कहते हैं।

मध्यांचल के पूर्वी भाग और पूर्वांचल की भाषा

अपभ्रंश मैथिली	**हिंदी**
पाइन	पानी
दाइल	दाल

हम अवइही।	मैं आता/आती हूँ।
ऊ जाइछई।	वह जाती/जाता है।
कि तू जैबही।	क्या तुम जाओगी/जाओगे?
कत गेल रहली।	कहाँ गयी थी/गया था?

क्रिया भूतकाल 'था' के स्थान में 'छल', वर्तमान के लिए 'इछी', 'ईछ', 'ईछे' आदि, भविष्य के लिए 'बही', 'बेहू' तथा 'बे' और 'बा' इत्यादि क्रियाओं का प्रयोग किया जाता है।

भाषाविदों की यह धारणा कि कभी थारूओं की अपनी मूल भाषा जरूर रही होगी, कुछ थारू शोधकर्ताओं को किसी खास निर्णय पर पहुँचने के लिए बाध्य करता रहा है।

ऐतिहासिक तथ्यों को उद्धृत करते हुए राय चौधरी कहते हैं कि भोजपुरी भाषा में थारू भाषा की अपभ्रंश भाषा या शाखा भाषा है। उनका कहना है कि भोजपुरी शब्द कन्नौज साम्राज्य के राजा भोज के नाम से जुड़ा है। राजा भोज प्रतिहार वंश के थे, जिन्होंने बिहार पर भी अपना अधिपत्य कायम किया। राजा भोज का काल आठवीं-नवीं शताब्दी माना जाता है। बिहार पर अधिपत्य करने के पश्चात् राजा भोज ने वर्तमान के शाहाबाद जिला में एक किला का निर्माण करवाया तथा वहाँ एक बस्ती भी बसवायी। इस बस्ती का नाम अपने नाम में पुर जोड़कर 'भोजपुर' रखा और यहाँ के निवासियों की प्रचलित भाषा को 'भोजपुरी' भाषा कहकर प्रचार-प्रसार किया। तब से ही 'भोजपुरी' शब्द का प्रचलन चला आ रहा है। थारू संबोधन में सामान्यत: प्रयुक्त शब्द है- अरि, अगे, अबे, असरी, अर्जी, गोई, भटू। ये पारंपरिक और सामान्य संबोधन के शब्द संबोधित व्यक्ति से संबंध के अनुसार आगे जोड़ दिये जाते हैं, जैसे- अरे बाबा या अरे दादा।

1. शिक्षा: शिक्षा की दृष्टिकोण से थारू जाति के लोग चाहे वे नेपाल में हो या भारत में, काफी पिछड़े हुए हैं। यह विडंबना ही है कि सामाजिक साँस्कृतिक ऐश्वर्य से परिपूर्ण थारू समाज की शैक्षणिक स्थिति अत्यंत दयनीय है। इसी वजह से थारू लोग अंधविश्वास और रूढ़िवादी विचारों से ग्रस्त रहे हैं। खेती उनके जीवनयापन का मुख्य स्तंभ रही है। वे अपने बच्चों को स्कूल भेजना बिलकुल व्यर्थ मानते थे। उनका कहना था कि पढ़ने-लिखने से खेती में क्या लाभ। ऐसी प्रवृत्ति ने भी शिक्षा के विकास तथा प्रसार को बाधित किया है।

2. साहित्य: थारू जाति नि:संदेह जीवंत समाज है। लालसोता ने ठीक ही कहा है कि उनकी अपनी परंपराएँ एवं मान्यताएँ हैं। वे जनजाति संस्कृति की अनमोल धरोहर समेटे हैं। थारूओं का लोक साहित्य भी अनूठा है। यह उनके साहस, धैर्य, कला, निश्छल आनंद, उत्साह, वेदना एवं अन्य मनोवैज्ञानिक साँस्कृतिक विरासतों को पिरोये हुए हैं। साहित्य पर गणेश चौबे, एस. बी. सोहनी, तारकेश्वर प्रसाद, चक्रजी, रमेश चन्द्र झा आदि विद्वानों ने कुछ कार्य किए हैं।

3. नृत्य-गीतः भारत-नेपाल की तराई में स्थित अपनी शानदार ऐतिहासिक धरोहर की शोहरत और शान से युक्त थारूओं की सब्ज-शादाब सरजमी अनोखी-निराली कशीश की मरकज रही है। एक विद्वान ने तो थारूओं की वनाच्छादित निवास भूमि को 'प्राकृत सौंदर्य की खान' कहा है। थारूओं की विशाल जन्मस्थली में पहाड़ी, नदियों, नालों तथा जलस्रोतों का मनोरम जाल सा फैला हुआ है। गणेश चौबे थारू जनपद का वर्णन बड़े ही काव्यमय तरीके से करते हैं, जगह-जगह पर सदानीरा नदियाँ बह रही हैं, जिनकी पाट ग्रीष्म ऋतु में वे वेगवाहिनी हो जाती हैं, और थारूओं के धान के खेतों को जल से पूरित कर देती हैं।

पशुपालन तथा आखेट से भी इन्हें अनुराग है। चारा के बाहुल्य से थारूओं की गाय-भैसें खूब दूध देती हैं। थारूओं के धनसर सदा धान से भरे रहते हैं। नदियों से इन्हें मछलियाँ तथा वनों से इन्हें माँस मिल जाते हैं। थारू चावल से एक प्रकार की मदिरा बनाते हैं और इसका पान करते हैं। संसार के कोलाहल से दूर तराई के निर्मित कानन में इस जाति ने अपने विशिष्ट एवं पृथक अस्तित्व को कायम रखा है। नृत्य-गीत थारूओं के 'अजीब-सा जीवट' के लाजवाब इतिहास के दर्पण हैं। इनमें हिमालय प्रदेश की नदी, वन, पहाड़, पशु, पक्षी तथा वृक्षों की बार-बार चर्चा मिलती है। थारू गीत जंगली जन्तुओं की बोली तथा पक्षियों की चहचहाअट के अनुकरण से ओतप्रोत रहता है। एक शोधकर्ता का कहना है कि थारूओं में गीत-गायन की आदतें बहुत महत्वपूर्ण रही हैं।

थारू गीतों के समूह को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है:

प्रथम - वाद्य रहित सामूहिक गान।
द्वितीय - वाद्य रहित व्यक्तिगत गान।
तृतीय - वाद्ययुक्त सामूहिक गान।

4. विरहनीः थारूओं के अनेक प्रकार के गीत हैं। परंतु इनका सर्वोत्कृष्ट एवं सर्वप्रिय गीत विरहनी माना जाता है। यह गीत पुरुषों द्वारा ही गाया जाता है। इसकी विषयवस्तु स्त्री-पुरुष, विरह-वियोग के इर्द-गिर्द ही घूमती रहती है। गणेश चौबे, 'विरहनी' के बारे में कहते हैं, "थारूओं का अपना गीत 'विरहनी' है, जिसे हलवाहे हल चलाते समय गाते हैं। एक हलवाहा गीत गाता है और उसके साथी हलवाहे 'कुरं.....' की आवाज से उसमें स्वर भरते हैं। विरहनी का अर्थ है, वह स्त्री जिसका पति परदेश में हो, अतः इसे विरह-गीत समझना चाहिए।"

थारू नृत्यः

गीत की तरह ही नृत्य भी थारूओं का जन्मजात गुण है। थारूओं कि तुलना मोर यानि मयूर से की जाती है क्योंकि थारू लोग भी अत्यंत मस्ती से नाचते गाते हैं। थारूओं के नृत्य को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि थारूओं ने मोरों के भाव भगिंमा का अनुकरण किया हो। कुछ नृत्य केवल महिलाएँ

ही करती हैं तो कुछ नृत्य केवल पुरुष ही करते हैं और कुछ नृत्य को दोनों मिलकर करते हैं। थारूओं का नृत्य भारत तथा नेपाल में निम्नलिखित प्रकार से हैं–

1. झमटा: प्रकृति की भव्य गोद में पले बच्चों सदृश्य अबोध भावनाओं से परिपूर्ण "थारू ललनाओं का ललित लोकनृत्य 'झमटा' कहलाता है।" झमटा नृत्य की शैली, इसमें नर्तकियों की भंगिमा मणिपुर के मैतेई जाति के प्रसिद्ध नृत्य 'लाहारोबा' से काफी मेल खाता है। सामान्य: रोपनी समाप्त होने के बाद जब चारों तरफ हरियाली का साम्राज्य फैल जाता है तथा वातावरण मोहक हो जाता है तब थारू किशोरियाँ रात्रि के समय शांत माहौल में अपने कंठों के माधुर्य को गीतों में छलकाते हुए यह नृत्य करती हैं। यह नृत्य थारूओं के कठिन परिश्रम एवं अभाव ग्रस्त समय की समाप्ति तथा हर्ष–आनंद और अनाजों से भरपूर समय के प्रादुर्भाव का द्योतक है। झमटा नृत्य में गाये जाने वाला एक प्रमुख गीत के बोल हैं–

"कौन जइहें हाजीपुर, कौन जइहे पटना,
से कौन जइहें बेतिया नोकरिया।
बाबा जइहें हाजीपुर भइया जइहें पटना
से सइयाँ जइहें, बेतिया नोकरिया।
कौन अनिहे सुहा–सारी कौन अनिहे 'कंगना,
से कोई अनिहे हिदया दरपनवा।
बाबा अनिहें सुहा–सारी, भइया अनिहें कंगना,
से सइयाँ अनिहें, हिरदया दरपनवा।"

इस गीत के शब्द तो कोई अर्थ नहीं रखते। परंतु, जब थारू बालाएँ इसे झूम–झूमकर पूरी तन्मयता से गाती हैं तो गीत के भाव दर्शकों के दिलों को कचोटने लगते हैं।

एक अन्य झमटा गीत दृष्टव्य है-

"झिरहिर झिरहिर नदिया जे बहे,
गोरी तिरिया मादर मारे।
झपटलि चिल्हिया हरइया लई गोलया,
ओही रे सेमर कई डार॥
आरे–आरे भइया भँइसि चरवहवा,
नाउँना जानिले तोहार।
सेमर डार से हरइया घी चिवेतु,
तोरा मोरा भोग विलास॥"

भावार्थः झिरझिर-झिरझिर नदी बह रही है, जिसमें एक तरुणी मछली पकड़ रही है। ऊपर से मँडराती हुई चील चली आयी और झपट कर उसके (गले के) हार को सेमल की डाल पर ले गई। यह देखकर वह तरुणी एक भैंस के चरवाहे को संबोधित करती है- हे भाई, मैं तुम्हारा नाम नहीं जानती हूँ। यदि तुम सेमल की डाल से मेरा हार ला दो तो हम दोनों विलास करेंगे।

यह गीत थारूओं के निवास क्षेत्र तथा उनके सामाजिक जीवन का संक्षिप्त किंतु सटीक चित्रण प्रस्तुत करता है। साथ ही थारूओं को मूल विचार पद्धति पर भी रोशनी डालता है। एक समय था जब थारू कुमारियाँ स्वयं अपना पति चुनती थीं। इस गीत में थारू सुंदरी चरवाहे को यह चुनौती देती है कि यदि तुम सेमल की डाल पर जा बैठी चील के पंजे से हार को छुड़ा कर ला दोगे तो मैं तुम्हें अपना जीवन-सखा बना लूँगी। चौबे कहते हैं: "संभवतः यह गीत उतना ही प्राचीन है जितनी की यह जाति।"

2. झुमराः झुमरा थारू जनजाति का अत्यंत प्राचीन तथा सर्वाधिक लोकप्रिय नृत्य है। यह पूर्णतः पुरुष नृत्य है, इन नर्तको को थारू भाषा में 'लौंडा' कहा जाता है। इसमें चार पाँच लौंडे पैरों में घुंघरू बाँध कर हिरनी की तरह कुलँचे मारते हैं।

3. जाटव जटिनियाः यह नृत्य थारू लोक संस्कृति का मेरुदंड कहा जाता है। इसमें थारूओं का निश्चल मनोभाव का बड़ा ही मनोरम चित्रण होता है। इस गीत नाट्य में केवल थारू रमणियाँ ही भाग लेती हैं। शाम को थारू नवयुवतियाँ घर का सारा काम निपटा कर एक जगह जमा होकर जाटवा जटिनिया नृत्य को शुरू कर देती हैं।

उपसंहारः

इस प्रकार से हम थारूओं के साँस्कृतिक और सामाजिक पक्षों को देखने पर पाते हैं कि इनकी लोक कलाएँ तथा लोक संस्कृति बहुत समृद्ध तथा अत्यधिक सबल हैं, जो अभी तक सैकड़ों वर्षों से जारी ईसाई, हिंदुत्व तथा कारपोरेट के निगल जाने वाले अभियानों के बीच में भी थारूओं के अपने स्वतंत्र अस्तित्व बचाये हुए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं। शताब्दियों से लगातार गैर-थारू समुदायों के साथ में अंतक्रियाओं के होते रहने के बावजूद थारूओं की अपनी एक अनूठी साँस्कृतिक पहचान तथा प्रकृति के साथ सामंजस्य पूर्ण विशिष्ट जीवन शैली बनी हुई है। इसका एक प्रमुख कारण यह भी है कि भले ही सदियाँ इन गैर-थारूओं के साथ-साथ रहने की थारू लोगों की गुजर गयी हों, किंतु इन गुजरी सदियों में भी अपनी साँस्कृतिक विशिष्टता को सँजोने तथा उसकी रक्षा करने के मामलों के थारू समाज ने आज तक गैर-थारूओं को अपने साँस्कृतिक तथा लोकजीवन से सुरक्षित दूरी पर ही रखा हुआ है। अपने परिवार या समुदाय के किसी भी संकट या संघर्ष या मनमुटाव जैसे मुद्दों पर कोई भी थारू किंहीं गैर-थारूओं के पास सहयोग माँगने अथवा मध्यस्थता के लिए नहीं जाते हैं। थारू लोग इसके लिए 'बाजी' / 'बंजकूट' अर्थात् 'बाहरी' जैसे संबोधनों तथा संज्ञाओं का उपयोग करते हैं।

संदर्भः

1. हट्टन, जे.एच., कास्ट इन इंडिया, बांबे, आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस, 1955, पेज नंबर–218।
2. घूरये, जी.एस., दी अब्रोजीनिज सो कॉल एंड देयर फ्यूचर, पूना गोखले इंसटिट्यूट ऑफ पोल्टिक्स एंड इकोनॉमिक्स, 1943, दी सेडूल्ड ट्राइब्स, पोपुलर प्रकाशन, बंबई, 1995, पेज नंबर–135।
3. बोस, एन.के., ट्राइब्स लाइफ इन इंडिया, नई दिल्ली, नेशलन बुक ट्रस्ट, 1971, पेज नंबर–88।
4. वही, पेज नंबर–93।
5. बेली, एफ.जी., ट्राइब्स एंड कास्ट इन इंडिया, कांट्रीबुशंस टू इंडियन सोसिओलाजी, नं. 5, 1961, पेज नंबर–189।
6. मजूमदार, डी.एन., रेसेस एंड कल्चरस ऑफ इंडिया, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बंबई 1961, पेज नंबर–113।
7. हसनैन, नदीम, जनजातीय भारत, जवाहर पब्लिशर्स एवं वितरक, नई दिल्ली, 1992.93, तृतीय संस्करण, पेज नंबर–315।
8. फादर मथियास हर्मंसः दी इंडो तिब्बतंस, के.एन. फर्नानडिस, बांबे, 1954, पेज नंबर–41।
9. वही, पेज नंबर–43।
10. बाबू राम आचार्य, "थारू जाति को मूल घर नहीं", नेपाल–साँस्कृतिक परिषद–पत्रिका, 2/2।, पेज नंबर–74।
11. नौटियाल, नवीन, 'जहाँ औरतें मरदों पर शासन करती हैं', कादंबिनी, जुलाई, 1982, पेज नंबर–18–19।
12. चौधरी, प्रभुनाराण, 'थारू जाति का रीति–रिवाज', निर्ण मासिक, 2/1,पौष–माघ 2041 वि.सं. नेपाल, पेज नंबर–86–87।
13. दुबे, प्रकाश चन्द्र, थारू एक अनूठी जनजाति सामाजिक एवं साँस्कृतिक अध्ययन, बिहार सोश्यल इंस्टिट्यूट प्रकाशन, 2006, पेज नंबर–129–130।
14. मजूमदार, डी.एन., रेसेस एंड कल्चरस ऑफ इंडिया, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बंबई 1961, पेज नंबर–109।

❑❑

भाषा और राष्ट्रवाद : गांधी, टैगोर और राम मनोहर लोहिया के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन

—पतंजलि मिश्र/ चंद्रशेखर पाण्डेय

सार

भाषा राष्ट्रीय पहचान, सांस्कृतिक विरासत और राजनीतिक विमर्श का मूलभूत घटक है। भारत के स्वतंत्रता संग्राम और उसके उपरांत राष्ट्र-निर्माण के संदर्भ में, भाषा एक विवादास्पद एवं साथ ही दार्शनिक रूप से अत्यंत महत्वपूर्ण मुद्दा बनकर उभरी। प्रस्तुत आलेख भारत के भविष्य की दिशा तय करने में भाषा की भूमिका पर आधुनिक भारतीय विचार की तीन प्रमुख हस्तियों–महात्मा गांधी, रवींद्रनाथ टैगोर और राम मनोहर लोहिया– के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों की जाँच करता है। गांधी ने राष्ट्रीय एकजुटता को बढ़ावा देने के लिए एक एकीकृत राष्ट्रीय भाषा की वकालत की, टैगोर ने भाषा, संस्कृति और रचनात्मकता के बीच आंतरिक संबंध पर जोर दिया, और लोहिया ने औपनिवेशिक अंग्रेजी के मुकाबले स्वदेशी भाषाओं को ऊपर उठाने पर ध्यान देने के साथ भाषाई समानता का समर्थन किया। एक तुलनात्मक विश्लेषण के माध्यम से प्रस्तुत आलेख इस बात पर प्रकाश डालता है कि भाषा के प्रति उनके विशिष्ट दृष्टिकोण भारत के सामाजिक-राजनीतिक परिदृश्य के लिए व्यापक दृष्टिकोण को कैसे दर्शाते हैं और औपनिवेशिक समाज के बाद भाषाई बहुलवाद की चुनौतियों का समाधान करते हैं। यह लेख आधुनिक भारतीय चिंतन परंपरा के तीन प्रमुख व्यक्तित्वों, महात्मा गांधी, रवीन्द्रनाथ टैगोर और राम मनोहर लोहिया के भाषाई दर्शन की पड़ताल करता है। यह राष्ट्रीय पहचान, शिक्षा और सामाजिक एकीकरण के लिए एक उपकरण के रूप में भाषा पर उनके दृष्टिकोण की जाँच करता है। उनके विचारों की तुलना करके, लेख भारत के स्वतंत्रता संग्राम और विविधता में एकता की चल रही खोज में भाषा की महती भूमिका की पड़ताल करने का प्रयत्न करता है।

बीज शब्द: *भाषा नीति, राष्ट्रवाद, भाषाई विविधता, बहुभाषावाद, समाज भाषाविज्ञान, भाषाई समानता, उत्तर-औपनिवेशिक भाषा नीति*

प्रस्तावना: भाषा केवल संचार का माध्यम नहीं है, बल्कि समाज के भीतर संस्कृति, पहचान और शक्ति की गतिशीलता (Power dynamics) का एक माध्यम है। भारत जैसे भाषाई विविधता वाले देश में, जहाँ अनेक भाषाएँ और बोलियाँ हैं, राष्ट्रीय एकता स्थापित करने और साँस्कृतिक विविधता को संरक्षित करने में भाषा की भूमिका गहन बहस का विषय रही है। भाषा ने हमेशा राष्ट्रीय पहचान, साँस्कृतिक विरासत और समाज के राजनीतिक विमर्श को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। भारत के स्वतंत्रता आंदोलन और इसके उपनिवेशवाद के बाद के राज्य-निर्माण प्रयासों के संदर्भ में, भाषा की भूमिका एक गहन रूप से विवादित और दार्शनिक रूप से समृद्ध क्षेत्र बन गई। ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन से स्वतंत्रता के संघर्ष ने प्रतिरोध और राष्ट्र-निर्माण दोनों के लिए एक उपकरण के रूप में भाषा के सवाल को सामने ला दिया। भाषा और राष्ट्रवाद पर विमर्श को आकार देने वाली प्रमुख आवाजों में महात्मा गांधी, रवीन्द्रनाथ टैगोर और राम मनोहर लोहिया थे, जिनमें से प्रत्येक अद्वितीय दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं जो भारत में भाषा नीति पर समकालीन चर्चाओं को प्रभावित करना जारी रखते हैं। जबकि गांधी ने भारत को एकजुट करने के लिए एक राष्ट्रीय भाषा की आवश्यकता पर जोर दिया, टैगोर ने भाषा के संस्कृति और रचनात्मकता के साथ आध्यात्मिक और दार्शनिक संबंध पर जोर दिया, भाषाई विविधता और सभी भाषाओं के सम्मान की वकालत की। समाजवादी विचारक और राजनीतिज्ञ राम मनोहर लोहिया ने भाषाई समानता को प्राथमिकता देते हुए एक मौलिक रूप से अलग दृष्टिकोण पेश किया, विशेष रूप से अंग्रेजी के औपनिवेशिक अवशेषों पर स्वदेशी भाषाओं के उत्थान को। उनके विचार उत्तर-औपनिवेशिक भारत में भाषाई बहुलवाद, राष्ट्रवाद और सामाजिक-राजनीतिक संरचना के प्रति विविध दृष्टिकोण प्रकट करते हैं।

महात्मा गांधी ने भाषा को एक सामान्य राष्ट्रीय पहचान के तहत विविध आवादी को एकजुट करने के साधन के रूप में देखा। उन्होंने हिंदुस्तानी-हिंदी और उर्दू का मिश्रण को राष्ट्रीय भाषा के रूप में प्रस्तावित किया, यह विश्वास करते हुए कि यह भाषाई विभाजन को पाट देगी और सामाजिक सद्भाव को बढ़ावा देगी (गांधी, 1927)। हिंदुस्तानी पर गांधी का जोर सिर्फ एक भाषाई प्राथमिकता नहीं थी, बल्कि विभिन्न भाषाई पृष्ठभूमि वाले भारतीयों के बीच एकता को बढ़ावा देने के लिए एक रणनीतिक कदम था।

इसके विपरीत, नोबेल पुरस्कार विजेता कवि और दार्शनिक, रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भाषा के आध्यात्मिक और साँस्कृतिक आयामों को अत्यधिक महत्व दिया। भारत की साँस्कृतिक टेपेस्ट्री की समृद्धि को बनाए रखने के साधन के रूप में भाषाई विविधता के संरक्षण की वकालत करते हुए टैगोर ने तर्क दिया कि भाषा साँस्कृतिक पहचान और रचनात्मक अभिव्यक्ति के साथ गहराई से जुड़ी हुई है (टैगोर, 1917)। उन्होंने एक राष्ट्रीय भाषा लागू करने का विरोध किया, क्योंकि उन्हें डर था कि इससे क्षेत्रीय भाषाओं और साँस्कृतिक पहचानों का क्षरण हो जाएगा।

एक प्रमुख समाजवादी विचारक और राजनीतिज्ञ राम मनोहर लोहिया ने भाषाई समानता और भाषा नीतियों के सामाजिक-राजनीतिक निहितार्थों पर ध्यान केंद्रित करके प्रवचन में एक अलग आयाम पेश किया। लोहिया ने औपनिवेशिक युग से विरासत में मिली अंग्रेजी के प्रभुत्व की आलोचना करते हुए तर्क दिया कि इसने सामाजिक असमानताओं को कायम रखा और ज्ञान के लोकतंत्रीकरण में बाधा उत्पन्न की (लोहिया, 1957)। उन्होंने तीन-भाषा फॉर्मूले की वकालत की, जिसमें हिंदी और अंग्रेजी को समायोजित करते हुए स्वदेशी भाषाओं को प्राथमिकता दी गई, जिसका उद्देश्य वैश्विक जुड़ाव के साथ राष्ट्रीय एकता को संतुलित करना था।

यह आलेख गांधी, टैगोर और लोहिया के भाषाई दर्शन का तुलनात्मक विश्लेषण प्रदान करता है। इस आलेख का उद्देश्य इस बात का पता लगाना भी है कि भाषा पर उनके विचार भारत के भविष्य के लिए उनके व्यापक दृष्टिकोण के साथ किस प्रकार से मेल खाते हैं। भाषा, शिक्षा और सामाजिक एकीकरण पर उनके विचारों का विश्लेषण करके, प्रस्तुत अध्ययन भारत में भाषा की राजनीति की जटिलताओं पर प्रकाश डालता है एवं भाषाई बहुलवादी समाज में एकता को बढ़ावा देने की चल रही चुनौतियों पर अंतर्दृष्टि प्रदान करता है।

भाषा के बारे में गांधी का दृष्टिकोण:

I. **अनेकता में एकता:** भाषा पर महात्मा गांधी का विचार एक एकीकृत किंतु साँस्कृतिक रूप से विविध राष्ट्र के रूप में भारत में उनके दृष्टिकोण से गहराई से जुड़ा हुआ था। हिंदी और उर्दू के मिश्रण हिंदुस्तानी पर उनका ध्यान अहिंसा और समावेशिता के दर्शन को मूर्त रूप देता है, जो धार्मिक और भाषाई सीमाओं के पार फैला हुआ है। गांधीजी के लिए भाषा केवल संचार का साधन नहीं बल्कि नैतिक और साँस्कृतिक एकीकरण का साधन थी। वह चाहते थे कि हिंदुस्तानी क्षेत्रीय और सांप्रदायिक विभाजन से परे, पूरे उपमहाद्वीप के लिए भाषा के रूप में काम करे।

II. **हिंदुस्तानी एक एकीकृत शक्ति के रूप में:** हिंदुस्तानी के लिए गांधीजी ने समर्थन तब किया जब राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी की माँग बढ़ रही थी, मुख्य रूप से हिंदी भाषी क्षेत्रों से। हालाँकि, गांधी ने संस्कृतनिष्ठ हिंदी की विशिष्टता को अस्वीकार कर दिया, उनका मानना था कि इस तरह के कदम से भारतीयों का एक बड़ा वर्ग, विशेषकर मुस्लिम अलग-थलग पड़ जाएगा। हिंदुस्तानी के लिए उनकी प्राथमिकता, जो उत्तर भारत में व्यापक रूप से बोली जाने वाली अधिक बोलचाल की भाषा है, भाषाई आधिपत्य से बचने की उनकी इच्छा का प्रतीक है। गांधी के अनुसार, हिंदुस्तानी "लोगों की भाषा" थी और विभिन्न समुदायों के बीच एक पुल के रूप में काम कर सकती थी (गांधी, 1927)।

हिंदुस्तानी का समर्थन करके, गांधी एक राष्ट्रीय पहचान बनाने का प्रयास कर रहे थे जो संकीर्ण भाषाई या धार्मिक विभाजनों द्वारा नहीं बल्कि संचार की साझा संस्कृति द्वारा

परिभाषित की गई थी। उनका मानना था कि अंग्रेजी अपनाने या अत्यधिक संस्कृत निष्ठ हिंदी को विशेषाधिकार देने से अभिजात वर्ग का प्रभुत्व मजबूत होगा और सामाजिक असमानताएँ कायम रहेंगी।

III. भाषा और वि-उपनिवेशीकरण: गांधी के लिए राष्ट्रीय भाषा को अपनाना भी व्यापक उपनिवेशीकरण प्रक्रिया का हिस्सा था। उनका मानना था कि शिक्षा और शासन के माध्यम के रूप में अंग्रेजी पर भारत की निर्भरता बौद्धिक उपनिवेशीकरण का एक रूप था। अपनी पुस्तक हिंदस्वराज (1937) में उन्होंने तर्क दिया कि अंग्रेजी के उपयोग ने शिक्षित अभिजात वर्ग को जनता से दूर कर दिया है, जिससे सच्चा लोकतंत्र कमजोर हो गया है (गांधी, 1909)। गांधीजी के विचार में अंग्रेजी, भारत के आध्यात्मिक और साँस्कृतिक पुनरुत्थान में एक बाधा थी। उन्होंने तर्क दिया कि जो राष्ट्र अपनी भाषाओं में संवाद नहीं करता वह वास्तव में स्वतंत्र नहीं हो सकता।

इस प्रकार हिंदुस्तानी के लिए उनका आह्वान केवल एक व्यावहारिक विकल्प नहीं था बल्कि एक प्रतीकात्मक संकेत भी था जिसका उद्देश्य उपनिवेशवाद को उसके सभी रूपों राजनीतिक, आर्थिक और भाषाई में खारिज करना था। उन्होंने भाषा को स्वराज (स्व-शासन) के एक महत्वपूर्ण घटक के रूप में देखा एवं भारत के सभ्यतागत लोकाचार को पुनः प्राप्त करने के लिए स्वदेशी भाषाओं की वापसी की पुरजोर वकालत की।

IV. व्यावहारिकता (प्रग्मातिज़्म) और बहुभाषावाद: हालाँकि, गांधी एक यथार्थवादी भी थे। उन्होंने भारत की बहुभाषी प्रकृति को पहचाना और कभी भी गैर-हिंदी भाषियों पर हिंदुस्तानी थोपने की वकालत नहीं की। इसके बजाए, उन्होंने एक संघीय भाषाई संरचना का समर्थन किया जहाँ प्रत्येक क्षेत्र हिंदुस्तानी को संपर्क भाषा के रूप में अपनाते हुए अपनी भाषा का उपयोग कर सकता था। इस व्यावहारिक दृष्टिकोण से भारत की भाषाई विविधता के प्रति गांधी की संवेदनशीलता का पता चला। उनका विश्वास था जिसे "अनेकता में एकता" कहा जा सकता है- एक ऐसी धारणा जो राष्ट्रीय एकता के लिए प्रयास करते हुए भाषाई बहुलवाद को स्वीकार करती है।

V. शिक्षा एवं मातृभाषा: गांधीजी ने प्राथमिक शिक्षा में मातृभाषाओं के महत्व पर बल दिया। उन्होंने तर्क दिया कि बेहतर समझ और संज्ञानात्मक विकास की सुविधा के लिए शिक्षा विद्यार्थी की मूल भाषा में शुरू होनी चाहिए (गांधी, 1937)। गांधी के अनुसार, यह दृष्टिकोण शिक्षा को ग्रामीण और वंचित क्षेत्रों में अधिक सुलभ और प्रभावी बना देगा। राष्ट्रभाषा की वकालत करते हुए गांधीजी ने प्राथमिक शिक्षा में मातृभाषाओं के महत्व पर भी जोर दिया। उनका मानना था कि समझ और संज्ञानात्मक विकास को बढ़ाने के लिए शिक्षा

विद्यार्थी की मूलभाषा में शुरू होनी चाहिए (गांधी, 1937)। यह विचार उनके व्यापक शैक्षिक दर्शन का हिस्सा था, जिसमें सादगी, व्यावहारिकता और पहुँच पर जोर दिया गया था। शिक्षा के लिए महात्मा गांधी का दृष्टिकोण इस विश्वास पर आधारित था कि किसी की मातृभाषा में सीखने से शिक्षा अधिक प्रभावी और समावेशी हो जाएगी, खासकर ग्रामीण और हाशिए पर रहने वाले समुदायों में।

मातृभाषाओं पर गांधी का जोर स्थानीय संस्कृतियों और परंपराओं के संरक्षण के प्रति उनकी प्रतिबद्धता को भी दर्शाता है। उन्होंने माना कि भाषा साँस्कृतिक विरासत का एक प्रमुख वाहक है और मातृभाषा में शिक्षा भारत के भीतर विविध साँस्कृतिक पहचान को बनाए रखने और पोषित करने में मदद करेगी (गांधी, 1937)। इस प्रकार, उनकी भाषाई नीति क्षेत्रीय विविधता के संरक्षण के साथ राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता को संतुलित करने के लिए डिजाइन की गई थी।

VI. भाषा एवं सामाजिक समरसता: गांधीजी के लिए भाषा केवल संचार का माध्यम नहीं थी बल्कि सामाजिक सद्भाव को बढ़ावा देने का एक उपकरण भी थी। उनका मानना था कि एक आम भाषा को बढ़ावा देने से सामाजिकस्तरीकरण को कम करने और समतावाद को बढ़ावा देने में मदद मिलेगी (गांधी, 1940)। हिंदुस्तानी की वकालत करके, गांधी का लक्ष्य भारत की विविध आवादी के बीच साझा पहचान की भावना पैदा करना था। गांधीजी भाषा को संचार के साधन से कहीं अधिक मानते थे; उन्होंने इसे सामाजिक सद्भाव को बढ़ावा देने और भाषाई मतभेदों के आधार पर विभाजन को कम करने के एक उपकरण के रूप में देखा। हिंदुस्तानी को बढ़ावा देकर, गांधी का लक्ष्य एक साझा मंच बनाना था जो भारत के विविध भाषाई समुदायों के बीच संवाद और आपसी समझ को सुविधाजनक बना सके (गांधी, 1927)। उनका मानना था कि इससे औपनिवेशिक शासन के खिलाफ संयुक्त मोर्चा बनाने में मदद मिलेगी और स्वतंत्रता के बाद एक सामंजस्यपूर्ण समाज की नींव रखी जाएगी।

इसके अलावा, गांधी की भाषाई दृष्टि उनके अहिंसा और सामाजिक न्याय के सिद्धांतों से जुड़ी हुई थी। उनका मानना था कि भाषा सामाजिक असमानताओं को दूर करने और शिक्षा और अवसरों तक समान पहुँच को बढ़ावा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है (गांधी, 1940)। एक सामान्य भाषा की वकालत करके, गांधी ने भाषाई पदानुक्रम को खत्म करने और जनता को सशक्त बनाने की कोशिश की, जिससे सामाजिक और राजनीतिक मुक्ति के लिए व्यापक संघर्ष में योगदान दिया जा सके।

2. टैगोर का दृष्टिकोण: भाषा, संस्कृति और सार्वभौमिकता

भारत के सबसे प्रसिद्ध कवियों और दार्शनिकों में से एक, रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भाषा के संदर्भ में भिन्न अभिमत प्रस्तुत किया। जबकि गांधी ने भाषा को मुख्य रूप से राष्ट्रवाद और उपनिवेशवाद से

मुक्ति के चश्में से देखा, टैगोर ने भाषा को संस्कृति, रचनात्मकता और आध्यात्मिकता की गहरी धाराओं को व्यक्त करने के साधन के रूप में देखा। उनका दृष्टिकोण उनके विश्वव्यापी विश्व दृष्टिकोण में निहित था, जिसने राष्ट्रवाद की संकीर्ण परिभाषाओं का विरोध किया और इसके बजाए सार्वभौमिक मानवीय भावना के विस्तार पर बल दिया।

I. **साँस्कृतिक पहचान की अभिव्यक्ति के रूप में भाषा:** टैगोर के लिए, भाषा संस्कृति और पहचान अटूट रूप से जुड़ी हुई थी। उन्होंने बंगाली को बंगाल के साँस्कृतिक और आध्यात्मिक जीवन के भंडार के रूप में देखा, और बंगाली भाषा के साहित्य में उनके कार्यों ने उनकी मातृभाषा के साथ उनके गहरे संबंध को दर्शाया। गांधी के विपरीत, इन्होंने एक समान राष्ट्रीय भाषा की वकालत की, टैगोर ने भारतीय सभ्यता की समृद्धि के लिए आवश्यक भाषाई विविधता के विचार का समर्थन किया। उनका मानना था कि प्रत्येक भाषा अपनी अनूठी प्रतिभा रखती है और भारत की साँस्कृतिक विरासत की रूपरेखा में योगदान देती है।

भाषाई अंधराष्ट्रवाद की अपनी आलोचना में, टैगोर ने तर्क दिया कि भारत जैसे बहुभाषी समाज पर एक ही भाषा थोपने से देश की विशेषता वाली समृद्ध विविधता खत्म हो जाएगी। उन्हें डर था कि हिंदी को राष्ट्रीय भाषा के रूप में लागू करने से गैर-हिंदी भाषी हाशिये पर चले जायेंगे और उनकी साँस्कृतिक अभिव्यक्ति बाधित हो जायेगी। टैगोर के लिए, भारत की एकता भाषाई एकरूपता में नहीं बल्कि विभिन्न भाषाओं और संस्कृतियों के सामंजस्यपूर्ण सह-अस्तित्व में निहित है (टैगोर, 1917)।

II. **भाषा और रचनात्मकता:** भाषा के बारे में टैगोर का दृष्टिकोण राष्ट्रीय पहचान में इसकी भूमिका से कहीं आगे तक फैला हुआ था; उन्होंने इसे रचनात्मकता और बौद्धिक स्वतंत्रता के माध्यम के रूप में भी देखा। अपने कई निबंधों और व्याख्यानों में, टैगोर ने औपनिवेशिक शिक्षा प्रणाली में अंग्रेजी पर जोर देने पर अफसोस जताया, जिसके बारे में उनका मानना था कि यह रचनात्मक अभिव्यक्ति को दबा देता है। उन्होंने तर्क दिया कि बच्चों को उनकी मातृभाषा में शिक्षा दी जानी चाहिए, क्योंकि इससे उन्हें अपनी साँस्कृतिक जड़ों से गहरा संबंध विकसित करने और उनके बौद्धिक और भावनात्मक विकास को बढ़ावा मिलेगा।

जबकि टैगोर ने अंग्रेजी की व्यावहारिक उपयोगिता को पहचाना, विशेष रूप से वैश्विक दुनिया में, वह भारत की शिक्षा प्रणाली में भाषा पर अत्यधिक निर्भरता के आलोचक थे। उनका मानना था कि सच्ची शिक्षा को अपनी भाषा और संस्कृति के प्रति प्रेम पैदा करना चाहिए, साथ ही वैश्विक ज्ञान के लिए व्यापक सराहना को भी बढ़ावा देना चाहिए। टैगोर का आदर्श स्थानीय और सार्वभौमिक का संश्लेषण था- एक ऐसा दृष्टिकोण जो विचारों के

विश्वव्यापी आदान-प्रदान के साथ भाषाई विविधता को संतुलित करने की माँग करता था (टैगोर, 1929)।

III. सार्वभौमिकता बनाम राष्ट्रवादः भाषा पर टैगोर के रुख को राष्ट्रवाद की उनकी व्यापक आलोचना ने आकार दिया था। वह उस तरह के आक्रामक राष्ट्रवाद के कट्टर आलोचक थे जो संस्कृतियों और भाषाओं को एक रूप बनाने की कोशिश करता था। अपने निबंध "राष्ट्रवाद" में टैगोर ने भाषाई अंधराष्ट्रवाद के खतरों के प्रति आगाह किया, जिसे उन्होंने राष्ट्रवाद की व्यापक बीमारी के लक्षण के रूप में देखा (टैगोर, 1917)। भारत के लिए उनका दृष्टिकोण साँस्कृतिक बहुलवाद और बौद्धिक खुलेपन में से एक था, जहाँ विभिन्न भाषाएँ और संस्कृतियाँ एक अखंड राष्ट्रीय पहचान के अधीन हुए बिना फल-फूल सकती थीं।

गांधी के विपरीत, जो भाषा को राष्ट्रीय एकता के लिए एक उपकरण के रूप में देखते थे, टैगोर ने भारत के आध्यात्मिक और रचनात्मक जीवन के पोषण के तरीके के रूप में भाषाई और साँस्कृतिक विविधता को संरक्षित करने की आवश्यकता पर जोर दिया। उनका मानना था कि भारत की ताकत अपनी विशिष्ट साँस्कृतिक पहचान को बरकरार रखते हुए विविध प्रभावों को आत्मसात करने की क्षमता में निहित है।

IV. मातृभाषा का महत्वः टैगोर ने साँस्कृतिक पहचान और बौद्धिक विकास के आवश्यक तत्वों के रूप में मातृभाषाओं के संरक्षण और प्रचार की वकालत की। उन्होंने तर्क दिया कि किसी की मूल भाषा में शिक्षा रचनात्मकता, आलोचनात्मक सोच और किसी की साँस्कृतिक विरासत के साथ गहरा संबंध विकसित करती है (टैगोर, 1917)। टैगोर का मानना था कि भाषा के माध्यम से व्यक्ति अपने अद्वितीय साँस्कृतिक आख्यानों और कलात्मक अभिव्यक्तियों को व्यक्त करते हैं।

विश्वभारती विश्वविद्यालय की स्थापना में सन्निहित अपने शैक्षिक दर्शन में, टैगोर ने भाषाई और साँस्कृतिक विविधता के महत्व पर जोर दिया। उन्होंने एक ऐसी शैक्षिक प्रणाली का प्रस्ताव रखा जो वैश्विक परिप्रेक्ष्य को अपनाने के साथ-साथ स्थानीय संदर्भ में भी निहित थी, जिससे परंपरा और आधुनिकता के सामंजस्यपूर्ण मिश्रण को बढ़ावा मिला (टैगोर, 1929)। भाषा शिक्षा के प्रति टैगोर के दृष्टिकोण का उद्देश्य ऐसे व्यक्तियों को तैयार करना था जो अपने स्थानीय समुदायों और वैश्विक समाज दोनों में योगदान दे सकें।

V. भाषाई विविधता और साँस्कृतिक पहचानः टैगोर भाषाई विविधता के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने तर्क दिया कि एक ही राष्ट्रीय भाषा थोपने से क्षेत्रीय भाषाओं का दमन हो सकता है और परिणामस्वरूप, साँस्कृतिक पहचान का क्षरण हो सकता है (टैगोर, 1929)। टैगोर के लिए भाषाई बहुलता विभाजन का स्रोत नहीं थी बल्कि एक ताकत थी जिसने राष्ट्रीय

संस्कृति को समृद्ध किया। टैगोर की साहित्यिक कृतियाँ अक्सर भारत में भाषाओं और संस्कृतियों की विविधता का जश्न मनाती थीं। उनका मानना था कि प्रत्येक भाषा का अपना अनूठा विश्व दृष्टिकोण और कलात्मक संवेदनाएँ होती हैं, जो राष्ट्र की समग्र साँस्कृतिक और बौद्धिक शक्ति में योगदान करती हैं (टैगोर, 1930)। भाषाई विविधता को बढ़ावा देकर, टैगोर ने भारतीय सभ्यता की बहुमुखी प्रकृति को संरक्षित करने और विभिन्न भाषाई समुदायों के बीच पारस्परिक सम्मान को बढ़ावा देने का प्रयास किया।

VI. **भाषाई समरूपीकरण की आलोचना (Critique of Linguistic Homogenization):** टैगोर भारत को भाषाई रूप से एकरूप बनाने के प्रयासों के आलोचक थे, उन्हें डर था कि इससे साँस्कृतिक एकरूपता होगी और क्षेत्रीय पहचान खत्म हो जाएगी। उन्होंने एक ही भाषा थोपने के खतरों के प्रति आगाह करते हुए तर्क दिया कि यह रचनात्मकता को दबा सकती है और साँस्कृतिक अभिव्यक्तियों की समृद्धि को कम कर सकती है (टैगोर, 1930)। टैगोर ने बहुभाषावाद के एक ऐसे मॉडल की वकालत की जो अंतर–साँस्कृतिक संवाद और समझ को बढ़ावा देते हुए सभी समुदायों के भाषाई अधिकारों का सम्मान और संरक्षण करता हो। उनकी आलोचना इस विश्वास पर आधारित थी कि भाषा मानव रचनात्मकता और बौद्धिक स्वतंत्रता का एक महत्वपूर्ण घटक है। टैगोर ने कहा कि साहित्य, कला और विज्ञान के उत्कर्ष के लिए एक विविध भाषाई परिदृश्य आवश्यक था, क्योंकि यह विचारों और दृष्टिकोणों की बहुलता की अनुमति देता था (टैगोर, 1917)। इस प्रकार भारत के भाषाई भविष्य के लिए उनका दृष्टिकोण विविधता का जश्न मनाने और देश की साँस्कृतिक विरासत को कमजोर करने की धमकी देने वाली एकरूपता की ताकतों का विरोध करने वाला था।

3. राम मनोहर लोहियाः भाषाई समानता और अंग्रेजी आधिपत्य के विरुद्ध लड़ाई

समाजवादी नेता और राजनीतिक सिद्धांतकार राम मनोहर लोहिया ने भाषा के प्रश्न को बिल्कुल अलग ढंग से देखा। जबकि गांधी और टैगोर दोनों मुख्य रूप से साँस्कृतिक पहचान और राष्ट्रीय एकता के सवालों से चिंतित थे। लोहिया का ध्यान भाषाई समानता और अंग्रेजी प्रभुत्व की औपनिवेशिक विरासत को खत्म करने की आवश्यकता पर था। लोहिया के भाषाई विचार उनके व्यापक समाजवादी एजेंडे का हिस्सा थे, जिसका उद्देश्य अभिजात वर्ग के विशेषाधिकारों को चुनौती देकर भारतीय समाज का लोकतंत्रीकरण करना था।

I. **अंग्रेजी विरोधी अभियानः** भाषा संबंधी बहस में लोहिया का सबसे महत्वपूर्ण योगदान भारतीय सार्वजनिक जीवन में अंग्रेजी के उपयोग के खिलाफ उनका अथक अभियान था। लोहिया के लिए अंग्रेजी का प्रभुत्व न केवल औपनिवेशिक खुमारी बल्कि वर्ग उत्पीड़न का

एक साधन था। उन्होंने तर्क दिया कि शिक्षा, प्रशासन और कानून में अंग्रेजी के निरंतर उपयोग ने अंग्रेजी-शिक्षित अभिजात वर्ग का एक विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग तैयार किया है, जो जनता से अलग हो गए थे और समाज में असंगत शक्ति का इस्तेमाल करते थे (लोहिया, 1951)।

लोहिया ने सार्वजनिक जीवन के सभी क्षेत्रों में अंग्रेजी के स्थान पर भारतीय भाषाओं को पूर्ण रूप से लागू करने का आह्वान किया। उनका मानना था कि भारत में सच्चे लोकतंत्र को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक था। जब तक अंग्रेजी सत्ता की भाषा बनी रहेगी, आम भारतीय, जो इसमें पारंगत नहीं थे, मताधिकार से वंचित रहेंगे। इस प्रकार लोहिया की अंग्रेजी की आलोचना उनकी समाजवादी राजनीति में गहराई से निहित थी जो हाशिये पर पड़े लोगों को सशक्त बनाने और अभिजात वर्ग के प्रभुत्व को चुनौती देने की कोशिश करती थी।

II. **स्वदेशी भाषाओं को बढ़ावा देना:** गांधी की हिंदुस्तानी की वकालत और टैगोर के भाषाई विविधता के विपरीत लोहिया मुख्य रूप से भाषाई समानता प्राप्त करने के साधन के रूप में स्वदेशी भाषाओं को बढ़ावा देने के बारे में चिंतित थे। उन्होंने तर्क दिया कि प्रत्येक भारतीय को अपनी मातृभाषा में शिक्षित होने और सार्वजनिक जीवन में भाग लेने का अधिकार होना चाहिए। उनका मानना था कि यह न केवल साँस्कृतिक गौरव का बल्कि सामाजिक न्याय का भी मामला है।

जिस तरह से उत्तर-औपनिवेशिक भारत में अंग्रेजी सामाजिक स्थिति का सूचक बन गई थी, लोहिया उसकी विशेष रूप से आलोचना करते थे। उन्होंने इसे राष्ट्रवादी आंदोलन के साथ विश्वासघात के रूप में देखा, जिसने सत्ता की औपनिवेशिक संरचनाओं को नष्ट करने का वादा किया था। लोहिया कहते हैं कि प्रमुख भाषा के रूप में अंग्रेजी का कायम रहना ऐसा संकेत था जो कि भारत की राजनीतिक स्वतंत्रता वास्तविक साँस्कृतिक और बौद्धिक स्वायत्तता से मेल नहीं खाती थी (लोहिया, 1962)।

III. **विकेंद्रीकरण और भाषाई संघवाद:** लोहिया ने एक विकेंद्रीकृत भाषाई नीति का भी प्रस्ताव रखा जो प्रत्येक क्षेत्र को प्रशासन और शिक्षा में अपनी भाषा का उपयोग करने की अनुमति देगी। गांधी की तरह लोहिया ने भारत की बहुभाषी प्रकृति को पहचाना, लेकिन भाषाई संघवाद की अपनी माँग में वे अधिक कट्टरपंथी थे। उन्होंने तर्क दिया कि भारत को एक ऐसा मॉडल अपनाना चाहिए जहाँ प्रत्येक क्षेत्र को अपनी भाषाई नीतियों पर पूर्ण स्वायत्तता होगी, जबकि हिंदी जैसी तटस्थ भाषा अंतर-क्षेत्रीय संचार के लिए संपर्क भाषा के रूप में काम कर सकती है। हालाँकि, लोहिया स्पष्ट थे कि हिंदी को गैर-हिंदी भाषियों पर नहीं

थोपा जाना चाहिए। उनका मानना था कि भाषा थोपने से केवल नाराजगी और विभाजन होगा। इसके बजाए उन्होंने एक लचीली संघीय प्रणाली की वकालत की जो देश की भाषाई विविधता का सम्मान करती हो और यह सुनिश्चित करती हो कि किसी भी भाषा को अनुचित विशेषाधिकार न मिले।

IV. **प्रशासन में मूल भाषाओं की वकालतः** लोहिया ने जनता को सशक्त बनाने और सामाजिक समानता को बढ़ावा देने के साधन के रूप में प्रशासन और शिक्षा में मूल भाषाओं के उपयोग की वकालत की। उन्होंने तर्क दिया कि सरकारी और शैक्षणिक संस्थानों में अंग्रेजी के प्रभुत्व ने आबादी के बड़े हिस्से को अलग–थलग कर दिया, खासकर गैर–अंग्रेजी भाषी पृष्ठभूमि के लोगों को (लोहिया, 1957)। स्वदेशी भाषाओं के उपयोग की वकालत करके, लोहिया ने शासन और शिक्षा को अधिक सुलभ और समावेशी बनाने की कोशिश की। लोहिया का मानना था कि लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं में प्रभावी भागीदारी के लिए भाषाई पहुंच महत्वपूर्ण है। उन्होंने तर्क दिया कि जब लोग अपनी मूलभाषाओं में प्रशासन और शिक्षा से जुड़ सकते हैं, तो इससे सार्वजनिक मामलों पर उनकी समझ, भागीदारी और स्वामित्व की भावना बढ़ेगी (लोहिया, 1964)। यह विचार समाजवादी समाज उनके व्यापक विचार के अनुरूप था जहाँ ज्ञान और अवसर लोकतांत्रिक थे और सभी के लिए सुलभ थे।

V. **अंग्रेजी प्रभुत्व की आलोचनाः** लोहिया उत्तर–औपनिवेशिक भारत में अंग्रेजी के निरंतर प्रभुत्व के आलोचक थे, वे इसे उपनिवेशवाद के अवशेष के रूप में देखते थे जिसने सामाजिक असमानताओं को कायम रखा और वास्तव में लोकतांत्रिक और समावेशी समाज के विकास में बाधा उत्पन्न की (लोहिया, 1964)। उन्होंने तर्क दिया कि स्वदेशी भाषाओं पर अंग्रेजी के विशेषाधिकार ने बहुसंख्यक आबादी के लिए शिक्षा और सामाजिक–आर्थिक गतिशीलता में बाधाएँ पैदा कीं। लोहिया के अनुसार आधिकारिक डोमेन में अंग्रेजी की दृढ़ता ने मौजूदा सत्ता संरचनाओं को मजबूत किया और गैर–अंग्रेजी भाषी समुदायों को हाशिए पर धकेल दिया (लोहिया, 1957)। उनका मानना था कि वास्तविक राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा देने और यह सुनिश्चित करने के लिए कि सभी नागरिक देश के सामाजिक–राजनीतिक जीवन में पूरी तरह से भाग ले सकें, अंग्रेजी के आधिपत्य को तोड़ना आवश्यक था। लोहिया की आलोचना भाषा से परे साँस्कृतिक साम्राज्यवाद और सामाजिक न्याय के व्यापक मुद्दों तक फैली हुई थी।

VI. **त्रिभाषा सूत्रः** भाषाई विविधता की चुनौतियों का समाधान करने और राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा देने के लिए, लोहिया ने तीन–भाषा सूत्र का प्रस्ताव रखा। इस मॉडल में मातृभाषा, राष्ट्रीय भाषा (हिंदी), और अंग्रेजी को अंतरराष्ट्रीय भाषा (लोहिया, 1964) के रूप में

शामिल किया गया था। त्रि-भाषा फॉर्मूला वैश्विक दुनिया में अंग्रेजी दक्षता के व्यावहारिक लाभों के साथ क्षेत्रीय भाषाओं के संरक्षण को संतुलित करने के लिए डिजाइन किया गया था। लोहिया के प्रस्तावित फॉर्मूले का उद्देश्य यह सुनिश्चित करके भाषाई समानता हासिल करना था कि प्रत्येक नागरिक को अपनी मूल भाषा में शिक्षा प्राप्त करने के साथ-साथ राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय भाषाओं में दक्षता हासिल हो। इस दृष्टिकोण का उद्देश्य विविध और परस्पर जुड़े समाज की जरूरतों को संबोधित करते हुए राष्ट्रीय एकता और वैश्विक प्रतिस्पर्धात्मकता दोनों को बढ़ावा देना था। तीन-भाषा फार्मूले की वकालत करके, लोहिया ने एक अधिक न्यायसंगत और समावेशी भाषा नीति बनाने की माँग की, जो वैश्विक संदर्भ में बहुभाषावाद के व्यावहारिक लाभों को पहचानने के साथ-साथ भाषाई विविधता का भी सम्मान करती हो। उनका प्रस्ताव सामाजिक न्याय के प्रति उनकी प्रतिबद्धता और सशक्तिकरण और राष्ट्रीय विकास के लिए एक महत्वपूर्ण उपकरण के रूप में भाषा की उनकी समझ को दर्शाता है।

तुलनात्मक विश्लेषण: सहमति और विचलन के बिंदु

भाषा पर गांधी, टैगोर और लोहिया के विचारों के तुलनात्मक अध्ययन से सहमति और मूलभूत अंतर दोनों के महत्वपूर्ण क्षेत्रों का पता चलता है। तीनों विचारक भारत की राष्ट्रीय पहचान स्थापित करने में भाषा की भूमिका हेतु चिंतित थे, लेकिन उनके दृष्टिकोण को उनकी व्यापक दार्शनिक और राजनीतिक प्रतिबद्धताओं ने तय किया। तीनों विचारकों गांधी, टैगोर और लोहिया- ने शिक्षा और साँस्कृतिक संरक्षण में मातृभाषा के महत्व को पहचाना। हालाँकि, राष्ट्रीय भाषा नीति के प्रति उनके दृष्टिकोण में काफी भिन्नता थी। गांधी ने एक एकीकृत भाषा के रूप में हिंदुस्तानी का समर्थन किया, टैगोर ने एकरूपता के बिना भाषाई विविधता की वकालत की और लोहिया ने राष्ट्रीय एकता और वैश्विक जुड़ाव को संतुलित करने के लिए एक व्यावहारिक तीन-भाषा सूत्र का प्रस्ताव दिया।

भाषाई एकता बनाम विविधता

गांधी और लोहिया राष्ट्रीय एकता के निर्माण में भाषा की भूमिका को लेकर एक समान चिंता रखते थे, लेकिन उनके दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से भिन्न थे। हिंदुस्तानी के लिए गांधी का आह्वान एक आम भाषा बनाने की उनकी इच्छा से प्रेरित था जो विभिन्न समुदायों के बीच एक पुल के रूप में काम कर सके, जबकि लोहिया मुख्य रूप से अंग्रेजी के प्रभुत्व द्वारा बनाई गई भाषाई असमानताओं को खत्म करने से चिंतित थे।

इसके विपरीत, टैगोर ने भाषाई एकता के विचार को पूरी तरह से खारिज कर दिया। उन्होंने यह तर्क दिया कि भारत की ताकत इसकी भाषाई विविधता में निहित है। टैगोर के लिए, भारत के बहुभाषी समाज पर एक भाषा थोपने का कोई भी प्रयास केवल साँस्कृतिक दरिद्रता को जन्म देगा।

भाषाई विविधता के संरक्षण पर उनका जोर उनकी व्यापक विश्वव्यापी दृष्टि को प्रतिबिंबित करता है, जो अपने सभी रूपों में मानव संस्कृति की समृद्धि का जश्न मनाता है।

अंग्रेजी की भूमिका

तीनों विचारक उत्तर-औपनिवेशिक भारत में अंग्रेजी के निरंतर प्रभुत्व के आलोचक थे, लेकिन उनकी आलोचना अलग-अलग संदर्भों में की गई थी। गांधीजी के लिए अंग्रेजी का उपयोग बौद्धिक उपनिवेशीकरण का एक रूप था जिसने अभिजात वर्ग को जनता से दूर कर दिया। उनका मानना था कि हिंदुस्तानी को अपनाने से भारत को अपनी साँस्कृतिक विरासत को पुनः प्राप्त करने और अधिक समावेशी राष्ट्रीय पहचान बनाने में मदद मिलेगी।

अंग्रेजी की लोहिया की आलोचना अधिक उग्र थी और उनकी समाजवादी राजनीति में निहित थी। उन्होंने अंग्रेजी को केवल औपनिवेशिक अवशेष के रूप में नहीं बल्कि वर्ग उत्पीड़न के एक उपकरण के रूप में देखा। सार्वजनिक जीवन में अंग्रेजी के पूर्ण उन्मूलन की उनकी माँग भारतीय समाज को लोकतांत्रिक बनाने और हाशिये पर पड़े लोगों को सशक्त बनाने के उनके व्यापक प्रयास का हिस्सा थी।

टैगोर, औपनिवेशिक शिक्षा प्रणाली द्वारा अंग्रेजी पर अत्यधिक जोर देने के आलोचक थे, लेकिन अंग्रेजी के राजनीतिक निहितार्थों से कम चिंतित थे और रचनात्मकता और साँस्कृतिक अभिव्यक्ति पर इसके प्रभाव पर अधिक ध्यान केंद्रित करते थे। उनका मानना था कि बौद्धिक और भावनात्मक विकास के लिए अपनी मातृभाषा में शिक्षा आवश्यक है, लेकिन उन्होंने वैश्विक दुनिया में अंग्रेजी की व्यावहारिक उपयोगिता को भी पहचाना।

भाषा और वि-उपनिवेशीकरण:

गांधी और लोहिया दोनों के लिए भाषा का प्रश्न उपनिवेशवाद मुक्ति की परियोजना से निकटता से जुड़ा हुआ था। गांधीजी का हिंदुस्तानी का आह्वान उनके स्वराज के व्यापक दृष्टिकोण का हिस्सा था जिसमें न केवल राजनीतिक बल्कि साँस्कृतिक और बौद्धिक वर्चस्व को भी अस्वीकार करने की माँग की गई थी। लोहिया भी भाषाई समानता को भारत के उपनिवेशवाद से मुक्ति के लिए आवश्यक मानते थे, लेकिन उनका ध्यान अंग्रेजी के प्रभुत्व द्वारा निर्मित आंतरिक पदानुक्रम को समाप्त करने पर था।

दूसरी तरफ टैगोर का दृष्टिकोण उपनिवेशवाद मुक्ति की राष्ट्रवादी परियोजना से कम स्पष्ट रूप से जुड़ा था। भाषाई विविधता और रचनात्मकता पर उनका जोर उनके विश्वव्यापी विश्व दृष्टिकोण द्वारा निर्मित था, जिसने राष्ट्रवाद की संकीर्ण सीमाओं का विरोध किया था। टैगोर के लिए उपनिवेशवाद से मुक्ति केवल औपनिवेशिक संरचनाओं को अस्वीकार करने के बारे में नहीं थी, बल्कि एक व्यापक मानवतावादी दृष्टि को विकसित करने के बारे में थी जो राष्ट्रीय सीमाओं से परे थी।

तुलनात्मक विश्लेषण:

गांधी, टैगोर और लोहिया के भाषाई दर्शन राष्ट्र-निर्माण और सामाजिक एकीकरण में भाषा की भूमिका पर विशिष्ट लेकिन पूरक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। जबकि तीनों विचारकों ने राष्ट्रीय पहचान और साँस्कृतिक विरासत को आकार देने में भाषा के महत्व को पहचाना, उनके दृष्टिकोण महत्वपूर्ण तरीकों से भिन्न थे।

समानताएँ

1. मातृभाषा का मूल्य: तीनों विचारकों ने शिक्षा और साँस्कृतिक संरक्षण में मातृभाषा के महत्व पर जोर दिया। गांधी और लोहिया ने शिक्षा को सुलभ बनाने और सामाजिक समानता को बढ़ावा देने में देशी भाषाओं की भूमिका पर प्रकाश डाला, जबकि टैगोर ने मातृभाषाओं और रचनात्मक अभिव्यक्ति के बीच संबंध को रेखांकित किया (गांधी, 1937; टैगोर, 1917; लोहिया, 1957)।

2. भाषाई वर्चस्व का विरोध: गांधी और लोहिया ने राष्ट्रीय एकता और सामाजिक न्याय को बढ़ावा देने के साधन के रूप में एक भाषा (क्रमशः हिंदुस्तानी और अंग्रेजी) के प्रभुत्व का विरोध किया। यद्यपि टैगोर एक सामान्य भाषा की वकालत कर रहे थे, लेकिन भाषाई विविधता के संरक्षण के लिए भी उतने ही प्रतिबद्ध थे (गांधी, 1927; लोहिया, 1964; टैगोर, 1929)।

भिन्नता

I. **राष्ट्रीय भाषा नीति:** गांधी ने एक एकीकृत राष्ट्रीय भाषा के रूप में हिंदुस्तानी की वकालत की, जबकि टैगोर ने भाषाई बहुलवाद का पक्ष लेते हुए एक भाषा थोपने का विरोध किया। लोहिया ने एक त्रि-भाषा फॉर्मूला पेश किया जिसने मातृभाषा, हिंदी और अंग्रेजी के उपयोग को संतुलित किया (गांधी, 1927; टैगोर, 1929; लोहिया, 1964)।

II. **अंग्रेजी की भूमिका:** लोहिया अंग्रेजी के निरंतर प्रभुत्व के आलोचक थे, वे इसे एक औपनिवेशिक अवशेष के रूप में देखते थे जिसने असमानताओं को कायम रखा। इसके विपरीत, गांधी ने हिंदुस्तानी को जनता को एकजुट करने के एक पुल के रूप में देखा, जबकि टैगोर ने अंग्रेजी के वैश्विक महत्व को पहचाना लेकिन साँस्कृतिक और भाषाई विविधता को प्राथमिकता दी (लोहिया, 1964; गांधी, 1927; टैगोर, 1917)।

III. **शैक्षिक दर्शन:** गांधी और लोहिया ने शिक्षा और प्रशासन में भाषा के व्यावहारिक पहलुओं पर ध्यान केंद्रित किया, पहुँच और समानता की वकालत की। दूसरी ओर, टैगोर ने रचनात्मकता और साँस्कृतिक पहचान को बढ़ावा देने में भाषा की भूमिका पर जोर दिया, एक ऐसी शैक्षिक प्रणाली की वकालत की जो व्यक्तिगत क्षमता का पोषण करती हो (गांधी, 1937; लोहिया, 1957; टैगोर, 1917)।

IV. भाषा नीति पर प्रभावः गांधी, टैगोर और लोहिया के विचारों का भारत की भाषा नीति पर स्थायी प्रभाव पड़ा है। एकीकृत भाषा के बारे में गांधी की दृष्टि ने राष्ट्रीय भाषा पर शुरुआती चर्चाओं को प्रभावित किया, हालाँकि अंततः हिंदी को ही आधिकारिक भाषा के रूप में अपनाया गया। भाषाई विविधता के लिए टैगोर की वकालत भारत की 22 अनुसूचित भाषाओं की मान्यता और भारतीय संविधान (भारत का संविधान, 1950) की आठवीं अनुसूची के तहत क्षेत्रीय भाषाओं के संरक्षण में परिलक्षित हुई है।

लोहिया के त्रि-भाषा फार्मूले को भारत की शैक्षिक नीतियों में शामिल किया गया है, बहुभाषावाद को बढ़ावा दिया गया है और क्षेत्रीय भाषाओं के साथ-साथ हिंदी और अंग्रेजी दोनों के महत्व को मान्यता दी गई है। भाषाई समानता पर उनका जोर भाषा नीति पर समकालीन बहसों में गूंजता रहता है, जो भाषाई विविधता के लिए समावेशी और न्यायसंगत दृष्टिकोण की आवश्यकता पर प्रकाश डालता है (लोहिया, 1964)।

V. आधुनिक भारत के लिए निहितार्थः आज के भारत में गांधी, टैगोर और लोहिया के भाषाई दर्शन प्रासंगिक बने हुए हैं क्योंकि राष्ट्र भाषाई विविधता के बीच एकता बनाए रखने की चुनौतियों से जूझ रहा है। हिंदी की स्थिति, शिक्षा और प्रशासन में अंग्रेजी की भूमिका और क्षेत्रीय भाषाओं के संरक्षण पर चल रही बहस इन विचारकों के मूलभूत विचारों से सूचित होती है। राष्ट्रीय एकता के लिए एक आम भाषा पर गांधी का जोर भाषा एकीकरण पर चर्चा को प्रभावित करता है, जबकि साँस्कृतिक और भाषाई विविधता के लिए टैगोर की वकालत भारत की समृद्ध साँस्कृतिक विरासत को संरक्षित करने के महत्व को रेखांकित करती है। भाषाई समानता और ज्ञान के लोकतंत्रीकरण पर लोहिया का ध्यान समावेशी भाषा नीतियों की आवश्यकता पर प्रकाश डालता है जो सामाजिक असमानताओं को संबोधित करती हैं और शिक्षा और अवसरों तक समान पहुँच को बढ़ावा देती हैं।

निष्कर्षः महात्मा गांधी, रवीन्द्रनाथ टैगोर और राम मनोहर लोहिया के भाषाई दर्शन भारत में भाषा, राष्ट्रवाद और सामाजिक एकीकरण के बीच जटिल परस्पर क्रिया में मूल्यवान अंतर्दृष्टि प्रदान करते हैं। उनके विशिष्ट दृष्टिकोण भारत के भविष्य के लिए व्यापक दृष्टिकोण को दर्शाते हैं, भाषाई बहुलवाद की चुनौतियों का समाधान करते हैं और उन नीतियों की वकालत करते हैं जो एकता और विविधता दोनों को बढ़ावा देते हैं। भारत के समकालीन भाषाई परिदृश्य को समझने के लिए उनके दृष्टिकोण को समझना महत्वपूर्ण है, यह सुनिश्चित करने के लिए कि भाषा नीतियाँ देश की समृद्ध भाषाई विरासत का सम्मान और जश्न मनाते हुए राष्ट्रीय एकजुटता को बढ़ावा देती हैं।

संदर्भः

1. कंस्टीटूशन ऑफ इंडिया, 1950. द कंस्टीटूशन ऑफ इंडिया. रिट्रीव्ड फ्रॉमी https://www.india.gov.in/my-government/constitution-india
2. गांधी, एम. के. (1909), हिंद स्वराज और इंडियन होम रूल, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस,
3. गांधी, एम. के. (1927), एन ऑटोबायोग्राफी ऑर द स्टोरी ऑफ माई एक्सपेरिमेंट्स विथ टूथ. नवजीवन ट्रस्ट,
4. गांधी, एम. के. (1927), द कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी, वॉल्यूम 35, पब्लिकेशंस डिवीजन, गवर्नमेंट ऑफ इंडिया,
5. गांधी, एम. के. (1937), द सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी (वॉल्यूम 4), नवजीवन पब्लिशिंग हाउस,
6. गांधी, एम. के. (1940), कंस्ट्रक्टिव प्रोग्रामः इट्स मीनिंग एंड प्लेस, नवजीवन ट्रस्ट,
7. लोहिया, आर. एम. (1951), द कास्ट सिस्टम, साइंटिफिक सोशलिस्ट एजुकेशन ट्रस्ट,
8. लोहिया, आर. एम. (1957), लैंग्वेज इशू इन इंडिया, नवहिंद,
9. लोहिया, आर. एम. (1962), लैंग्वेज, फ्रीडम, एंड यूनिटी, मैनकाइंड पब्लिकेशंस,
10. लोहिया, आर. एम. (1964), इंडियन सोशलिज्म, नवहिंद,
11. टैगोर, आर. (1917), नेशनलिज्म, मैकमिलन
12. टैगोर, आर. (1929), द होम एंड द वर्ल्ड, मैकमिलन,
13. टैगोर, आर. (1929), द रिलिजन ऑफ मैन, मैकमिलन,
14. टैगोर, आर. (1930), लेटर्स टू फेलिसिटास, मैकमिलन,

❑❑

हिंदी एवं नेपाली कहानियों का तुलनात्मक अध्ययन

(2001–2020 तक के चयनित कहानियों में संवेदना के संदर्भ में)

—मोहन महतो

_सार_

आज पाश्चात्य सभ्यता, बाजारवाद, स्वार्थपरता एवं भोगवादिता की प्रवृत्ति भारत में प्रबल होती जा रही हैं। जिससे व्यक्तिवाद बढ़ा, संयुक्त परिवार टूटे, आदर भाव कम हुआ। मानव मूल्य, नैतिक मूल्य एवं जीवन मूल्य पर्याप्त गति से संक्रमित तथा परिवर्तित हुए हैं। तुलनात्मक अध्ययन द्‌वारा अनेक समानतापरख तथ्यों एवं सत्यों की स्थापना करके भारतीय संस्कृति की मूलभूत एकता की भावना को फिर चरितार्थ किया जा सकता है। स्पष्ट है कि विभिन्न प्रांतों एवं देशों के साहित्य में विविध रूपों में व्यक्त मानव चेतना की अखंडता, विराटता एवं जिजीविषा को तुलनात्मक अध्ययन द्‌वारा प्रस्तुत किया जा सकता है। तुलनात्मक साहित्य मात्र साम्य-वैषम्य प्रकट करने वाली तुलना भर नहीं है। यह तो साहित्य विशेष को पृष्ठभूमि प्रदान करने वाली, सामूहिक प्रवृत्तियों के संधान द्‌वारा मानवीय कार्यकलाप के अन्य क्षेत्रों के पारस्परिक संबंध से अवगत भी कराती है। वस्तुत: सर्वोत्कृष्ट साहित्य अर्थात्‌ गौरव ग्रंथों में देशकाल से परे तुलनात्मक अध्ययन द्‌वारा कुछ ऐसी विशेषताएँ व संबंध-सूत्र प्रकट होते हैं जिस पर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। इस गौरव ग्रंथों पर पड़ने वाले देशज प्रभाव, उपलब्धियों का पाठालोचन, उस कृति का उत्स, प्रभाव प्रक्रिया, व्यक्तिगत दृष्टिकोण आदि का अध्ययन वैज्ञानिक प्रक्रिया द्‌वारा किया जाता है।

साहित्य का समय अनुशीलन में तुलनात्मक दृष्टि महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करती है। भूमंडलीकरण के युग में तुलनात्मक अध्ययन का महत्व मानवतावाद एवं विश्व मानवतावाद की बंधुत्व भावना के साथ और भी बढ़ गया है। विश्व साहित्य की एकता का निरूपण और उसके द्‌वारा विश्व मानव की एकता का उद्‌घाटन करने के लिए तुलनात्मक अध्ययन महत्वपूर्ण है।

तुलनात्मक अध्ययन मानव के सीमित ज्ञान क्षेत्र का विस्तार करता है और उसके ज्ञान अर्जन में भाषा, साहित्य एवं देश आदि को बाधा नहीं डालने देता। तुलनात्मक अध्ययन उच्चतर ज्ञान वृद्धि में सहायक होता है। समूचे विश्व में जाति, वर्ण, धर्म आदि वैषम्य- होते हुए भी मनुष्य-मनुष्य में प्राय: समानता पाई जाती हैं। वातावरण, रीति-रिवाज संस्कृति एवं सभ्यता आदि विषयों में भिन्नता होते हुए भी मानव मन एक ही साँचे में ढला है। तुलनात्मक अध्ययन से मनुष्य संकुचित मनोवृत्ति से मुक्त होकर व्यापक दृष्टिकोण अपनाते हैं वह औरों का महत्व स्वीकार कर उनसे रागात्मक संबंध स्थापित करता है। सांस्कृतिक आदान-प्रदान भी तुलनात्मक अध्ययन से संभव है। विश्व के अनेक राष्ट्रों के बीच सांस्कृतिक संबंध इसी आधार पर स्थापित हो रहे हैं। विश्व संस्कृति को एक मंच पर लाना तुलनात्मक अध्ययन द्वारा ही संभव है। आज बाजारवाद एवं अंधी आधुनिकता में सबसे अधिक किसी मूल्य का पतन हुआ है तो वह मानवीय संवेदना है। इस शोध आलेख का एक उदेश्य आज के संदर्भ में दो भाषाओं के बीच इस मानवीय संवेदना की तलाश है।

बीज शब्द: *बाजारवाद, स्वार्थपरता, भोगवादिता, संकुचित मनोवृत्ति, सर्वोत्कृष्ट, साम्य-वैषम्य, रागात्मक संबंध, भंगिमा, प्रस्फुटित, व्युत्पत्तिपरक, भावानुभव, सहानुभूति, अनुभवजन्य ज्ञान, मनोवृतियाँ, बुद्धिवाद, बहुचर्चित, वैशिष्ट्य, सहभागिता इत्यादि।*

मूल आलेख:

साहित्य का संबंध मूलत: मानव एवं मानव ह्रदय से है। वह रचनाकार के ह्रदय से निकलकर आस्वादक के ह्रदय तक पहुँचता है। ह्रदय से ह्रदय तक की इस यात्रा में मुख्य भूमिका संवेदना की होती है। प्रारंभ से आज तक यह संपूर्ण समाज जिस आधार पर टिका हुआ है, वह संवेदना ही है। संवेदना-हीन साहित्य का कोई मूल्य नहीं चाहे उसमें बुद्धिवाद का कितना ही ऊहापोह क्यों न हो, दर्शन की नई-नई भंगिमा क्यों न हो, बुद्धि, दर्शन, चिंतन, ज्ञान, विज्ञान सबको पहले जीवन में आत्मसात होना पड़ता है। अपने साथ होकर मानव संवेदन का अंग बनना पड़ता है। तभी साहित्य में सत्यम शिवम् और सुंदरम् की भावना प्रस्फुटित हो सकती है।

संवेदना संस्कृत का शब्द है। जिसका अर्थ है सुख-दुख का अनुभव या ज्ञान की प्रतीति। 'संवेदन' शब्द पुलिंग है। इसमें 'आ' प्रत्यय लगने से उसका स्त्रीलिंग रूप 'संवेदना' बना है। विभिन्न विद्वानों ने संवेदना का अर्थ स्पष्ट करने की कोशिश की है। अज्ञेय की दृष्टि में- "संवेदना वह यंत्र है जिसके सहारे जीव दृष्टि अपने से इधर सब कुछ के साथ संबंध जोड़ती है वह संबंध एक साथ ही एकता का भी है और भिन्नता का भी क्योंकि उसके सहारे जहाँ जो दृष्टि अपने से इतर जगत को पहचानती है, वहाँ उससे अपने को अलग भी करती है।"[1]

रामस्वरूप चतुर्वेदी के अनुसार "आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास के आमुख में 'जनता की चित्तवृत्ति' के परिवर्तन की बात कही थी। आज की भाषा में चित्तवृत्तियों के संश्लेषण को संवेदना कहा जाएगा।"[2]

डॉ. सुरेश सिन्हा के शब्दों में, "साहित्य में संवेदना से अभिप्राय वह अनुभूति प्रवणता है जो नई अर्थवत्ता प्रदान करते हैं।"[3]

अतः मोटे तौर पर किसी भी वस्तु भाव या स्थिति का हृदय पर जो प्रभाव पड़ता है और उसकी जो प्रतिक्रिया होती है उसे ही संवेदना कहते हैं। इसे उदाहरण के तौर पर भी समझा जा सकता है यह दुनिया कितनी बड़ी है और कितनी भरी-पूरी है। इसके इतने सारे रंग और रूप हैं। इतने सारे पदार्थ हैं, इतनी वस्तुएँ हैं। प्रत्येक वस्तु प्रत्येक घटना हम पर किसी न किसी रूप में असर डालती है, जैसे पानी में कंकर फेंकने से तरंग उठती है वैसे ही हम जब कुछ देखते सुनते हैं या जब हमें कुछ होता है तो हम भी प्रतिक्रिया करते हैं। हमारा हृदय प्रभावित होता है और तब उस प्रकार के अनुरूप भाव उत्पन्न होते हैं। वस्तुओं का हृदय पर पड़ने वाला यही प्रभाव और उससे उत्पन्न प्रक्रिया ही संवेदना कहलाती है।

सामाजिक संवेदना:

मनुष्य का समाज से बहुत गहरा संबंध है। मनुष्य का हर एक क्रियाकलाप समाज सापेक्ष होता है। समाज के बिना मनुष्य का कोई अस्तित्व नहीं और यही नहीं समाज के बगैर सामाजिक संवेदना का भी कोई अर्थ नहीं। दोनों एक-दूसरे कि पूरक हैं। दोनों का संबंध बहुत अटूट है। साहित्य का सृजन करने वाला साहित्यकार भी मनुष्य ही होता है और मनुष्यता के कारण उसका सामाजिक संवेदना के साथ बहुत गहरा नाता होता है। वह अपनी इन्हीं सामाजिक संवेदना को अपने साहित्य में चित्रित करता है। संवेदना और साहित्य एक सिक्के के दो पहलू के समान हैं। मनुष्य की इसी बहुआयामी भूमिका को स्पष्ट करते हुए डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है कि- "मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास उसके सामाजिक जीवन से संभव हुआ है। इसलिए व्यक्ति और समाज की स्वाधीनता परस्पर विरोधी न होकर एक-दूसरे पर आश्रित है।"[4]

सामाजिक सहभागिता के द्वारा ही वह समाज का एक विशिष्ट व्यक्ति बन जाता है। समाज मानव के विकास की धुरी है। समाज की हर एक संवेदना को रचनाकार यथार्थ के स्तर पर व्यक्त करता है। प्रेमलता दुआ के शब्दों में, "रचनाकार सामाजिक यथार्थ को संवेदना, भावना और मूल्यों के स्तर पर व्यक्त करता है। साहित्य एक सामाजिक कर्म है। जिसकी सारी प्रक्रिया सामाजिक इतिहास के भीतर घटित होती है। साहित्य में समाज गहरे में बैठा रहता है।"[5] साहित्यकारों के मूल में उसके सामाजिक संवेदना का मुखरित रूप निहित रहता है।

राजनैतिक संवेदनाः

राजनैतिक संवेदना का मूल भाव राजनीतिक चेतना से है यह चेतना साहित्य में व्यापक स्तर पर मुखरित हुई है। विभिन्न साहित्यकारों ने अपने-अपने साहित्य के माध्यम से राजनैतिक संवेदना को चित्रित करने का प्रयास किया है। साहित्य में राजनीति पर बहुत कुछ लिखा गया है और बहुत कुछ लिखना शेष भी है। क्योंकि समय के साथ बदलते परिवेश में राजनीतिक विसंगतियों का चित्रण करना साहित्यकार का धर्म भी है और कर्म भी। समाज में जिस प्रकार से राजनीति अपनी जड़ें जमा रही है उसे देखकर राजनैतिक संवेदना के स्तर को समझा जा सकता है। आज समाज का हर एक वर्ग राजनैतिक चेतना से युक्त है वह अपने अधिकारों के प्रति सजग है, उसे अपने कर्तव्यों का भली-भाँति बोध है। आज का वर्तमान राजनीतिक समाज गुलामी वाले राजनीतिक समाज से पूर्णतः अलग है।

धार्मिक एवं साँस्कृतिक संवेदनाः

साहित्यकार जब भी किसी साहित्य की रचना करता है उसमें वह तत्कालीन धार्मिक व साँस्कृतिक चेतना का वर्णन अवश्य करता है। धर्म का सीधा मतलब होता है व्यक्ति को जीवन जीने की शैली, किंतु कुछ धार्मिक उन्माद फैलाने वालों ने इसे मंदिर, मस्जिद एवं चर्च तथा गुरुद्वारा तक सीमित कर दिया है। किसी भी प्रकार की धार्मिक कट्टरता का बढ़ावा मानव समाज के लिए सबसे बड़ा खतरा है। धार्मिक कट्टरता के कारण ही धर्म के नाम पर लोगों को गुमराह किया जाता है। इसके अलावा विश्व के कई देशों में धर्म के नाम पर लोगों का शोषण आज भी जारी है। आतंकवाद इसी धार्मिक उन्माद की देन है। धर्म के प्रति निष्ठा व्यक्ति को अंधा बना देती है। धर्म के प्रति जब-जब इस प्रकार का अतिशय प्रेम उमड़ता है तो वह आने वाले समय के लिए समस्या का केंद्र बिंदु बन जाता है। धार्मिक संवेदना का वर्णन साहित्यकार यथासंभव अपने कृति में करता हुआ चलता है।

किसी भी समाज में रहने वाले व्यक्तियों की संस्कृति उसकी पहचान होती है। किसी भी समाज की आत्म प्रेरणा उसकी संस्कृति में निहित होती है। साहित्य और संस्कृति का चेतना अंतर संबंध बहुत ही पुराना है। साहित्य की एक बहुत ही महत्वपूर्ण कड़ी संस्कृति के रूप में विद्यमान है। कोई भी समाज संस्कृति के अभाव में अपने आत्म का विकास नहीं कर सकता। संस्कृति मानव के आंतरिक सौंदर्य का केंद्र होता है। वह इसी सौंदर्य से अभिभूत होकर साँस्कृतिक संवेदना का संरक्षण करता है। संस्कृति और धर्म को अलग-अलग करके नहीं देखा जा सकता क्योंकि धर्म भी संस्कृति का ही एक अंग है। धर्म के कारण ही संस्कृति को बल मिलता है। पूनम मदान के शब्दों में, "संस्कृति मानव द्वारा प्राप्त सबसे महान् अवधारणा की संकल्पना है।"[6] संस्कृति किसी भी मनुष्य कि जन्मजात संपत्ति नहीं होती बल्कि वह उसका अर्जन करता है यह अर्जन वह समाज में रहकर करता है।

अखिलेश एवं असीत राई

अखिलेश अपने समय के ऐसे रचनाकार हैं, जो विभिन्न संभावनाओं के साथ आगे बढ़ते हैं। वह संभावनाओं से नाता नहीं तोड़ते और इसी के साथ भविष्य की चिंता करते हैं। अखिलेश की

कहानियों में विविधता देखने को मिलती है। मानव जीवन, बाल मनोविज्ञान, समाज के सूक्ष्म चित्रण, राजनीति की गहरी पहुँच के साथ-साथ जीवन के कई अहम बिंदुओं को उन्होंने अपने कहानियों का विषय बनाया है। अखिलेश की कहानियों में संवेदनाएँ पात्रों, विषयों एवं भावों के साथ मिलकर एकाकार हो गई है। उनके कहानियों में समाज के विभिन्न यथार्थ का नग्न चित्रण निसंकोच एवं सहजता के भाव के साथ दिखाई देते हैं जो स्वीकृत है। वह अपने कहानियों के माध्यम से समाज की विभिन्न समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करते दिखाई देते हैं। अखिलेश की कहानियों पर विचार करते हुए यह बात साफ होती है इस दौर के कहानीकारों ने समकालीन समय, समाज परिवर्तन एवं विकास की प्रक्रियाओं को ध्यान में रखते हुए कहानी की दुनिया रखी है। इन्होंने मध्यवर्गीय जिंदगी और उसके सामानांतर जीवन की समस्याओं से जूझ रहे आम आदमी को मजबूत इरादों के साथ कहानियों में चित्रित किया। अखिलेश की 'बायोडाटा' इसी प्रकार की कहानी है। बायोडाटा कहानी का नायक राजदेव अपनी पत्नी के प्रति जो व्यवहार दिखाता है वह सचमुच अमानवीयता की चरम स्थिति है। ऐसा लगता है पद, प्रतिष्ठा और पैसा के चक्कर में राजदेव के अंदर मानवीय संवेदना मानो खत्म हो चुकी है। राजदेव अभाव के साथ लालच में जी रहा है अपने इच्छाओं की पूर्ति के लिए तरह-तरह के हथकंडे अपनाता है, क्योंकि वह हथकंडे मान्यता का गला घोंट कर किया जाता है इसलिए सफल भी नहीं हो पाता और राजदेव जैसे पात्र अधिक अमानवीय हो जाते हैं। अब सवाल यह खड़ा होता है कि 'बायोडाटा' के राजदेव जैसे पात्र और अधिक अमानवीय होने पर मजबूर हैं अथवा मजबूर किए जा रहे हैं। क्या यह समकालीन समय का दबाव है अथवा उत्तर आधुनिक समाज का यथार्थ जहाँ और मानवीय होना मनुष्य की नियति बनती जा रही है? क्या स्थिति इतनी भयावह है कि समकालीन समय में मनुष्य और मानवीय होने के लिए विवश है? सत्ता की भूख को राजदेव किसी भी हालत में पूरा करना चाहता है। उसने अपने को धिक्कार और राजनीतिक चर्या को समर्पित कर दिया। पार्टी ऑफिस पहुँचकर बोला अब तक मैं भ्रमित था अब मैं फिर से अपने घर वापस आ गया हूँ। इस कहानी में अखिलेश जी ने सत्ता में संवेदना के खत्म होने की विकट स्थिति को भी दर्शाया है। पहली बार जब पिता बनने का संदेश उसे मिलता है तो वह उससे खुश नहीं होता अपितु गुस्से में बरसने लगता है और कहता है "आखिर इतनी जल्दी प्रेग्नेंट होने की क्या जरूरत थी और अगर भूल से चूक हो गई तो बीमार होने की क्या जरूरत लेकिन यहाँ मम्मी बनने का शौक चल रहा है आप थाना कुछ नहीं बस मेरे किस्मत के रास्ते में रोड़ा खड़ा करना था बड़ी चली आई 'कम सुन' वाली....."[7] स्पष्ट है राजदेव का इस प्रकार संवेदना शून्य होने के पीछे कई कारण है जिसमें पूंजीवाद, उत्तर आधुनिकतावाद, सत्ता स्वार्थ एवं ओढ़ी हुई नैतिकता भी है। यही कारण है कि अपने पत्नी और बच्चे को वह अपनी सफलता का हथियार बनाता है। एक ओर अखिलेश की कहानियाँ जहाँ निर्ममता के साथ बदलते समय के घात-प्रतिघात, युवाओं की हताशा एवं मनुष्यता की दुर्दशा के चित्र है तो वहीं वे उम्मीद का दामन भी नहीं छोड़ते उम्मीद का एक सोता उसकी रचना प्रक्रिया में सदा के लिए प्रवाहित होती रहती है।

इसी प्रकार अनेक विषयों का विकास हम उनके कहानी संग्रह 'अंधेरा' में देख सकते हैं। वास्तव में शापग्रस्त कहानी संग्रह एक ऐसी पृष्ठभूमि है जिस पर आगे की कहानियाँ अपना विस्तार पाती हैं। अखिलेश की 'यक्षगान' एक ऐसी कहानी है जिसमें राजनीति के साथ-साथ मानवीय संवेदना के सिकुड़न की गाथा है। जिसमें दोहरे व्यक्तित्व के द्वारा मानवीय संवेदना को तार-तार कर दिया जाता है। कहानी में एक ग्रामीण लड़की सरोज पांडे की दर्द में स्थिति का चित्रण है जो नाकारा एवं लुच्चे इंसान के प्रेम के छल में फंस जाती है, उसका विवाह से पहले ही सौदा कर देने वाला धोखेबाज पति छैल बिहारी है तथा लड़की को खरीदने वाले काम लोलुप गाँव की पार्टी कार्यकर्ता भोला है जो सत्ताधारी पार्टी के प्रदेश अध्यक्ष गोरखनाथ एवं उनको संरक्षण देने वाले ताकतवर महंत के काफी करीबी हैं। यह बचपन से लड़की की आसक्ति में डूबा जुझारू एवं फक्कड़ युवा नेता श्याम नारायण है जिसका पार्टी सचिव इस बात से बिलकुल बेखबर है कि किसी मासूम लड़की के साथ हुई बलात्कार की किसी सुनियोजित घटना के मुद्दे पर पार्टी को आगे आना चाहिए। यहाँ मौके का फायदा उठाने की तलाश में गिरगिट की तरह रंग बदलने वाली महिला नेता मीरा यादव भी है, जिनकी पार्टी के मुखिया के लिए प्रतिपक्ष के ऊपर आक्रमण करने का अवसर मिलने की अपेक्षा अपनी पार्टी का जातिगत समीकरण बनाए रखना ज्यादा महत्वपूर्ण है। यहाँ सत्ता में विराजमान एक ऐसा मुख्यमंत्री है जो अपनी पार्टी के बलात्कार के आरोपी तथा पार्टी में अपने आंतरिक विरोधी अध्यक्ष को ख़त्म तो करना चाहता है किंतु अध्यक्ष के सजातीय वोटरों के नाराज हो जाने की संभावना के चलते आलाकमान का दबाव बढ़ते ही उसे कैसे बचाने में पूरी ताकत लगा देता है। अंत में सरोज पांडे का कोई पता ठिकाना नहीं मिलता और वह इन सब एक-दूसरे के विरोधी किंतु आर्थिक रूप से एक ही दिशा में चलने वाले हमसफर स्वार्थी लोगों की भीड़ बन जाती है। वास्तव में परमू तथा भोला सरोज का विवाह कराने के बहाने उनका अपहरण करते हैं। पार्टी अध्यक्ष दबंग भी है और औरत को भी व सरोज को खुद ही गाड़ी में बैठा कर उसके वयस्क होने की बात प्रमाणित करने के लिए उसकी आयु का फर्जी प्रमाण पत्र बनवाने के लिए ले जाता है। बाद में वह महंत के मंदिर में छिपाकर रखी जाती है। यहीं पर उसके साथ अध्यक्ष तथा उसके चमचा अपना मुँह काला करते हैं। महंत का अड्डा उन्हें अध्यक्ष के बंगले से भी ज्यादा सुरक्षित लगता है, जो वर्तमान राजनीति के कुछ महत्वपूर्ण तथ्यों की ओर भी इशारा करता है- "अबे तुम रहोगे देहाती भुच्चड़ा"[8]

भोला समझाने लगा "अध्यक्ष जी के यहाँ तो फिर भी एक बार पुलिस आ सकती है पर महंत जी के यहाँ किसकी हिम्मत है अध्यक्ष जी जैसे बाइस उनकी जेब में है।"[9]

अब मुख्यमंत्री के लिए यह वरदान ही था कि उसके प्रतिद्वंदी गोरखनाथ का राजनीतिक भविष्य सरोज पांडे के साथ बलात्कार के आरोप में फंसकर बर्बाद हो रहा था।

अखिलेश ने मीरा यादव के दोहरे व्यक्तित्व को बड़ी खूबी से उभारा है। पहले तो वह उससे पीड़िता सरोज पांडे के प्रति सहानुभूति से भरी हुई एक महिला नेता के रूप में सामने लाते हैं, हालाँकि

इसमें आने के पीछे उसका मकसद अपनी राजनीतिक छवि को चमकाना तथा विपक्ष को बदनाम करना है, सरोज को न्याय दिलाना नहीं। अतः इस प्रकार पीड़िता की संवेदना के साथ खेला जाता है, किस तरह उसकी संवेदना का राजनीतिकरण होता है अखिलेश ने उसे काफी सूक्ष्म रूप से प्रस्तुत किया है। मीरा यादव सरोज जैसी सोने की मुर्गी को खोना नहीं चाहती और सरोज से कहती है "मान लो, तुम घर जाओ और तुम्हें वहाँ घुसने ही न दिया जाए, घरवाले तुम्हें धक्के देकर खदेड़ दे, तब आखिर इज्जत लुटा चुकी लड़की का बोझ उठाना आसान है क्या! मैंने तुमको अपनी छोटी बहन बनाया है ऐसे कैसे नर्क भोगने के लिए वहाँ भेज दूँ"[10] अतः मीरा यादव का सरोज के प्रति संवेदना झूठा है अपनी रोटी सेकने के लिए है। किस प्रकार व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए संवेदनाओं का क्रय विक्रय होता है यह कहानी उस ओर भी इशारा करती हैं। जब मीरा यादव नेताजी से कहती है वह हमारे काम की है तो इस वाक्य से मीरा यादव के व्यक्तित्व के कई रूप हमारे सामने खुलकर आते हैं। यह समय का सत्य भी है और सत्ता का लोभ जहाँ होता है वहाँ कुछ भी उचित अनुचित, सही गलत नहीं होता। अगर सही होता है तो केवल व्यक्तिगत स्वार्थ।

इसी प्रकार नेपाली साहित्य में असीत राई की कहानियों में मध्यवर्गीय जिंदगी की विडंबना असहाय स्थितियों, असंतोष एवं भय के साथ ही असहय वातावरण में जी रहे आम आदमियों के मुश्किल भरे जीवन संघर्ष को उभारता है। 'घर-घर को कथा' उनके कहानी 'संत्रस्त जिजीविषा' संग्रह की कहानी है।

इस कहानी में अजीत जी ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि देश की अर्थनीति ने एक परिवार को किस प्रकार से प्रभावित किया है और कई संवेदनाओं का क्षरण हुआ है विभिन्न इच्छाओं के बीच अर्थ की महानता ने रिश्तों में पनप रहे संवेदनाओं को पतला और कमजोर कर दिया है 'छोरा हजार रुपिया को जूत्ता लगाउने रहर राक्छ तर बाबूलाई पाँच रूपियाको सर्टको धारणाले छोड़ न सकेको छैना'[11]

उनकी दूसरी कहानी 'निर्जातन को दंश' में भी शहरी और ग्रामीण जीवन के बीच के द्वंद्व में संवेदना की तलाश है। कहानी में कल्पना और सुबोध पति-पत्नी है। सुबोध शहर का सुविधा संपन्न अत्याधुनिक जीवनशैली जीने वाला जवान है एवं कल्पना गाँव के परिवेश में जन्मी तरुणी है। शहर के बड़े परिवेश, बड़े बंगले में भी कल्पना अपने को नीरस प्राणहीन एवं अकेला पाती है। विवाह की पहली रात भी पति के साथ उसे भाव विहीन लगती है। कहानी में शहर गाँव, परंपरा सभ्यता, के बीच दांपत्य संबंधों में क्या संवेदना बची रह सकती है, इस प्रश्न को उठाया गया है। वास्तव में यह दांपत्य जीवन के लिए ही नहीं सामाजिक व्यवस्था के लिए भी एक चुनौती है। अखिलेश की कहानियाँ जहाँ निर्ममता के साथ बदलते समय के घात प्रतिघात युवाओं की हताशा एवं मनुष्यता की दुर्दशा के चित्र दर्शाते हैं तो वहीं दूसरी तरफ वे उम्मीद का दामन नहीं त्यागते। उम्मीद का एक सोता उसकी रचना प्रक्रिया में सदा के लिए प्रवहित होती रहती है।

संजीव एवं समीरण छेत्री 'किरात'

यथार्थवादी लेखन की परंपरा में पूरी तरह से फिट भारतीय आत्मा को अपनी रचनाओं में हू-ब-हू उतार देना मानो उनके कथा साहित्य का मूल उत्स है। संजीव का पूरा कथा साहित्य भारतीय यथार्थ के अनुभव की प्रमाणिक अनुभूति है जो विभिन्न संवेदना से संरक्षित है अनुभूति जगत की अभिव्यक्ति ही रचनाकार की सृष्टि होती है। तथा यही अनुभूतियाँ संजीव से कहानियों लिखवा लेती हैं। संजीव के साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता है कि वह अपने लेखन के लिए विविध विषयों का चयन करते हैं। भ्रष्ट प्रशासन, पुलिस और मजदूर के कटु यथार्थ, भारतीय नारी के यथार्थ जीवन का चित्रण, गरीबी, बेरोजगारी, बाजारवाद, उपभोक्तावाद, नक्सलवादी आंदोलन, पूंजीवाद के दुष्परिणाम, जातिवाद आदि कई उनके कहानियों का विषय हैं। उनके साहित्य का मूल उद्देश्य मनुष्य में छिपे शौर्य और विवेक का सम्मान, हर तरह के शोषण के खिलाफ, हर तरह की लड़ी जा रही मुक्ति की लड़ाई के पक्ष में उठी चीख या प्रतिकाराइस संदर्भ में नरेंद्र जी लिखते हैं, "संजीव आजीवन अपनी रचनाशीलता को आदमी और समाज को बेहतर बनाने के एक नफीस एक औजार के रूप में धारदार बनाते रहेंगे।"[12]

संजीव की कहानी संग्रह 'गली के मोड़ पर सूना सा कोई दरवाजा' में अनेक ऐसी कहानियाँ हैं जो मानवीय संवेदना को हमारे समक्ष प्रस्तुत करती हैं। बाल कहानी 'रोजी-रोटी' के लिए जंगल-जंगल शासकों के डर से भागते सर्वहारा पाँच भाई और उसके परिवार का वर्णन करती हैं। अपना पैतृक गाँव घोष बाबू की दीवार और उनके गुमास्ते के अन्याय अत्याचार से छोड़ना पड़ता है। गोपाल बूढ़े के चारों भाई प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष बाघ के ही शिकार हो गए हैं। उनके अजन्में बेटे को बाघ की दहाड़ ने गर्भपात में मारा है और उनके पैर का घाव भी बाघ की ही देन है। सरकारी मुआवजा केवल परिवार के दो ही व्यक्तियों को मिलता है। सुंदरवन के गोसांबा द्वीप में चारों भाई मछली पकड़ते मारे गए थे। कहानी में बाघ व्यक्ति की शोषक प्रवृत्ति भी है और बिंब भी हर जगह बाघों का डर बना हुआ है। व्यवस्था पर व्यंग करते हुए गोपाल बूढ़ा कहता है- "साले हराम का खाना खाकर बाघ बने हुए हैं। सरकार बाघ को संरक्षण देती है... बाघ और शोषक चाहे आदमी को खा जाए..."[13] इस प्रकार शोषण में किस प्रकार से पारिवारिक संवेदना, मनुष्य के विश्वास एवं मनुष्य के हनन को प्रभावित किया है।

इसी तरह दूसरी तरफ नेपाली कहानी में प्रसिद्ध कथाकार समीरण छेत्री 'प्रियदर्शी' का नाम उल्लेखनीय हैं। इनकी कहानियों में भी विविधता देखी जा सकती हैं परंतु मूल रूप से दांपत्य जीवन, सामाजिक संत्रास, संबंधों के विघटन, वर्चस्व वादी राजनीति, बाजारवाद आदि का चित्रण देखा जा सकता है। उनकी कहानी संग्रह 'गैरी गाँव की चमेली' इसी प्रकार की विषयों से संबंधित है। उनके कहानियों में दांपत्य जीवन में संवेदना का पतन सबसे ज्यादा दिखाई पड़ता है। इस संवेदना क्षरण के पीछे प्रियदर्शी ने जिन कारणों को दर्शाया है उनमें विश्वास, उत्तर आधुनिकता के नकारात्मक पहलू बाजारवाद, अहम् आदि कारण हैं। 'गैरी गाँव की चमेली' कहानी का प्रमुख पात्र रणे और चमेली हैं।

दोनों ही गाँव के निम्न मध्यवर्गीय परिवार से संबंधित हैं। गाँव के मुखिया की काली नजर चमेली के ऊपर पड़ती है और उसके गृहस्ती को बर्बाद करने के लिए गाय देने के बहाने से ऋण के भार को थोप देता है। इस ऋण के उधार से अपनी एकमात्र झोपड़ी के खो जाने की चिंता दंपति को जला रही है। वे दोनों सामूहिक रूप से श्रम करते हैं। व्यर्थ में भी सुख और समृद्धि की आशा रखते हैं। परंतु ऋण की चिंता उनके संवेदनाओं को बार-बार पूरे जीती है वह खींजते हैं परंतु चुप रहते हैं। मानो चुप रहना उनकी विवशता है।

इसी तरह संजीव कि 'अज विलाप' कहानी मुंबई के सर्वहारा की दयनीय अवस्था को दर्शाती हैं। देश के अलग-अलग हिस्से और पड़ोसी देशों के गरीब यों रोजी-रोटी की तलाश में आते हैं। यहाँ आकर कुछ दिन बूचड़खाने में रहते हैं, जहाँ बकरे काटे जाते हैं। उस जगह को धोकर वहीं रहते हैं। 'याकूब' आजमगढ़ यू.पी. का है, तो 'गुलनार' बांग्लादेश की है। गुलाब पुलिस, मवालियों और सेठों के आतंक से प्रताड़ित है। दोनों एक-दूसरे का सहारा बनते हैं- "देखो ये रहा ताला-चाबी। बाहर लेट्रिन है, यह कारड है मेरा। दिखाने पर पैसा नहीं लगेगा। बाएँ बाजू में पानी का नलका है, 6:00 बजे आएगा पानी। तुम काम पर आओगी तो चाबी मुझे थमा देगी।"[14] पुरुष के अहंकार शक के चलते दोनों में विवाद चलता है पर अंत में एक हो जाते हैं कहानी दरिद्रता, स्लम दुनिया और शोषण को अभिव्यक्त करती है। स्लम के इस कठिन जिंदगी में संवेदना मानवीय संवेदना एवं मूल्य को बचाना एक चुनौती भरा कार्य है। दूसरी और संवेदना के क्षरण में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले कारक दरिद्रता भी है, जो व्यक्ति को असहाय और नपुंसक बना देती है।

मनीषा कुलश्रेष्ठ एवं हायमन दास राई

उदारीकरण और अब संस्कृति ने भारतीय सामाजिक संरचना को बाहर से भीतर तक प्रभावित किया है। जीवन और समाज आधुनिकता के रंग में पूरी तरह सराबोर हैं जिसमें पाश्चात्य जीवन शैली आडंबर और विलासिता पूर्ण सामग्रियों से सुसज्जित बाजार व घर में मनुष्य अपना जीवन ही नहीं बल्कि अपना हर एक दिन किसी तरह से काट रहा है भागदौड़ औपचारिकता ही शेष रह गई है ठीक इसी तरह की औपचारिकता हम मनीषा कुलश्रेष्ठ की कहानी संग्रह 'अनामा' में देखते हैं। विकास की तेज रफ्तार में मनुष्य का मानवीय संवेदनाओं से निरंतर वंचित होते चले जाना आधुनिकता का ऐसा भीषण संकट है जिससे आज सभी प्रभावित हैं और केंद्र में है आज का युवावर्ग जिस पर आधुनिकता का सबसे गहरा और गंभीर प्रभाव पड़ा है। औपचारिक मित्रता, औपचारिक प्रेम, औपचारिक मुस्कुराहट, औपचारिक संवेदना मूल है, जहाँ दृश्य तत्व सर्वदा नदारद है और बौद्धिकता व विवेकशीलता पर भी प्रश्न चिह्न लगा हुआ है। ऐसे बदलते समय के साथ संवेदना में आ रही गिरावट 'अनामा' कहानी संग्रह में देखी जा सकती है।

वर्तमान समय में बेरोजगारी हमारे समाज के लिए एक बहुत बड़ी समस्या बन चुकी है। इससे कई ऐसे अपसंस्कृति का निर्माण हो रहा है, जो समाज के लिए अभिशाप है। युवा वर्ग निरंतर

संघर्ष से जूझ रहा है जहाँ एक तरफ औद्योगिकरण, यातायात के विकसित साधनों, मशीनीकरण, बैंक व्यवस्था, प्रौद्योगिकीकरण आदि ने मानव को सुविधाएँ एवं आराम प्रदान किए हैं वहीं दूसरी तरफ आर्थिक मंदी बेरोजगारी की समस्या आदि का आविर्भाव हुआ है आज या बेरोजगारी परिवार में कई संवेदनाओं और मूल्यों के लिए काफी घातक हो गई है। गाँव और शहर दोनों ही इस पीड़ा से जूझ रहे हैं। नौकरी पाना आज काफी कठिन हो गया है।

वर्तमान में खड़ी इस समस्या को लेकर लेखिका ने 'अनामा' कहानी में चिंता व्यक्त की है इस कहानी में अनामा जब विदेश से भारत लौटती है तो यहीं रहकर नौकरी करने का निर्णय लेती है। उस समय उसकी सहेली उससे कहती है कि "आज के दिनों में नौकरी खोजना! एक चैलेंज है।"[15]

इस बेरोजगारी के कारण मनुष्य को निर्धनता में जीवन काटना पड़ता है। ऐसी स्थिति में एक युवा की मनः स्थिति मानो संवेदना विहीन होती चली जाती है।

जब मानवीय मूल्य और संवेदना समाप्त हो जाती है तो कई विकृतियाँ जन्म लेती हैं। उसी में एक है आतंकवादी की आतंकवाद के कारण ऐसी दुर्दशा हो गई है कि वे अपनी मौत का इंतजार कर रहे हैं। जब तक सांसे हैं जो भी रुखा सूखा जला हुआ मिलता है उसे निगल रहे हैं और गुजर-बसर कर रहे हैं। खाना खरीदने के लिए अर्थ की आवश्यकता होती है जो कि बिना किसी रोजगार के संभव नहीं। 'रक्स की घाटी' और 'शब-ए-फितना' में एक स्त्री पात्र अपने पति को घर में जो भी रुखा-सूखा खाना उपलब्ध है उसे देती है। लेखिका ने इस स्थिति का बड़ा ही मार्मिक चित्र इस कहानी में व्यक्त किया है, "एक लकड़ी का टुकड़ा चूल्हे में सरका दिया और उसे कुछ खाने को दिया, मुरब्बे में फफूंद लगी थी और रोटी जली हुई थी। डर, गरीबी और भूख ने बाहर भीतर सब ध्वस्त कर दिया, उसने पहला गुस्सा तोड़ा और निकल लिया।"[16] अतः भारत में गरीबों की जनसंख्या दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। अमीर अधिक अमीर और गरीब और गरीब होता जा रहा है। पढ़ लिखकर भी व्यक्ति रोजगार से वंचित है। वर्तमान समय में बेरोजगारी की समस्या इतनी जटिल व प्रबल हो चुकी है कि लोग कुंठित हो आत्महत्या तक कर बैठते हैं। 'मौसमों के मकान सूने हैं' कहानी में बेरोजगारी के कारण आत्महत्या करते लोगों का विवरण दिया है। कहानी में एक व्यक्ति अपनी निराशाजनक परिस्थिति तथा आत्महत्या के कारण बताते हुए लिखता है कि "मैं 40 साल का अकेला कुँवारा हूँ मुझे माइग्रेन के दौरों और टॉपर होते हुए बेरोजगारी ने बर्बाद कर रखा है।"[17] आत्महत्या आज एक विकट समस्या है, जब व्यक्ति संवेदना शून्य हो जाता है तभी वह ऐसे कुकृत्य के लिए अग्रसर होता है। इस प्रकार कई कहानियों में मनीषा कुलश्रेष्ठ ने मानवीय संवेदना और उनके बदलते मूल्यों को स्थापित करने का प्रयास किया है।

नेपाली में हायमन दास राई 'किरात' कि कहानी संग्रह हो 'केही नमिलेका रेखाहरु', 'हाईकिंग', 'मिल्कीएका कथा' आदि कहानी संग्रहों में जीवन की कई समस्याओं और उन समस्याओं

के बीच मुरझाते मानवीय संवेदनाओं का सूक्ष्म चित्रण किया है। 'केही नमिलेका रेखाहरू' कहानी संग्रह के दूसरे भाग में 'रतिया' कहानी है। कहानी में मूल नारी चरित्र रतिया है जिसके पति का नाम जोसेफ है। जोसेफ और रतिया के उम्र के बीच 18 वर्ष का अंतर है, यह अंतर उनके मानसिक स्थिति में भी देखा जा सकता है। जोसेफ इसके पहले मेरी नाम की लड़की से प्रेम और एक दूसरी लड़की से विवाह कर चुका है और अंत में जोसेफ ने रतिया नाम की लड़की से विवाह किया। यहाँ भी संबंधों में एक तो समय और दूसरा अर्थ हावी है। किसी तरह चपरासी की नौकरी से गुजारा तो चल रहा है परंतु अपना एक घर नहीं है रतिया को फटी हुई साड़ी पहनकर अपने जीवन का गुजारा करना पड़ता है। इसी प्रकार 'मलाई चिन्यौ' कहानी में मूल समस्या अर्थ का है शंभु रूप गुण से संपन्न होने के बाद भी गरीबी के कारण वह अयोग्य हैं। तंबू का विचार ऐसा हो गया है कि वह समझता है कि सामाजिक मान प्रतिष्ठा सब पैसे द्वारा ही संभव है– "धन आफ्नो पौरखले कामउन सकिन्न ? जैरुपा किन गांउमा राई पगरी भाएर आफ्नो अदब चलाऊंछ सबै उसलाई मान्छन, त्योंधन होईन ?.... मलाई किन हेला गर्छ, ममा संपत्ति छैना"[18]

इस वाक्य से पात्र की व्यथा एवं मनः स्थितियों को साफ–साफ देखा जा सकता है जहाँ वह पल–पल टूट एवं विघटित हो रहा है। इसके पीछे का मूल कारण अर्थव्यवस्था का बढ़ता वर्चस्व जिसमें सामान्य लोग मानवीय संवेदना से वंचित होते हुए जड़ बनते जा रहा है।

निष्कर्षः इस प्रकार बीसवीं सदी के उपरांत सामाजिक–आर्थिक, नैतिक, व्यक्तिक, शैक्षणिक एवं राजनीतिक दृष्टि से आदमी के जीवन में जो अराजकता एवं अशांति आई उनके कारण चारों ओर सताया हुआ आदमी ही दृष्टिगोचर होता है। निरंतर बढ़ते हुए भ्रष्टाचार एवं स्वार्थ में आदमी के अस्तित्व संबंधों एवं विश्वास पर जमकर प्रहार किए। स्वतंत्रता के बाद भारतीय समाज में एक बड़ा परिवर्तन यथार्थ एवं संवेदना के रूप में कहानी में चित्रित हुआ सामाजिक एवं पारिवारिक संबंधों में आने वाले परिवर्तन को लेकर जो कहानियाँ लिखी गई उनमें पुरानी पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करने वाले वे पात्र हैं जो अभी तक परंपरागत जीवन मूल्यों से चिपके हुए हैं। वर्तमान समय में विषमताओं के तमाम तत्वों को न निगल सकने के कारण जहाँ नई पीढ़ी आवाहन आशा निराशा एवं कुंठा के पौधों को सींचने के लिए विवश है वहाँ शिक्षा तंत्र की रोटी खाने वाले बुद्धिजीवी प्रजातंत्र का खुला तमाशा देखकर भी कुछ ना कर सकने की स्थिति में है। इस प्रकार इस असंतुष्ट आदमी की अनास्था उनका मित्रों एवं प्रतिकार की भावना ही उपर्युक्त कहानीकार के कहानियों में दिखाई देती है। वर्तमान कहानीकार के सामने समस्याओं, चिंताओं और समाधानों का ढेर है। आज कहानी मनोरंजन के साथ किसी न किसी सत्य का उद्घाटन करती है। वैज्ञानिक युग का मानव पूर्णरूपेण स्वतंत्र है। आधुनिक कहानी साहित्य किसी व्यक्ति को महत्व नहीं देता है। आज का प्रत्येक कहानीकार अपने कहानियों में व्यक्तिगत मान्यताओं धारणाओं और चिंताओं को मूर्त रूप देने की चेष्टा करता है। वह वर्तमान को भूलकर केवल भविष्य के काल्पनिक शांति में ही लीन नहीं रहता, वह अपने युग और उसमें निहित नई मान्यताओं के

प्रति सचेत है। कहानी व्यक्ति व समाज की होती है, उसके कार्य कारण और संबंध की होती है। इस प्रकार तुलनात्मक विवेचन के उपरांत कह सकते हैं कि हिंदी और नेपाली कथाकार दोनों ने ही समय के सूत्र को पकड़ा है और उसकी पृष्ठभूमि में संवेदनाओं को एवं मनुष्य होने की इयत्ता को संभाला है। कहानीकारों ने मानवीय मूल्य और संवेदनाओं को बचाने के लिए आशावादी बनने की प्रेरणा दी है संजीव, अखिलेश, मनीषा कुलश्रेष्ठ, नेपाली के अतीत राई, समीरण क्षेत्री, हायमन दास राई का चिंतन एवं प्रयास सराहनीय है।

संदर्भः

1. अज्ञेय वात्स्यायन हीरानंद सच्चिदानंद, 2018, हिंदी साहित्य एक आधुनिक परिदृश्य, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 18
2. चतुर्वेदी रामस्वरूप, 2018, हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 111
3. सिन्हा सुरेश, 1999, हिंदी उपन्यासों में नायिका की परिकल्पना, अशोक प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 107
4. शर्मा रामविलास, 1956, स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य, काशी: हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, पृ. 33
5. शर्मा प्रेमलता, 1977, समाजवादी यथार्थवादी और नागार्जुन का काव्य, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 33
6. मदान पूनम, 2013, उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षक, अग्रवाल पब्लिकेशन, आगरा, पृ. 447
7. अखिलेश, शापग्रस्त, राधाकृष्णन प्रकाशन, 2009, पृ. 37

❑❑

उत्तर आलोचना सिद्धांतिकी

—अमर सिंह

सार

इस आलेख पाठ में जैव-प्रौद्यालोचना सिद्धांतिकी की स्थापना की गई है। जैव-प्रौद्यालोचना सिद्धांतिकी चिंतन, बौद्धिक, विश्लेषण, प्रयोग, गणितीय आदि मस्तिष्कीय आयामों के मध्य में-आलोच्य द्वारा स्थापित एक नवीन सिद्धांतिकी है। इसमें यह स्पष्ट किया गया है कि यह सिद्धांतिकी अपने आलोचना-व्याकरण में किस प्रकार पदार्थ, पाठ के प्रति आलोचना कार्य करती है।

बीज शब्दः *उत्तर-आलोचना, आलोचना, रचनाकार, आलोचक, नानावाद, नानासिद्धांतिकियाँ, आलोचना-व्याकरण, आलोचना-तकनीकि, राजनीति, पाठ-व्याकरण, व्याख्यासमीकरण, पदार्थ, विखंडन, उत्तर-आधुनिकता, नानाविमर्श, यथार्थिता, बहुलार्थी, राष्ट्रीय शासन, पर्यावरण।*

मूल आलेखः जैव-प्रौद्यालोचना सिद्धांतिकी का अर्थ स्वरूपः जैव-प्रौद्यालोचना सिद्धांतिकी अपने निजी शब्दार्थ में यह निहितार्थ रखती है कि उसने अपने जीन-अणु में परिवर्तन कर लिया है और अब वह अपने जीवजीन-अणु-परिवर्तन के साथ अपने आकार में बृद्धि करती है और वह किसी भी पदार्थ को अनेकों दृष्टियों में खोल कर देखती है। जिसका मुख्य कारण है समाज में जीतने भी पाठ, वर्ग समाज, सुख, दुख, व्याकरण, तकनीकियाँ निर्मित होती हैं, वे किसी एक वर्ग और एक वर्ग समझ से निर्मित नहीं होती किंतु जब हम किसी को न्याय देते हैं तो किसी एक है दृष्टि से देते रहते हैं। इसलिए बहुत से पाठ-पदार्थों के साथ जिसमें मनुष्य व अन्य प्राणी व गैर-प्राणी भी शामिल है वे सभी वास्तविक न्याय और अपने अधिकार से वंचित रह जाते हैं, किंतु जैव-प्रौद्यालोचना सिद्धांतिकी के पाठ-पदार्थ आलोच्य के व्याकरण में कभी भी वे इससे वंचित नहीं रहते और समाज के सम्मुख संपूर्ण सत्य खुलकर आता है, जिससे अपने-अपने सत्य को परखने में और किसी के सत्य में असत्य के प्रवेश की अपेक्षा शून्य मात्र रह जाती है। उदाहरण के रूप में यदि मैं कहूँ तो जैसे एक कहावत बन चली थी कि 'चाइनीज माल ज्यादा देर नहीं चलता' यह

बहुत से लोग स्वीकार कर लेते आए हैं किंतु जब हम जैव-प्रौद्यालोचना सिद्धांतिकी के आधार में इसे तकनीकि दृष्टि से देखते हैं तो पाते हैं कि आज से लगभग 100 वर्ष पहले चीन अपने तकनीकि के प्राथमिक स्तर पर होने के कारण और अधिक विकास व वस्तुओं के आभाव के कारण उसके साथ ऐसा होता था किंतु आज ऐसा नहीं है अर्थात् भारतवाद के आधार पर यदि हम कहें तो आज भी वही बात कर सकते हैं किंतु तकनीकिवाद के आधार में यदि आज हम देखें तो वह पदबंध गलत हो जाता दिखा रहा है।

1. जैव-प्रौद्यालोचना सिद्धांतिकी का दर्शन-व्याकरणः जैव-प्रौद्यालोचना का दर्शन-व्याकरण अपने कर्तव्य में किसी एक पाठ, वस्तु, पदार्थ, वर्ग, समाज को, अनेकों दृष्टि-दर्शनों में विश्लेषित करने से है। इसलिए 'जैव-प्रौद्यालोचना सिद्धांतिकी', : 'आलोचना' को यह कहते हुए चुनौती देता व लज्जित करता है कि 'आलोचना' किसी एक समाज-दर्शन : दृष्टि से, किसी दूसरी समाज दृष्टि से लिखे गए 'पाठ' को देखता है और उसे 'हेराफेर' फौरी या 'घोलू' नियमावाली में सही-गलत रूप में स्थिर व चिन्हित कर देता है। किंतु जैव-प्रौद्यालोचना इस बात का दावा करती है, कि किसी भी दृष्टिकोण से लिखा गया 'कोई पाठ स्वयं में गलत नहीं होता' बल्कि वह 'दूसरी दृष्टि या आलोचना सिद्धांतिकी की कुंजी से', 'गलत' किया जाता है। जैसे रामचन्द्र शुक्ल जब तुलसीदास को भारतीय संस्कृति और भारतीय राष्ट्रवाद या सनातन के समाज दर्शन से देखेते हैं तो 'तुलसीदास उसके व उनके समाज के लिए बहुत विशिष्ट हो जाते हैं, किंतु यदि रामचन्द्र शुक्ल कबीर को उसी दृष्टि से देखें तो बहुत कुछ गलत हो जाएगा। 'कबीर' सनातन के लिए 'तुलसी' के रूप के कभी नहीं बन सकते। किंतु जैसे ही रामचन्द्र शुक्ल 'कबीर' को मार्क्सवाद के वर्ग दर्शन से देखेंगे, कबीर अपने आप विशिष्ट हो जाएँगे, और 'तुलसी' का उनके लिए कोई बड़ा महत्व नहीं रहेगा। इसी प्रकार यदि कबीर या तुलसी को अन्य सैकड़ों समाज-दर्शनों : दृष्टियों से देखा-खोला जाए तो अन्य बहुत से अर्थ निकल कर हमारे सम्मुख आएंगे। तात्पर्य यह कि कोई गलत नहीं है, बल्कि वह ज्ञान और समाज-दर्शन से उसे गलत कर दिया जाता है, अपने चिंतन, समझ, बौद्धिक स्तर में सब सही हैं और सबका अपना महत्व है। उदाहरण के रूप में यदि पृथ्वी के संरक्ष्य मात्र वायु या अग्नि ही होती तो मनुष्य ने जितना विकास अपने समझ भर में किया है शायद उतना वह न कर पाता आदि।

इसे बहुत अधिक गहनता से समझने के लिए यदि हम उदाहरणात्मक प्रयोग रावण पर करें तो देखेंगे कि एक रावण को जब हम अनेक आभाषिक रूपण जैसे मानविकीय, सामाजिक, वैज्ञानिक, गणितीय आदि दृष्टियों में और कितने रूप-अर्थ में देखा जाए तो कितने अर्थ-पाठ निगमित होते हैं। जिसमें भी/किंतु यदि कोई चाहे तो 'श्रीरामचारितमानस' तुलसी, कबीर, सूर, गोदान और अन्य कथा-कहानियों पर भी इसका प्रयोग कर सकता है। जैसे कि हमने यहाँ 'रावण' को पाठ बनाया और देखते हैं कि—

दृष्टियाँ	पाठ	निष्कर्ष
व्याख्या	रावण	'रावण' मानव मुख 'ध्वनि' और 'वर्तनियों' से निर्मित संस्कृत भाषा का एक तत्समीय शब्द है। जिसका अर्थ 'राय'/'राजा' माना जा सकता है।
हिंदुत्ववाद		'रावण' राक्षस है।
मार्क्सवाद		'रावण' पूँजी स्थापक और तानाशाहियत व शोषण का जनक है। (देखिए भाषा-शैली भी यहीं से परिवर्तित हो रही है, यह भाषा शैली परिवर्तन ही रावण के प्रति अन्य सह-पदार्थों की निर्मिति करता रहता है)
अस्तित्ववाद		'रावण' अस्तित्व के जनक हैं।
संरचनावाद		'रावण' एक निर्मिति है। (जिसमें स्वयं रावण की धारणा और समाज की धारणा अपने संरचना में भिन्न हैं। रावण उतना अप्राकृतिक नहीं है जितना उसे माना गया है।) (यहाँ भी शैली परिवर्तित होती है)
उत्तर-संरचनावाद		'रावण' मात्र रावण नहीं है। वह एक साथ ही बहुत कुछ भी है। जिसमें एक पिता, पुत्र, राजा, नायक, पति, नाना, दादा, चाचा, नागरिक, राक्षस, देवता, चोर, साहूकार, जमींदार आदि बहुत कुछ है (यहाँ भी शैली परिवर्तित होती है)
विखंडनवाद		'रावण' एक वैश्विक पदार्थ है। वह राक्षस होकर देव : पूज्य भी है और देव होकर राक्षस : तमीय भी है। वह बाजार में उपस्थित है और जीवन में भी, वह प्रत्येक व्यक्ति में मिलता भी है और उपस्थिति के उसमें संकेत भी हैं। वह अपने ईश्वर में भी है, हंता (प्रभु राम जी की रणनीति और चाल में भी) में भी है और प्रसाद में भी है। (यहाँ भी शैली परिवर्तित होती है)
उत्तर-आधुनिकतावाद		'रावण' एक सामाजिक वर्ग है, जिससे परे या अपरे रहा जा सकता है। रावण में उत्तर-आधुनिकता उसके प्रत्येक कार्य में दृष्टित होती हैं चाहे वह सीता माता की चोरी हो अथवा किसी से बाटा करने और शासन संचालन का व्याकरण और पालन, उसे वह सब स्वीकार नहीं है और वे सभी शर्तें और सीमाएँ विद्यमान हैं जो आज के समय में फ्रांसुआ ल्यूतार ने अपने रूप में निश्चित और स्पष्ट की हैं। (यहाँ भी शैली परिवर्तित होती है)

नव्य-इतिहासवाद		हम 'रावण' से सदैव तक संबंधित हैं। (यहाँ भी शैली गैर-परिवर्तित होती है)
नाना-विमर्श (दलित, स्त्री, किसान, सैनिक, वृद्ध, बेरोजगार)		'रावण' क्या है, कोई 'रावण' नहीं है, रावण एक शोषण का मिथ-पदार्थ है। यहाँ दलित रावण का अपना पाठ निश्चित करेंगे, स्त्री अपने रूप भर का, किसान, वृद्ध और सैनिक अपने-अपने रूप निशित करेंगे (यहाँ भी शैली परिवर्तित है)
जैव-रचनावाद		हम सब 'रावण' हैं। जो रावण नहीं है वह न तो जीव है न ही कुछ अन्य, सबके पास पूरा शरीर है। सब कर्म करते हैं। सबका अस्तित्व है। सबकी अस्मिता है। सब अपनी अस्मिता की रक्षा में जीवन यापन करना चाहते हैं। सब को धन की आवश्यकता है, सभी बदले की भावना रखते हैं। आज समाज में हजारों-लाखों टन बारूद चलता है। लाखों कटते-मरते हैं।
सांस्कृतिक-भौतिकवाद		'रावण' मानव-वर्ग द्वारा निर्मित एक पुष्टि-पोषणीयता है। जो सामाजिक बाजार को केंद्रित करती है। (यहाँ भी शैली परिवर्तित है)
बाजारवाद		'रावण' एक सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक व अन्य सामाजिक आयामों का ब्रांड है। (यहाँ भी शैली परिवर्तित है)
लोकवाद		'रावण' जगत के बुद्धिवार हैं।
निगमवाद		'रावण' एक अच्छा पदार्थ है। (यहाँ भी शैली परिवर्तित है)
राष्ट्रवाद		'रावण' एक कुशल सैनिक राजा थे।
फासीवाद		'रावण' फासीवाद के प्रेणता हैं।
अहिंसावाद		'रावण' हिंसा के जनक हैं।
शक्तिवाद		'रावण' अहं के जनक हैं।
तकनीकिवाद		'रावण' बौद्धिक तकनीकार हैं।
सत्तावाद		'रावण' सत्तावाद के प्रेणता हैं।
मानवता		'रावण' दंभी पुरुष हैं।
जैव-प्रौद्योगिकी		'रावण' में सामाजिक संकर स्थिति के पदार्थ हैं।
अभिव्यंजना		'रावण' अभिव्यंजनाशील नहीं हैं। वे तत-उत्तरी हैं। (यहाँ भी शैली परिवर्तन-समवर्धनीय)

रसवाद		'रावण' पदार्थ-जगत हैं। (यहाँ भी शैली और अर्थ भाव दोनों के परिवर्तित है समयानिर्भर है।)
भूगोलवाद		'रावण' विश्व-मानव में सबसे बड़ा वातावरण ज्ञानी है। (यहाँ भी शैली परिवर्तित है)
रसायनवाद		'रावण' शारीरिक और वातावरणीय सामंजस्यी पदार्थ नहीं है।
दादावाद		तब ये 'रावण' क्या है, जब वह मेरे सम्मुख नहीं है। (यहाँ भी शैली परिवर्तित है)

इसी प्रकार यदि समयवाद के आधार में रावण को देखा जाए तो जैसे मैं हिंदूभाव के साथ रावण के होने का अनुभव करता हूँ। तब (यहाँ लिखने के समय और पदार्थ के प्रति अपने निजी इच्छा रखनी है) खैर यदपि इस सारणी के आधार में हमने देखा कि एक मात्र 'रावण' के कितने अर्थ और कितने प्रकार की धारणायें व अवधारणाओं में अपने-अपने बौद्धिक सामाजिक, दार्शनिक, राजनीतिक, वातावरणीय तथा अन्य अनेकों प्रभावों के स्तर दृष्टिओं से 'रावण' को विश्लेषित किया गया, सामान्यतया यहाँ मात्र कुछ छोटे-छोटे मूल भाव रखें हैं। यदि इसे विस्तृत रूप में रखना-देखना हो तो आप विस्तार से भी लिख सकते हैं। सामान्यत आप ने यहाँ देखा और अनुभव किया होगा कि यहाँ कोई भी स्वयं में असत्य व गलत नहीं है, जैसे कि न 'कबीर' गलत है न 'तुलसी' न 'हिटलर' न 'औरंगजेब' न 'उपनिवेशवादी' न 'निगमवादी' न 'मोदी' न 'रावण' न 'स्त्री' न 'दलित' न 'वर्ण-सवर्ण' बल्कि उसे गलत कराया जाएगा, बौद्धिक-समझ के आधार में, उदाहरणत: यदि पुन: देखें तो दलित, मार्क्सवादी, नारीवादी, आदर्शवादी आदि,'कबीर' को उचित मानते हैं, पूँजीवादी, बाजारवादी, भूमंडलियक कबीर को व्यापारी। पर्यावरणवादी उन्हें 'शुद्ध अगतितचर' प्राणी। समाजशास्त्री उन्हें 'गतितचर' व भारतीय सामंती उन्हें 'बदमाश-कूकुर' आदि। दूसरी ओर कुलीन-सामंतवादीयों के लिए तुलसी महान् हैं, व वहीं दलिताई उन्हें 'तोताचारी' मानते हैं। रणनीति और तानाशाहियत के लिए 'हिटलर' अनुकूल है। इस्लामियों के लिए 'औरंगजेव' देव है। 'उपनिवेशवाद, उत्तर-उपनिवेशवाद व निगमवाद' वैश्विक-व्यापार के लिए एक धन का बहुलकीय गणितीय-व्याकरण है। हिंदू समाज के लिए 'नरेंद्र मोदी' एक 'दुर्लभ महान्तम जीवित मूर्ति'। उपल 'सामंतवाद' के लिए 'कबीर' प्रतित (बिगाड़ू) है। दलिताई के लिए तुलसी और ऐसे ही अन्य।

ठीक इसी प्रकार आज पूरे विश्व में हजारों की संख्या में संघ और समूह हैं। ऐसे ही अनेक सिद्धांत, सिद्धांतिकियाँ व दृष्टियाँ जो एक-दूसरे के सकल विपरीत व गैर-विपरीत अर्थ पैदा करती हैं, अर्थात् यह कि जब समाज की निर्मिति विपरीत व गैर-विपरीत दुख और सुख, वातावरण की स्थिति के व्याकरण में निर्मित है तो विचार एक समान कैसे हो सकते हैं और वहीं कोई भी समुदाय और उनकी समझ एक साथ निश्चित समय से नही चले हैं। तब सबमें समान गति और 'समान बौद्धिक अर्थ' कैसे हो सकते हैं। अभिव्यक्तियाँ और मर्म-चित्र शक्तियाँ आयु के आधार में भी निकलती हैं

और अपनी प्रक्रिया पूरी करती हैं। इसलिए हमें किसी एक बिंदु, पाठ, व्यक्ति, पदार्थ, वस्तु, तत्व, समय को अनेक दृष्टियों में रख कर देखना होगा। किसी एक को पूर्ण व महान् मान कर नहीं। तभी वह उचित होगा। इसलिए जैव-प्रौद्यालोचना सिद्धांतिकी यह संकेत देती है कि तुलसी, कबीर, औरंगजेब, हिटलर, मोदी, योगी आदि को जब सदैव से पचास दृष्टिय-दर्शनों में देखने की आवश्यकता है, ताकि आलोचना को हम वैज्ञानिक रूप दे सकें।

इसे अन्य अर्थ में यदि कहें तो कह सकते हैं कि जैसे स्त्री-विमर्श को पुरुष-विमर्श गलत कह सकता है और पुरुष-विमर्श की दार्शनिकता में स्त्री-विमर्श गलत सिद्ध भी हो जाएगा। उसके मानने वाले भी हजारों की संख्या में होने लगेंगे, क्योंकि कोई भी दर्शन, विचार, दृष्टि, सिद्धांतिकी, समाज, समूह, संघ, पाठ, बिंदु, पदार्थ आदि 'व्यक्ति व वातावरण' के कर्म-क्रिया में पहले से ही विद्यमान है। पनपती और जन्म, वह अवसर पाकर हैं, तथा अपने बल के आधार-शक्ति में वह दूसरे को प्रभावित करती चलती है, और यदि वहाँ उसके वातावरण के लोग अधिक संख्या में हैं, तब उसका चारित्रिक बल और अधिक बढ़ जाता है। 'अबली' दृष्टि के पाठ व समूह को वह नष्ट कर देती है। प्रत्येक पाठ व्यापार-कर्मवश निर्मित किया जाता है। (व्यापार केवल धन के लिए ही नहीं होते बल्कि समाज व यस के भी व्यापार होते है, भारत में पृथ्वीराज, तुलसीदास, औरंगजेब, हिटलर, उपनिवेशवादी, निगमवादी, नरेंद्र मोदी ऐसे ही समाज-व्यापार के उदाहरण हैं।) जब उस पाठ के वातावरणीय-बल का समाज विलुप्त होने लगता है, तब वैसे ही वह पाठ, समूह, संघ, पदार्थ, वस्तु दृष्टियों की दृष्टि में आकर क्षीण की जाने लगती या करवाया जाने लगता है।

इसी प्रकार यदि 'योगी आदित्यनाथ' जी आदि जैसे मंत्रिज्ञ अवैध घर ढहवा सकते हैं तो यह राजनीतिक रूप से सही है। लेकिन वातावरण के आधार में जो पदार्थ लगाए गए जो व्यक्ति और मजदूरों के द्वारा बल एवं धन निवेशित किया गया था। जो बिना पर्यावरणक्षय के नहीं बन सकता और जो कलाकारी उसमें की गई थी। वह तो पर्यावरण, भौतिकता (वस्तुओं का लगाना) जलविज्ञान (शुद्ध पानी) और कलाकारवाद की दृष्टि से गलत हो गया, इस आधार में देखा जाए तो मंत्रिज्ञता उनकी गलत हो गई। राजनीति इतनी बड़ी नहीं है जितना पर्यावरण रक्षण बड़ा है, जल जो जीवन है आज के समय में। उससे हरजाना लिया जाए जिसने अवैध कार्य किए, और उससे बड़ा हरजाना मंत्रिज्ञ से लिया जाए जिन्होंने पर्यावरण, वस्तुओं का मूल्य, जल की वास्तविकता नहीं समझी। 'पदार्थ' पर्यावरण की वस्तु है न की विधि की। वह जब विधि की निगरानी में रखी जाने लगती है, तभी समय से उसके 'अन्त:-वातावरण' में एक द्वंद्व बनता और वह पदार्थ राजनीति या किसी अन्य पाठ द्वारा अपनी ओर खींचा जाने लगता है। वह तनाव में आता है। वह युद्ध का तत्व बनने लगता है। राजनीति अपने पाठ में उसे खींच लेती है, उसकी हत्या करती है। वह भी टुकड़े-टुकड़ों में। यह 'पदार्थ 'हत्या' सतत है। यह काम हर विषय दूसरे विषय के साथ लगातार करता रहता है, राजनीति, विधिपरकता स्वयं में सही हो सकती है, लेकिन पदार्थ के समाज में राजनीति गलत है, और राजनीति के आधार में

पदार्थ का स्वतंत्र होना गलत है। उसे किसी न किसी विधि में आना ही होता है ऐसा राजनीतिज्ञयों का मानना है। अब आप देखिये कि पदार्थ कैसे अपनी पदार्थाई स्वतंत्रता के लिए अभिशप्त है और राजनीति अपने अहम के लिए, राजनीति कहती है कि हमसे बाहर वह वस्तु या पदार्थ नहीं रह सकता या रखा जा सकता है। यदि उसे बाहर किया गया तो मैं (राजनीति) स्वतः ही समाप्त हो जाऊँगी। राजनीति की यही अंतिम सीमा है, और ध्यान रहे प्रत्येक वस्तु, पाठ, पदार्थ सब की 'जातिनीति' (शरीर शक्ति) होती है। इसलिए इस सहकार रूप को जैव-प्रौद्यालोचना से ही समझा जा सकता है।

यहीं पर हम यह समझेंगे कि कोई गलत क्यों नहीं हैं, क्योंकि जिसकी शरीर शक्ति और जाति वातवरण कमजोर होता जाता है, वही शासन व समाज और कभी-कभी प्रकृति द्वारा भी पीछे की जाने लगती है, क्योंकि हम चौतरफा विकास में होने के साथ (तो हैं भी यहीं यह भी ध्यान रहे कि चौतरफा विकास पर्यावरण-वातवरण के आधार से निर्मित होता है, क्योंकि जैसे ही कोई साधन असाध्य होने लगता है दूसरा साधन सासाध्यता हेतु निर्मित किया जाने लगता है) हम सतत होते हैं किंतु रेखीय भी, यही रेखीयता हमें दूसरे पाठों को गलत करने कराने के लिए अभिशप्त करती है, और इसकी अति गहरी समझ हमें न होने के कारण हम पाठों को मिटाते चलते है, मिटाने में कभी-कभी अपने पाठ की अधिक दिन तक प्रतीता व पदातिता बनी रहे के लिए भी हम प्रयास पाठ में पहले से 'जुता' व 'जुटा' चुके होते या करते रहते हैं, लेकिन यह आवश्यक नहीं की पदातिता तब तक चले ही या स्थिर रहे कि जैसी धारणा उसके प्रति हमने बना रखी है, और तब महान् संभावना यह बनती है कि समाज में जितनी भी सामाजिक सांप्रदायिकताओं की निर्मिति होती है, वह कहीं न कहीं इसी समझ के कारण होती है।

इसलिए जैव-प्रौद्यालोचना सिद्धांतिकी मानती है कि (व्याख्या, समीक्षा, मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद, संरचनावाद, उत्तर-संरचनवाद, विखंडनवाद, उत्तर-आधुनिकतावाद, सांस्कृतिक भौतिकवाद, विमर्शवाद, जैव-रचना, नव्य-इतिहासवाद, भौतिकवाद, जैववाद, रसायनवाद, भूगोलवाद, निगमवाद, लोकवाद अभियंजना व शैलीवाद, राष्ट्रवाद, गांधीवाद, बुद्धवाद, जैव-प्रौद्योगिकी, फासीवाद, शक्तिवाद, सत्तावाद, मानवतावाद, तकनीकिवाद, लोकवाद, समयवाद आदि और भी जो वाद कथित समाज के अंतः अस्तित्व में हों, उन सभी के आधार में इन समीकरणों, सूत्रों के सहारे किसी एक पाठ, बिंदु, पदार्थ, वस्तु आदि की आलोचना करनी चाहिए। तब जाकर किसी पाठ, बिंदु, वस्तु, पदार्थ, विधि, संघ, वर्ग, मीमांसा, दर्शन, विचार, नायक, खलनायक आदि की वास्तविकता के होने की पूर्णवत सत्यता हमारे सम्मुख उपस्थित हो पाती है। जिसकी गैर-उपस्थिति और उपस्थिति के कुछ संकेत पहले से समाजाचार्यों व साहित्याचार्यों में दृष्टित होते हैं, जैसे कहा गया कि "यह आवश्यकता पड़ने पर ऐतिहासिक दृष्टि से भी उस पर विचार कर सकते हैं, नैतिक दृष्टि से भी विचार कर सकते हैं, सामाजिक दृष्टि से भी विचार कर सकते हैं और साहित्यिक दृष्टि से भी विचार कर सकते हैं।"[1] ये संकेत जो हमें मिलते हैं यह साफ स्पष्ट करते हैं कि प्राचीन समय से पाठ की वास्तविक न्याय के लिए कई दृष्टियों से पाठ के खेलों को खोले जाने की आवश्यकता है। हालाँकि बात वे खुल कर न कह

सके। क्योंकि उस समय आलोचना के प्रति इतना बोध नहीं था। अतः आज यह कहा जा सकता है कि लेखक में यह प्रतिभा होनी चाहिए कि वह पाठ को कितने पाठों में खोल सकता है। (उसे किस विधि से किस सीमा तक किस होड़ में किस दावों के अनुसार व अनुकूलन में गलत किया जा सकता है या सही किया जा सकता है। पाठ, बिंदु, पदार्थ की वे सीमायिक जगहें दिखाना जहाँ से उन्हें गलत करने के लिए जबरन छीना जा सकता है या छीना जा रहा है व कभी-कभी एक पाठ या पंक्ति के माध्यम से दूसरे पाठ, विषय, समाज को घायल कर दिया गया होता है, फिर बाद में उसी पर नये पाठ के बीज बोये जाते हैं और गतित समाज के कुछ नये आयामों से उसे गलत या सही करने के सुराक या स्रोत मिलते रहते या बनाए जाते रहते हैं। सामाजिक राजनीति कहाँ, कैसे पाठ, वस्तु, बिंदु के गलत या सही होने के लिए जगहें देने के संकेत देती है। कौन सी विधि कहाँ पर पाठ में उलट-फेर के लिए किसी पाठक-रचनाकार को लेखन पाठन समय-स्वप्न में विधि बताती है। इसकी वास्तविकता जैव-प्रौद्यालोचना से ही संभव है। पूरी, अधूरी व वैज्ञानिक आलोचना के वास्तविकता का रूप है जैव-प्रौद्यालोचना सिद्धांतिकी' विशेषण, जैव-प्रौद्यालोचना सिद्धांतिकी आलोचना की प्रक्रिया को पूर्ण कराता है। क्योंकि आलोचक कभी-कभी पाठ के प्रति व्यक्तिगत बोलने लगते हैं "आलोचक यदि किसी कृति के विश्लेषण के संदर्भ में अपनी प्रतिबद्ध विचारधारा का आरोपण करता है तो निश्चित ही, कृति की व्याख्या दिशाहीनता की ओर जा सकती है।"[2] साथ ही कि "आलोचक केवल कृति का पाठक ही नहीं होता वह कृति के संपूर्ण अंतर्जगत को खँगालता है और इस प्रक्रिया के लिए उसे इतिहास, परंपरा, राजनीति, मनोविज्ञान, सृजन प्रक्रिया, साहित्यशास्त्र आदि-आदि न जाने कितनी ज्ञानात्मक धाराओं का हृदयंगम करना पड़ता है।"[3] ऐसा न होने पर आलोचना अपूर्ण रह जाती है। इसलिए वह पूर्ण करने की एक प्रयोगिक आलोचना विधि का नाम है। सकल वास्तविकता जानने के लिए यह समाज में किसी भी व्यक्ति, संस्था, संस्थान, संघ, समाज बिंदु, पाठ, पदार्थ, वस्तु, शैली, विषय, भाग, प्राणी आदि पर स्थापित व कसी-की जा सकती है। इसका खेल साहित्य में जितना महत्वपूर्ण है। उससे अधिक समाज और राजनीतिक विधियों के प्रति जो नागरिक-वस्तुओं पर लाद व लागू कर दी जाती हैं जो एक प्रकार से राजनीति और सामाजिक अत्याचार हैं, राजनीति के अत्याचारों को इसी सिद्धांतिकी से अधिक गहरे समझा जा सकता है। राजनीति की तानाशाही की रेखाओं को इसी से पकड़ा जा सकता है और चाहें तो समाज में फैली आपराधिक सारणियों को रेखांकित व चिह्नित किया जा सकता है, के लिए बहुत आवश्यक है।) जबकि चाहिए यह कि उपरोक्त सभी सिद्धांतिकियों के आधार में एक 'पाठ', वस्तु, बिंदु, पदार्थ आदि को खोला जाए। "इसीलिए आलोचक का कर्तव्य हो जाता है, वह स्वयं उस यथार्थ को लेखक से भी ज्यादा समझे और यथार्थ के संबंध में लेखक जो कुछ कहता है- उसे प्रामाणिक न मान ले।"[4] इतना ही नहीं बच्चन सिंह जी भी ऐसे ही 'आलोचना की वास्तविकता' के प्रति बहुत कुछ भावार्थ में लिए हुए कहते हैं कि "आज की आलोचना के लिए सबसे जरूरी है, आधुनिक मानवीय स्थिति (ह्यूमन सिचुएशन) के संदर्भ में संरचना का विश्लेषण और मूल्यांकन। पुरानी आलोचना पद्धतियाँ जिस सीमा तक हमारी सहायता कर सकती हैं, उस सीमा तक किंचित परिवर्तन

के साथ हमें ग्राह्य हैं।"[5] अर्थात् वही कि आज के आलोचक को चाहिए कि वह संपूर्ण संसार की सिद्धांतिकियों व साथ ही आने वाले संभावित विभागीय-वातावरणीय दृतियों के दर्शनाधार में पाठ को खोले अनन्य विधियों में उसे पढ़ें देखे व उसे पूर्ण बनाए। उदाहरण के रूप में यदि हम देखें तो-

2. जैव-प्रौद्यालोचना में श्रीरामचरितमानसः मैं यहाँ श्रीरामचरितमानस जी को जैव-प्रौद्योलोचना के मध्य या प्रयोग में इसलिए ले रहा हूँ क्योंकि यह ग्रंथ विश्व में सबसे अधिक मिथार्थ व यथार्थ को साथ लेकर चलने व संस्कृति : रहन-सहन में सहायक होने के साथ ही भारतीय समाज में यह सबसे अधिक पढ़ा और उदाहरणों के रूप में प्रयोगित किया जाने वाला ग्रंथ है और सबसे बड़ी बात यह है कि लगभग इसमें समस्त विश्व-व्यवहारिता समाहित है। इसलिए इसे विश्व की समस्त दृष्टियों के आधार में खोला जा सकता है।

2.1 अस्तित्ववाद और मानसः मानस में प्रत्येक पात्र अपने अस्तित्व की संस्कृति को दृष्टित करने के लिए संघर्षरत है, जिसमें भी कोई किसी का नहीं है। यहाँ तक कि मानस के नायक नायिका अन्य पात्र और कृतिकार भी अपनी पीड़ा से पीड़ित है और अपने प्रसन्नता से प्रसन्न भी? उदाहरतया कहा जा सकता है कि जब मानस नायक के पिता जी की जब मृत्यु हो जाती है, उनका भाई और सारा राज्य समाज दुखी है तब कामू के स्ट्रेंजर पात्र की तरह उसे कोई प्रभाव नहीं पड़ता, जैसे उसकी माँ के मरने पर उसे कोई विचलन न हुई।

3.2 प्लेटोवादः रामजीचरितमानसः प्लेटो कवियों के प्रति संवेदनशील, उदार होकर भी उन्हें या उनके कार्य को तीसरे स्तर का क्यों मानता था अथवा प्लेटों कवियों देश निष्काषित कर देने के साथ को बुरा इसलिए मानता था क्योंकि जो या जिस राज्य रूप की वह कल्पना करता था उसकी उस राज्य तकनीकि कल्पना में कवि बाधा उत्पन्न करते से लगते थे, जबकि कवि के गुण का महत्व वह स्वीकारता था और स्वयं संगीत व अन्य कला को महत्व देता था। किंतु कवि अथवा लेखक जब 'संवेदनीयकला-गुण' के बजाए राजनीति की नीति में हस्तक्षेप करने लगता है, तब वह उन्हें देश से निष्कासित और अधूरे ज्ञान वाला व अयोग्य नागरिक मान लेता है, और एक मानी में यह सत्य भी है कि कलाकारी वर्ग राज्य वर्ग में हस्तक्षेप न करते हुए कला वर्ग में विकास करे। किंतु आज लगभग ही कोई ऐसा लेखक होगा जो छुटपुट संज्ञानिक होते ही राजनीति में हस्तक्षेप न करता हो। भारत में ही आज बहुत से ऐसे दलित जिनमें केवल भारती, महिला लेखिकाएँ जिनमें तसलीमा, अरुंधति आदि कवि जैसे धूमिल, मुक्तिबोध आदि रहे हैं। जिन्हें प्रताड़ितना और दंड भी किया जाता रहा, किंतु यदि जैसे अंग्रेजों के चापलूस रहे रवीन्द्रनाथ, राजा राममोहन आदि बहुत ऐसे लेखक रहे जिन्हें उस शासन में कोई कारावास नहीं मिला, किंतु अंग्रेजियत के विपरीत लिखने वाले लेखकों को जैसे माखन लाल, सुभद्रा आदि को दंडित भी होना पड़ा। यहीं पर यदि देखा जाए तो कहा जा सकता है यदि शासन कंयुनिस्टों का हो तुलसीदास को दंड मिलना तय है क्योंकि मानस में वे जो भी कुछ कहना-दिखाना चाहते हैं वह सब कंयुनिस्ट और काँग्रेस के विपरीत है क्योंकि मानस में हिंदुत्ववाद है और यदि शासन

भारतीय जनता पार्टी का है तो अरुंधति जैसे लेखिकाओं को, रवीश कुमार जैसे पत्रकारों, पचौरी जैसे आलोचकों को दंड मिलना तय हैं क्योंकि ये सभी शासन के विपरीती हैं, सामान्यत: यदि आज भारतीय जनता पार्टी का प्रमुख मोदी जी के स्थान पर प्लेटो होता तो वह अपने विपरीतियों जिनमें लेखक के अलावा अन्य को भी रखा जा सकता है को अनागरिक मान लेता अर्थात् शासन के विपरीत सोचने वाले के लिए प्लेटो अनागरिक मानता है जो राज्य के विकास में भी हानिकारक थे। कभी-कभी ऐसा होता है कि राजा एक उद्देश्य के साथ अपने राज्य का विकास करना चाह रहा होता है और एक ढाँचा बनाता है किंतु कवि अपने स्वभाव से तिकड़मी या कवई मुर्हट्ट होने के कारण उस खेल को बिगाड़ देते हैं या बाधा उत्पन्न करते हैं।

इधर यह कुछ इस प्रकार दिखा जैसे धर्मवाद या भारतवाद को लेकर श्री मोदी जी! अब यदि कहा जाए की क्या यह भारत के लोगों के लिए सही है या गलत है। यहाँ यह मैं तो कुछ कह नहीं सकता किंतु भारत सरकार ने ऐसी सभी पत्रिकाओं समाचार वालों की छुट्टी कर दी जो भारतवाद के विपरीत बोलते लिखते थे। किंतु शासन के परिवर्तित होते ही वे सभी पत्रिकाएँ पुन: जीवित हो उठेंगी। यह अंदर की बात है। ऐसे ही प्लेटो के समय के भी कवि रहे होंगे। जो प्लेटोवाद में बाधा बनते होंगे, और इस प्रकार प्लेटो ने कविता और कवि दोनों को निम्नवत स्तर का बता कर कवि और कविताओं को देश से बाहर करने की बात की है। क्योंकि वह प्लेटो दृष्टि में हानिकारक बनते हैं। देश के विकास में तुलसी जी की कविता या चरितमानस जिनके लिए बाध्यकारी थी। वे उसका विरोध अवश्य ही करते होंगे। आज भी करते हैं। तबके कुछ मुसलमान आज के कुछ दलित, ईसाई, सिख और अन्य।

4.3 मनोवाद: मनोविश्लेषण: मानस जैसे कि मन अपनी प्रक्रिया के आधार बायो-इलेक्ट्रोकाल्पनिक से होकर गुजरता है इससे पहले भी मनोविश्लेषण एक जीवकीय-प्रक्रिया का नाम है, चूँकि वह स्वाभाविक और प्राकृतिक होती है इस लिए उसे कभी भी सिद्धांतिकी के अंत: नहीं रखा जा सकता किंतु सिगमंड फ्रायड के मनोविश्लेषण का प्रभाव इतना अधिक रहा कि लोग इस प्रक्रिया को न समझ सक लेने से पहले उसे सिद्धांतिकी मान बैठे जबकि फ्रायड ने उसे स्वयं 'मनोविश्लेषण' विशेषण से संबोधित किया, जो स्वयं में अपूर्ण होने के संकेत सदैव के लिए छोड़ती है, इसे एक बड़े प्रमाण रूप में तब देखे जा सकते हैं जब इसे एडलर और युंग ने अन्य रूपों में भी प्रस्तुत किया, किंतु फिर भी लोगों के मानी आधार के आधार में कहा जा सकता है कि फ्रायड व उनके अन्य सहवादियों ने जो मनोविश्लेषण को लेकर जो आयामी यंत्र निर्मित किए जिनसे 'मन' को समझा जा सकता है चाहे वह चेतन, अचेतन, हीनता या कोई अन्य आयाम तब हमें आवश्यकता पड़ती है तुलसीदास के वास्तविक जीवन या आत्मकथा की और तुलसीदास की आत्मकथा कहीं भी रचित नहीं है जो वास्तविकतायें उनके प्रति लिखीं गईं हैं वे सभी काल्पनिक व पाठ-सहनिर्मित हैं, यदपि जब आत्मकथा ही उपलब्ध नहीं है तो उनके ग्रंथों पर मनोविश्लेषणीयता प्रक्षेपित नहीं की जा सकती। हाँ इतना अवश्य है कि कोई चाहे तो यह कह सकता है कि जीवन चिह्नों के सहयोग से बहुत कुछ जाना

जा सकता है। तब उस आधार में एक ऐसा प्रयास किया जा सकता है। किंतु वह किसी प्रकार वास्तविकता को प्रदर्शित कर सकेगा यह नहीं कह सकते।

5.4 मानसः मार्क्सवादी आलोच्य सेः मानसकार ने जिस दर्शन के आधार में मानस की निर्मिति की है वह हिंदुत्व-संस्कृतिपरक हो सकती है किंतु हिंदुत्व के अन्तः अन्य सांस्कृतिक आयाम जिनसे हिंदुत्व और हिंदुत्व की संस्कृति पूर्ण होती है उसका दर्शन कहीं न कहीं मार्क्स के दर्शन से मिलता है, अब यहाँ यह कहते नहीं बनता कि क्या यह वही है जिसके बारे में कबीर ने लिखा जैसे 'निर्गुण के गुण' और मानसकार ने निर्गुण और सगुण में कोई भेद न करते हुई समन्वय स्थापित किया, क्या यह वही प्रभावशक्ति है जो बाद में आवश्यकता और समयवश मार्क्स-दर्शन में दृष्टित हुई। उस आधार में यदि देखा जाए तो जो मार्क्स ने 5 सौ वर्ष बाद किया वह कबीर के सहयोग से मानसकार ने कुछ विशेषताएँ पहले ही दिखा दीं या कुछ प्रयोग सनातनी स्थिति में हो सकते हैं यह भी कहा जा सकता है। इस प्रकार यदि देखा जाए तो मानस के उत्तरकांड में हिंदुत्व जागरण की आधुनिकताई और मानसनायक में मार्क्स दोनों देखने को मिलते हैं।

6.5 बाजारवाद और मानसः मानस के बाजार परक बिंदुओं के माध्यम में यह देखा जा सकता है कि जब तुलसीदास ने मानस की निर्मिति की उस समय, मुगलवाद, जो बहुत अधिक हिंदुत्ववादी संस्कृति को, बड़े संवेदनीयता के साथ अपनी ओर खींच रहा था, जिसकी प्रतीतन, बहुत निम्न संख्या में हिंदुओं को हो रही थी, जिनमें तुलसीदास जी भी एक थे। बाजार और उपभोक्ता के मध्य एक गुप्त सूत्र कार्य करता है 'वस्तुः समय' तुलसीदास जी बहुत उचित समय पर मानसः पदार्थ को समाज में उपस्थित कर सके। दूसरे मानस में कुछ ऐसे प्रसंग जो हिंदू समाज अर्थात् उपभोक्ता में अपनी विरासतीय संस्कृति के दर्शन के मध्य रो और जागरण उत्पन्न कर सके, वे प्रसंग जैसे भगवान शिव की उपस्थित, कैकई और दशरथ वार्ता अर्थात् स्त्री-लीला, परिवार का टूटना, केवट संवाद, भरत मिलाप, सीता हरण, लंका दहन आदि। ये ऐसे प्रसंग हैं जो हिंदू समाज में जागरण उपस्थित करते हैं। तीसरे भाषा जो अवध में प्राचीन समय से उन लोगों की रही है जो राम जी के पृषोत्मी वातावरण में रहे हैं और शैली भी रागात्मक रही, भाषा व शैली के सहज होने से उपभोक्ता समाज में वह बाथ की तरह पल्लवित हो गई। स्थानीय भाषा से व्यापार में तेजी आती है, और इस तरह मानस रामरतीय समाज में एक ब्रांड बन गई।

6.5.1 पत्रकारितवाद एकः सामयिकता को देखते हुए यदि कोई घटना समाज में घटती होती है, तो मानस को प्रसंग और संदर्भ में लिया जाता है। जैसे यदि कोई यह कहने लगे कि मानस तुलसी की रचना नहीं है, तो तुलसी के मानसकार होने के प्रमाण रखे जाएँगे, वह भी समय की लहर और राजनीति को देखते हुए, और यदि कोई यह कहे कि केरल राज्य में चमगादड़ अधिक संख्या में पाये जाते हैं क्योंकि वहाँ अन्य समाज निंदक अधिक हैं, तब पत्रकारिता-भाषा में यह कहा जा सकता है कि 'सब कै निंदा जे जड़ करहीं। ते चमगादुर होइ अवतरहीं॥' अर्थात् समयानुसार प्रसंग निर्मिति पाते रह सकते हैं।

6.5.1.1 पत्रकारितवाद दो: मानस को यदि पत्रकारिता दो की दृष्टि से देखें तो संपूर्ण मानस ही राजनीति और सांप्रदायिकता का केंद्र माना जाएगा जिसके कई बिंदुओं को पाठ के रूप में निर्मित किया जा सकता है जैसे मानसनायक का वन-गवन, पंचवटी, हरण और लंबे समय तक चला अंतरराष्ट्रीय युद्ध जिसमें उन लोगों की गणना जिनकी जाने गईं है, वे इमारतें व स्थान जो ध्वस्त हो गए, और जिनके चलते बड़ी संख्या में छतियाँ हुई हैं, उस युद्ध, नीति-अनीति से प्रभावित बहुत से रचनाकारों ने बड़ी संख्या में जहाँ तक बुद्धिजीवियों में सूचनाएँ पहुँचीं हैं, ने कई ग्रंथ राम-रावण पर रचे हैं। इस आधार में यदि देखा जाए तो भारत के प्रत्येक राज्य में रामायण से संबंधित कुछ न कुछ अवश्य लिखा गया है जिसमें सबसे बड़े समाचारी मानसकार तुलसी रहे हैं।

6.6 विखंडन: मानस: विखंडन यह कहता है कि मानस के लिखे जाने का मुख्य कारण क्या है? मानस ने जिस वर्ग, समाज, संस्कृति को प्रणीत किया है, वह आज कितना सार्थक है अन्य समाज के लिए और मानस से पहले कितना सार्थक था? जब समाज के दर्शन को पहले से ही राजनीति के माध्यम और मनुष्य की समझ के आधीन कर दिया गया है, तब क्या यह समाज से संवेदनशील शतुरता नहीं? क्या समाज भी एक फिल्म की तरह है? तुलसीदास जी ने रत्नावली का क्या किया? पशु-प्राणियों में निर्देशन को ग्रहण करने की सामर्थ्य की लीला किसने प्रदान की थी? यदि ब्रह्मा जी से सब निर्मित है, तो यह लीला क्यों और किसके लिए? शक्तिशाली लोगों को ही समाज में क्यों स्थापित और पूज्य हैं? जब कि सारे शक्तिवान व्यक्ति आतंककारी होते हैं, भले ही वे अपने राष्ट्र के लिए विशेष नेता हों? हिंदू समाज अपनी संस्कृति, मानवता, सत्यता आदि की आयामों में पूर्ण होता है, जिसके पार्टी वह न मात्र अपने राज्य बल्कि परिवार तक को बलि देने के लिए इतिहासित है, तब देव लोक में ऐसा क्यों नहीं? यदि हिंदू समाज में अनीति नहीं है, तब अनीति की इतनी सूक्ष्म जानकारी कैसे? आदि बहुत से प्रश्न विखंडन कि शोर से मानस पर स्थापित होते हैं।

6.7 धर्मवाद: हिंदुत्ववाद और मानस: मानस को यदि एक धर्म-विभाग के आधार पर देखा जाए तो आप वैश्विक ज्ञान में यह पाएंगे कि विश्व-समाज में जितने भी धर्म हैं, उन सभी धर्मों में एक ऐसी पुस्तक अपने-अपने धर्म को लेकर अवश्य निर्मित की गई है, जिसमें उस धर्म के व्याकरण की विधि-वैश्विक जानकारी निहित होती है और सभी धर्म अपने रूप में वैश्विक पूर्णता को स्थापित करते हैं व धर्म-संस्कृति के अंत: निहित संस्कृतियाँ जो धर्म के पहरे का कार्य करती हैं, किंतु वहीं कुछ धर्मों में पशु-बलि व कट्टरता जैसे इस्लाम, अनीति व निरंकुशता का प्रभाव जैसे ईसाई, नकारात्मकता जैसे बौद्ध जो अपनी संस्कृतियों के कारण उस स्तर पर विशिष्ट नहीं है, जिस स्तर पर हिंदू धर्म है और हिंदू धर्म की सारी विशेषताएँ तुलसी के ग्रंथ मानस में मिलती हैं।

6.7.1 चौतीस कोटि देव-परिवार: यदि देव परिवारों के होने की यदि बात की जाए तो जैसे एक सामान्य सी बात किसी पुरुष को नींद का आना या न आना, यदि नींद नहीं आती है और नींद आने-आने लगे किन्हीं कारण तो उसका अस्तित्व वास्तव में उस व्यक्ति के लिए दैवीय हो जाता है, वहाँ

नींद देव की कल्पना सहर्ष मन में उठने लगती है क्योंकि सारी वनस्पतियाँ प्रकृति देव द्वारा निर्मित हैं जिनसे औषधियाँ बनती हैं, और इस तरह प्रकृति देव, दिन देव, सूर्य देव, अग्नि देव, समुंद्र देव, जल देव आदि अनेकों देवताओं का होना संभव हो जाता है। यह एक बड़ी वास्तविकता है संसार के सभी पदार्थ, जीवन के लिए देव ही हैं। जिनमें बाँट से देवों का उल्लेख मानस में कई स्थानों पर होता रहा है।

6.7.2 मानवता: वैसे आज मानवता के नाम पर बाजार निर्मित किए जाने लगे हैं और मानवता समाज को लूटने का एक बड़ा पदार्थ बन चला है, किंतु मानवता अपनी क्रिया के अन्त: सदैव समाज में व्यवहार–कुशलता, सहयोग, नीति, उचितता, सामंजस्य आदि को परिफलित करता है, आज उसका प्रयोग किसी की लक्ष्य प्राप्ति के लिए किसी भी प्रकार किया जा रहा हो, किंतु मानस में समाज को विकसित करने के लिए आज भी प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपने दर्पणीय रूप में है और मानस में यह वालि वध, विभीषण–संवाद, रावण–मंदोदरी संवाद के समय दिखाई पड़ती है। जिससे वे वर्ग बहुत कुछ शिक्षा अर्जित कर सकते हैं, जिन देशों की सीमा समस्याएँ आज भी बनी हुई हैं। इसी प्रकार अहिंसा, परोपकार, अनीति पर नीति की विजय अर्थात् सकारात्मकता, वासुदैव कुटुंबिकता, ज्ञान–दर्शन, सदाचार, नैतिकता, आज्ञापालन, देव–निर्मिति, 6.7.3 वातावर्णित – मानस में यदि वातावर्णित के दृश्यों को चिह्नित किया जाए तो सैन्य रूप में आज जिस गोरिल्ला सैन्य वर्ग को निर्मित किया गया है, वह बहुत कुछ मानस में उपस्थित सैनिकों से मिलता है। जो प्रत्येक राष्ट्र–सैन्य के लिए एक विरासत का प्रतीक माना जा सकता है।

6.7.4 दीवाली: लोक जागरण: दीवाली एक ऐसा पर्व है, जो अनीति पर नीति का प्रतीक है, यह प्रत्येक वर्ष यह जागरण उपस्थित करता है कि, अनीति पर संदा से ही नीति की विजय रही है, और यह समझ एक सकारात्मक पदार्थ बनती प्रतीत होती है, जो विश्व भर के लोगों के लिए जागरण एक वरदान है। ठीक इसी प्रकार मानस हिंदू धर्म के अन्त: स्थित समाज, संस्कृति, परंपराओं आदि को पूर्णतया परिभाषित कर लेने में सक्षम है, किंतु संसार में कोई भी ऐसा ग्रंथ नहीं है, कोई धर्म नहीं है जो वैश्विक समाज को महान् जागरण प्रदान करता हो? और यह सभी विशेषताएँ मानस में उपस्थित है।

6.8 भाषावाद: भाषावाद के अंत: यह अनुभवित किया जाता है कि कृति जिस भाषा में रचित है, उसकी भौगोलिक स्थिति क्या है, और वह उस भाषा–भाषियों पर कितना अधिक प्रभाव और लाभ–हानि प्रदान कर सकी है।

6.8. अ भाषावाद एक: संप्रेषण इस प्रयोग में यदि मानस को देखा जाए तो कहा जा सकता है कि वह जिस परिष्कृत अवधी में रचित है, अपने लोक–संचारक्षेत्र में लगभग 150 कोस के परिप्रेक्ष्य में संचारण–माध्यम के रूप में बनी हुई है, उस रूप में मानस एक बोली–भाषा में भी लिखा

जाकर भी : विश्व की अन्य किसी भाषा में लिखा गया ऐसा कोई ग्रंथ नहीं है जो विश्व ग्रंथों में सबसे अधिक पढ़ा जाता हो। अनुभव कहता है की लगभग भारत में ही 3 करोड़ बार लोगों द्वारा सहर्ष उसका वाचन प्रति वर्ष किया जाता है। मानस में अवधी के चौपाईराग, छंदराग, दोहाराग लोकराग में अवधी को एक प्रयोगिक भाषा बना देते हैं। जिसमें बड़े से बड़े विद्वान खो जाते हैं।

6.8.ब भाषावाद दो: अर्थ भाव संप्रेषण: मानस को यदि भाषा प्रयोग में देखा जाए तो मानसकार को अपनी समझ भर सबसे बड़ा भाषयिक माना जा सकता है, क्योंकि मानस में अर्थ भाव एक सतत रूप में खुलते व चित्रक की भाँति, एक पंक्तिवार दृश्यित होते चलते हैं, उदाहरणत: यदि देखा जाए कि जैसे 'भय प्रकट कृपाला, दीन दयाला कौसल्या हितकारी।' कृपाला और दीनदयाला व हितकारी तीनों के अर्थ समान ही हैं, अर्थ भाव में एक क्षण का भी विचलन नहीं है और साथ ही यहाँ यह भी स्पष्ट होता है कि मानस की भाषा अवधी न होकर हिंदी ही वह मात्र राग में आने के कारण लोगों को, रागभ्रम के कारण अवधी प्रतीत हो रही है, जबकि अवधी से मानस का कोई संबंध नहीं है।

6.7.स भाषावाद तीन: अर्थ पदार्थ संप्रेषण: मानस में अर्थ जिस प्रकार पदार्थ उपस्थित होते हैं वे सामाजिक रूप में कभी मेल नहीं खाते, यही रूप है जो उसे मिथक बना देता अन्यथा मानस भाषा के रूप में विश्व का सबसे विशिष्ट ग्रंथ होता। जैसे 'भय प्रकट कृपाला, दीन दयाला कौसल्या हितकारी।' यहाँ किसी भी प्रकार यह सिद्ध नहीं हो सकता जो ईश्वर है, वह क्रपालु कैसे, और जो क्रपालु है वह प्रगट कैसे? और साथ ही ईश्वर में समता कैसे व ईश्वर प्रकृति कैसे, फिर प्रकृति जीव-प्राणी के लिए हानिकारक और लाभकारक कैसे? यह अर्थ पदार्थ की व्याकरण में आने वाली एक समस्या है जो कहीं न कहीं विश्व के बहुत से ग्रंथों में मिलती है, मानस भी यहीं विशिष्ट होकर भी शून्य की ओर आती दृष्टित होती है। इस भाषा के माध्यम से कृति को वैज्ञानिक बनाना नहीं है बल्कि विज्ञान में भी अर्थ पदार्थ की समस्या है।

6.7.द भाषावाद चार: अर्थ प्रतीक संप्रेषण: अर्थ प्रतीक में मानस बहुत पुष्ठित नहीं दिखाई पड़ती, मानस में जो अर्थ प्रतीक दिखाए गए हैं वे अपने रूप में मनुष्य की प्रकृतिक परिभाषा में स्थिर नहीं हो पाते। जैसे 'बल की निर्मिति और उसकी स्थिरता' रामजी और हनुमान, रावण आदि में जो 'बल' स्थित होना दिखाया गया है, पृथ्वी-व्याकरण के नियम में वह कभी संभव नहीं हो सकता, जबकि उन्हें तुलसी ने उन्हें मनुष्य, वानर, राक्षस में स्थिर कर दिया है, पृथ्वीबल अपने स्थान से किसी वस्तु को तभी छोड़ता है जब उस पदार्थ में उस स्थान से अधिक बल हो? जैसे मानव शरीर में बल की मात्रा.....उसी आधार में तीर दूरी स्थापित करता है, किंतु मानस में यह संपन्नता नहीं है।

6.8.1 (रसवाद) और मानस: जब किसी कृति की निर्मिति समाज की तकनीकि में निहित दर्शन के आधार में की जाती है तब उस कृति में रस बहुलक में दृश्यित होता है, मानस में निहित राज, नायक, तथा तकनीकि उस समय के समाज के दर्शनाधार के अनुकूल है। क्योंकि मुगलों के शासन के

कारण बहुत से लोग अपने हित, स्वार्थ व रक्षा के लिए दूसरे धर्म की ओर प्रस्थान कर रहे थे और निम्न स्तर के लोग स्वयं को विद्वान मानने लगे थे। रसवाद के आधार में मानस विश्व का सबसे अधिक आनन्ददातयी ग्रंथ है, क्योंकि इस ग्रंथ में ऐसे–ऐसे दृश्य हैं जो एक प्रकार से आज के समय में अनुपमता, नैतिकता, शिक्षापरक आयाम दृष्टित होते हैं।

6.8.1.1 प्रमाताः ऐसे प्रमाता सामाजिक दर्शन और कृत के दर्शन में अपना सामाजिक हित मानते हैं, तथा समय–कुसमय कृति से आनंद प्राप्त किया करते हैं। जिनमें साधू व ब्राह्मण उपस्थित रहे।

6.8.1.1.1 बाजारयक प्रमाताः ऐसे प्रमाताओं में शिक्षार्थी, अन्य राष्ट्रीय माने जाते हैं। माना जाता है कि मानस हिंदी भाषा में रचित एक ऐसा ग्रंथ है जो विश्व में 43 सबसे अधिक पढ़े जाने वाले ग्रंथों में स्थापित है।

6.8.2 लोकवाद और मानसः यदि मानसकार अपने इष्ट की विशालता दिखने के प्रति बहुत अधिक लगाव न रख रहे होते तो मानस में ऐसा लोक स्थापित किया जा सकता था कि जिसकी कल्पना विश्व के सभी शहर सम्मिलित होकर भी नहीं कर सकते थे। किंतु मानस में लोकपक्ष कुछ कमजोर हो गया है, मानसकार ने उसे सीमित कर दिया। जिसका सबसे बड़ा कारण था मानसकार की मनोवैज्ञानिक स्थिति, क्योंकि तुलसी लोक से जुड़े हुए थे इसलिए लोक के प्रति अलगाव का उपस्थित होना स्वाभाविक हो जाता है।

6.8.3 अभिव्यंजनावाद और मानसः मानसकार ने मानस की अभिव्यंजना के एक पक्ष को सबसे अधिक विशिष्ट कर दिया एक को बहुत अधिक कमजोर।

6.8.3.1 भावाभिव्यंजनाः मानस को सात कांडों में मानसकार ने विभाजित किया है। मानसकार की यह चतुराई है कि वह भावभिव्यंजना को उच्च स्तर पर ले जाने के भाव को रख कर काण्डों और प्रसंगों के बीच बाह्य कथाएँ जोड़ने लगा जिससे भावाभिव्यंजना कमजोर हो गई सी प्रतीत होती है।

6.8.3.2 कलाभिव्यंजनाः मानसकार ने मानस की कलाभिव्यंजना को सबसे विशिष्ट बना दिया है, मानस उस समय के आज तक या जब तक मनुष्य जीवित रहेगा तब तक की सोच के आधार के प्रसंग निर्मित कर दिए हैं, अनेकों छंदों, रागों, रसों, अलंकारों, अर्थों आदि के प्रयोग से मानस का कलाभिव्यंजन उस आज तक के समय की सबसे उच्च स्तर की कृति है।

6.8.4 औदात्यवाद और मानसः मानस में राम, हनुमान आदि कुछ ऐसे पात्र हैं, और सबसे अधिक तो भाषा की सहजता जैसे वड्र्सवर्थ ने भाषा सहजता की बात की उस रूप में श्रीराम से राम और श्रीराम तक की कथा मानस में महान् औदात्यता प्रविष्ट कर देती है। इसमें भी दो रूप औदात्यता को विशिष्ट बनाते हैं।

6.8.4.1 प्राकृतिक औदात्य पदार्थः समाज में कुछ ऐसे प्राकृतिक पदार्थ हैं जो लोक में मानस के निर्मित किए जाने से पहले ही समाज में अपना स्थान अपनी विशेषतावश स्थिर कर चुके हैं, सम्माननीय रूप प्राप्त कर चुके हैं या उन्हें उसी कृति या अन्य कृतियों कथाओं के माध्यम से उत्कृष्ट बनाया गया है। जैसे किसी राजा व उसके राज्यकारी की पहले से ही महान् चर्चा, जैसे किसी प्राणी व किसी स्थान विशेष का बहुत अधिक सुंदर होना आदि। मानस में ऐसे कई स्थान हैं, ऐसे कई लोग हैं, ऐसे राजा हैं, जो प्राकृतिक औदात्य की श्रेणी के योग्य हैं। शायद इसीलिए मानस समाज में उत्कृत्ष्ठ स्थान प्राप्त कर पायी।

6.8.4.1.2 सामाजिक औदात्य आयामः मानस में सामाजिक औदत्याई आयाम जैसे मर्यादा, लज्जा, देव पुरुष, महान्शक्तियाँ, परंपरा पालन, दानवीरता, युद्ध, धन, विद्या आदि ऐसे आयाम हैं, जो किसी कृति के महान् औदत्याई बनाने में महान् सहयोग देते हैं, क्योंकि इनसे जन सामान्य की गहरी संवेदना व आत्मीयता लगी होती है, जिसे न चाह कर भी व्यक्ति चाहे उस कार्य में सांप्रदायिकता ही क्यों न निहित हो। मानस में यह सामाजिक औदात्यी आयाम प्रत्येक पृष्ठ में लगभग उपस्थित हैं।

6.8.5 अलंकारवाद और मानसः अलंकारशास्त्र के रूप में यदि देखा जाए तो मानस बहुत अधिक अलंकृत नहीं हो सका इसका एक बड़ा कारण यह भी रहा है जब कथा औदात्यपूर्ण हो तो कृतिकार को कथानुकूलन की नीति का पालन और उसकी नैतिकता बनाए रखनी पड़ती है, हाँ यदि मानस को निर्गुणीय ग्रंथ होता तो उसमें अलंकारों का मनमाना प्रयोग किया जा सकता था। किंतु फिर भी मानस में बहुत अधिक मानस कार की कलाचेष्ठा पर जोर रहा है।

6.8.5.1 पात्र-अलंकारः मानसकार ने मानसनायक को संपूर्ण कृति में अद्भुत अलंकारों आदि से रंजनलोकित किया है। वे कहीं करुणाकारीलंकार में स्थापित हुए हैं तो कहीं जगदीशालंकार आदि में, यह सबसे अद्भुत बात है कि मानस में ऐसे दृश्य स्थापित है। यहाँ तक की सूर्पनखा में उत्तर-आधुनिक विशेषताई लक्षण दिखाई पड़ते हैं और आज भविष्य में पुरुष विमर्श के लक्षणः लक्ष्मण आईने में स्त्री के रूप में होने वाले पाठ दृष्टित होते हैं। जिसकी अभी बहुत कम कल्पनाएँ हो पा रही हैं। आज जिस प्रकार दसयों दृष्टियों में व्यक्ति सोच समझ लेता है, रावण के आधार में वह मानस में वह बहुत पहले ही दिखाया जा चुका है।

6.8.5.2 पदार्थ अलंकारः मानस में विशाल से विशाल हथियार और दृश्य दिखाए गए हैं, जैसे पत्थर आदि से सेतु निर्माण, संजीवनी और धनुष और अन्य आभूषण आदि अपने-अपने रूप व स्तर में अलंकृत हुए हैं। यह बहुत कम ग्रंथों में हुआ है, और आज यदि कोई आयुधशास्त्र संबंधी तर्क स्थापित करें तो महाभारत के मानस स्थान निर्धारित किया जा सकता है।

6.8.5.3 वातावरण अलंकारः पुष्पवाटिका, स्वर्ण लंका, विवाह-विधि, युद्ध-नीति युद्ध-स्थान जैसे आज पोखरण, श्रीहरिकोटा स्पेश सेंटर आदि जगहें समुद्र के किनारे ही के आधार में

मानस में पहले ही दृष्टित हुई हैं। ये कुछ ऐसे वातावरण प्रसंग हैं, जिसके आधार में यदि मानस को रखा जाए तो महान् से महान् वातावरण सौंदर्यात्मक पाठ मानस से ही निगणित किए जा सकते हैं।

6.8.6 (ध्वनिवाद): मानस में मौलिकता बहुत अधिक है, यद्‌यपि लक्षणा और व्यंजना दोनों अभिधा की सहायक है, जिसे विद्‌वान भिन्न-भिन्न रूपों में दिखाते हैं।

6.8.6.1 अभिधा: अभिधा का सहयोग अभिधापदार्थीय, अभिधाव्यक्तित्विक, अभिधामौलिक, अभिधाध्यानीय, अभिधाप्रभाविति आदि के द्‌वारा होता रहा है, यह मानसकार को समाज के संरचनात्मक तकनीकि की बहुत अधिक जानकारी होने का प्रभाव ही है कि वह उत्तरकांड को मानस में ही स्थान दे देता है, मानस की अभिधा उत्तरकांड में ठीक से देखी जा सकती है। जिसे अभिधाव्यक्तित्व के सहयोग से निर्मित किया गया है, जबकि वह एक अलग पाठ है। अब कोई चाहे तो मानस के अलग होने का पाठ भी निर्मित कर सकता है।

6.8.6.1.1 लक्षणा: जो भी भारतीय समाज में है वह सब मानस में चित्रार्थ है, और वे सारे लक्षणात्मक संकेत मानस में है, इसलिए यह लक्षण का प्रभाव ही है कि मानसकार अपनी स्थिति भारतीय समाज में स्थापित कर सका और भविष्य में भी वह इसी स्थिति में उपलब्ध रहेगा, मानस की लक्षणा प्रक्रिया इतनी प्रभावकारी है भारतीय शासन उसी के आधार पर स्थापित होने की समभावनाएँ संकेतित करता रहता है।

6.8.6.1.1.1 सामाजिक लक्षणा: मानस में देव समाज, पशु-समाज, मानव समाज व दानव समाज आदि का सकारात्मक वर्गीकरण दृष्टित हुआ है, यहाँ यदि वर्गीकरण पर ध्यान दिया जाए तो कहा जा सकता है कि मनुष्य इतना विकसित हो गया है किंतु वह वैसा वर्गीकरण व सामंजस्य समाज अभी तक स्थापित नहीं कर पाया है।

6.8.6.1.1.1.2 राजनीतिक लक्षणा: राम, रावण, देव, स्त्री, पुरुष जितने भी मानस में आए हैं सबके होने का कारण राजनीति ही है। क्योंकि प्रत्येक पात्र में अपने राष्ट्र और नीति के प्रति अत्यधिक लगाव और मोह दिखाई पड़ता है।

6.8.6.1.1.1.3 दार्शनिक लक्षणा: मानसकार की यह जिज्ञासा संपूर्ण मानस में देखने को मिलेगी कि वह अपने वर्ग की शक्ति में संपूर्ण जगत को बांधना चाहता है।

6.8.6.1.1.2 व्यंजना: मानसकार को समाज का बहुत अधिक गहरे ज्ञान होने के कारण उसकी बलिष्ठता उन प्रसंगों पर रही जो समाज बहुत मार्मिक भी है योजनात्मक जागरण के योग्य भी, अन्यथा बहुत से रचनाकार अपने जागरण प्रसंगों को नहीं समझ पाते किस जागरण-प्रसंग को किस प्रकार कहाँ है व किस दिशा-दशा में रखना है। मानसकार कहीं-कहीं खंडित हुआ है जैसे कहीं मानसनायक को विशिष्टता, कहीं वातावरण, कहीं प्रतिनायक, किंतु वह भी एक लक्ष्य को ध्यान में रख कर किया गया है।

6.8.6.1.1.2.1 सार-अभिव्यंजना: यद्यपि मानस में सार-अभिव्यंजनित बहुत सी त्रुटियाँ है किंतु मानसकार का यह महान् गुण ही है कि एक साधारण नायक जो कृपालु, करुणाकार है, जिसे समाज में बहुत अधिक निरंजित देखा जाता है उसे वह जिस प्रकार जगताकार बना देता है, और जिस पर बहुत कम लोगों को संदेह होता है। इस बात की किसी को अनुभूति नहीं होने देता। यह मानसकार की समाज पर सबसे गहरी पैठ का प्रभाव है।

6.8.6.1.1.2.2 राग-अभिव्यंजना: मानस की राग-अभियंजना पूर्ण नहीं है किंतु लोक के आधार पर जितनी है, उसमें बहुत ही कम समस्याएँ आयी हैं, इतना अवश्य रहा है कि मूल-राग के आस-पास ही भ्रमण करता रहा है। आज कि तरह विकसित नहीं हो सका। किंतु फिर भी उसमें सैकड़ों समभावनाएँ राग के प्रति निहित हैं।

6.8.7 शैलीवाद और मानस: मानस बाजार से प्रभावित रचना है, इसलिए उसमें उसी सामाजिक प्रभावकारी शैलियों का प्रयोग दृष्टित होता है। जैसे किस बात को किस प्रसंग को कब कहाँ दिखाना है, यह मानस की जिजीविषा रही है। मानसकार तीक्ष्ण बुद्धि पुरुष है। इसलिए वे इस कई कांडों, संगीत रागों में विभाजित कर सके और केंद्र में समाज नायक को स्थापित कर सके।

6.8.7.1 अहंबाजार: मानसकार में अहं का दोष विद्यमान है, उस समय मुगल शासन था किंतु कहीं भी वास्तविक रूप में मुगलियोंयाई का उल्लेख नहीं है, वे अपने सोचे गए समाज-वर्ग से बाहर नहीं गए। मात्र यही नहीं वे कहीं भी उनकी शब्दावली आदि का भी उल्लेख नहीं करते। वे स्वयं को स्वयं में परिपूर्ण करते हैं।

6.8.7.2 लोक-बाजार: मानसकार के अंत: लोकनायकत्व का बीज कहीं न कहीं, कहीं उष्ण रूप में तो कहीं शुष्क रूप में दृष्टित होता है, उत्तरकांड इसी शैली के प्रभाव में रचित है। सारे पाठ में लोक को ही शुद्ध करते रहे हैं।

6.8.7.3 निजी बाजार: यद्यपि यही तो संसार की वास्तविकता है, और साथ 'यस' ही विश्व का सबसे बड़ा धन है, मानसकार इस बार बहुत अधिक सफल रहा, यह विश्व का पहला ऐसा पुरुष है, जिसकी रचना और बुद्धि किसी राष्ट्र के शासन और समाज को दृष्टि देती है, वह कालजयी तो हो सका किंतु भविष्यजयी उसे अवश्य कहा जा सकता है। ऐसी ही रचनाएँ रचनाकार और रचनाकार ऐसे रचनाओं से समाज सामाजिक रूप में अमर होते हैं। तुलसी यस के माध्यम में सबसे बड़े उद्योगपति हैं। इसी के साथ यह भी कहा जा सकता है कि व्यापारी पुरुष समाज की तकनीकि को समझ कर व्यापार तो करता है किंतु समाज का होकर भी वह समाज का नहीं है। सामाजिक होकर भी समाजिकता का व्यापारी है। तुलसी भी इस श्रेणी से भिन्न नहीं हैं। फिर भी तुलसी सबके लिए आँख में काँट नहीं हैं।

6.8.8 रीतिवाद और मानस: मानसकार ने अपने लोक की जीविता को एक क्षण भी मरने नहीं दिया। कहा तो यहाँ तक जाता है कि उनकी प्रत्येक मानस पंक्ति में राम ही राम है। चाहे उसे कोई निर्गुण शक्ति माने या दशरथ पुत्र, सनतनी है नहीं समाज में समाजिकों समाज में शुद्धता के लिए स्थापित किए गए सभी आयाम चाहे वह ईमानदारी हो, मानवता हो, नैतिकता, नीति, राज्य, राजा, सैनिक, भक्त, माता, सुता, बहन, भगनी, पुत्र, पिता, भाई सबकी अपनी वह स्थिति दिखाई गई है जिसे समाज सदैव से दिखाना और स्थिर रखना चाहता रहा आया है।

6.8.9 उत्तर-आधुनिकता और मानस: जैसे कि मैंने पहले भी कहा है कि उत्तर-आधुनिकता, नव्य-इतिहासशास्त्र, सांस्कृतिक भौतिकवाद और बहुत अधिक तो विविध विमर्श भी विखंडन-व्याकरण की विशेषताएँ हैं किंतु फिर भी यदि भिन्न-भिन्न रूप में देखें तो उत्तर-आधुनिक विशेषता के आधार में मानसकार ने कहीं भी मानस की मनोवज्ञानिक स्थिति को दबा दिया है, अपने दर्शन की स्वतंत्रता के कारण दूसरे के दर्शनों की स्वतंत्रताओं का हनन किया गया है।

6.8.10 नव्य-इतिहासशास्त्र के साये में मानस: नव्य-इतिहासशास्त्र यह दावा करता है कि यदि ऐसा न हुआ होता तो कैसा हुआ होता अर्थात् वह कभी अपने व्याकरण में रेखीय नहीं सोचता तब मानस को संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि क्या हिंदू धर्म को इतना अधिक विस्तार किसी राजनीतिक पात्र से प्राप्त हो पाता, क्या जिस प्रकार राम का महत्व वाल्मीकि की 'रामायण' में शुष्क होकर रह गया क्या वहीं तक रह जाता, जिस प्रकार मुगलियत और अंग्रेजियत के प्रभाव ने बहुत कुछ को समाप्त किया था ठीक वैसे ही वह राम भी दबा दिए जाते।

6.8.11 शक्ति संघर्षवाद अथवा आ-अभिव्यक्ति सिद्धांत में मानस: शक्ति सिद्धांत के साये में लेखक का चरित्र और उसकी बुद्धि की आलोचना प्रथम कार्य है। लेखक के मन में यह क्यों आया कि वह लेखन का ही कार्य करे या लेखिकता (आ-अभिव्यक्ति) के बारे में सोचे, यानी लेखक लेखन चरित्र का पर्याय क्यों हुआ? वह एक पैसे के रूप में अर्थात् पैसे या बाजार के लिए या फिर शासन के ठीक न होने से वह ऐसा कर रहा है या कर गया? यदि वह पैसे के लिए इतना बड़ा धोखा समाज को दे सकता है या दे गया? तो उस लेखक की बौद्धिक राजनीति को समझना अति आवश्यक है! और यदि लाभ भी तो भी? उसने ऐसा क्यों किया? दूसरे क्या उस समय शासक और शासन व्यवस्था ठीक न थी तब उस असमय के समय में राजा कौन था? वह इतना अयोग्य कैसे था? जो राजा बना या बनाया गया? या तीसरा लेखक ने ऐसा स्वप्न क्यों देखा, जिससे उसे लगता था कि यह समाज पर या समाज में होना चाहिए? क्या यह केवल लेखक की माँग थी? उसका समाज हित में देखा गया स्वप्न था? या फिर इसके पीछे अपनी कोई साम्प्राराज्य स्थापन की चतुर बुद्धि थी? जो ऐसा काम करवा गई? लेखक से वास्तव में वह (राजा) या उस समय का यह (लेखक) बुद्धि से शुद्ध था या फिर किसी मनोवैज्ञानिक-रोग में रत-का लिप्त हुआ मानो जिसने अपनी सामाजिक मन-मानिया यहाँ (समाज के बीच) अवतरित की और वह कौन सा वर्ग था जिसने इसे धारणित कर

भी लिया और आज क्या यह उसी वर्ग की अधिक संख्या या बारी भीड़ होने के कारण तो ही नहीं की यह लोगों का वर्चस्व बढ़ा और बड़ा हो गया? लेखक ने यह शक्ति जो उसने अपने होने की बनाई यह अवश्य ही किसी लक्ष्य को सिद्ध करने के लिए थी! यह तय है। अर्थात् लेखक के लिखे जाने की रणनीति के लक्ष्य को ध्यान में रखना है–ही शक्ति सिद्धांत की ओर से आलोचना है यानी लेखक के इतने बड़े चाव–चुनाव के पीछे का रहस्य क्या है। अर्थात् वाल्मीकि जी को यह कथा कहाँ से मिली और राम जी ही उन्हें प्रासंगिक नायक क्यों लगे, भरत जी तो उनसे आधी कारुणिक भगवान थे, उनसे बालिष्ठ तो हनुमान जी थे, और उनसे अधिक वानरराज बालि अर्थात् कथा समाज के हित में देखी जाए तो श्रवण कुमार जी की भी राम जी से कम विशिष्टता न थी। आज के समय को देखते हुए लेखक से यह पूँछना चाहिए। इन नाटको में समाज के रूप–को–समाज सुधारने के लिए समाज के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता था यह तो, यहाँ तक ठीक है, किंतु जबकि यह नाटक अपने हित अपने नुमा–नियम के थे, बाद में इन नाटकों–लीलायों ने समाज को अपने में अवशोषित कर लिया और समाज ने भी इन्हें विशेष जगह दे दी। यहीं से समाजिकता बुद्धि के शिकंजे में आ गयी और आखेट लायक बनी, जबकि इससे पहले 'समूह के निर्णय' के आधार पर व्यक्तियों–समूह या समाज चलता था।

6.8.12 दलित दर्शन और मानस: मानसकार ने मानस नायक के कंधे पर हिंदुत्व की बंदूक चलाई है जहाँ जिसमें मानसकार ने सबरी से वही अपेक्षा की है, उत्तरकांड के दर्शन में वही अपेक्षा दर्शन निहित है, और यदि रावण को दलित मान लिया जाए उससे भी वही अपेक्षा की नियति देखी जा सकती रही है।

6.8.12.1 संविधानवाद और मानस: संविधान के आधार में चाहे वह अमेरिकी हो या भारतीय, इस रूप में मानस स्वयं एक संवैधानिक प्रक्रिया अनुशासित और स्थापित करता है, इसलिए किसी भी राष्ट्र में संवैधानिक विधियाँ समाज को देखते हुए अनेक हो सकती हैं किंतु दो संविधान एक दूसरे के प्रति होंगे, जिसका परिणाम एक ही राष्ट्र में एक अन्य राष्ट्र की संभव होने की हानि सदैव विद्यमान रहती है। जैसे भारत यदि एक हिंदू राष्ट्र घोषित हो अर्थात् हिंदुत्ववादी संवैधानिकता भारतीयों पर लागू हो ठीक वैसे ही भारतीय संविधान की हत्या घोषित हो जाएगी।

6.8.13 स्त्री दर्शन और मानस: मानस में स्त्री एक किसी खेल में खींची गई अंत: नियमीय सीमा रेखाओं की तरह रही है, कहीं कैकई स्त्री–पाठ में पुरुष–पाठ से तर्क करती है स्त्री–पाठ की ओर से उचित ठहरती है तो कहीं अपने त्रिया–चरित्र में मानस नायक तथा अन्य को अपने नियम में बंधा कर प्रसन्नता का अनुभव भी करती है, जैसे सीता के कारण ही लंका का विनाश और कहीं अपने में ही स्वयं को पुरुष–पाठ द्वारा विदूषक स्थिति में पाती है, जैसे कैकई का राम जी को वापस आने के लिए पुन: कहने जाना, सीता जी को वन छोड़ आना।

6.8.13.1 प्रेमवाद और मानस: यदि देखा जाए तो मानस में प्रत्येक पात्र सबसे अधिक संबंध प्रेम का रखता है अब इसे कोई चाहे तो मानस को: एक प्रेमी ग्रंथ भी कह सकता है। क्योंकि जो

भी कुछ मानस में दृष्टित होता है चाहे वह मंथरा का कैकई, भरत प्रेम हो, जिससे कथा को मोड़ मिलता है व चाहे मानसनायक का पिता-पुत्र प्रेम, पति-पत्नी का हो या भाई के प्रति, अपने-अपने राष्ट्रों के प्रति सभी का मूल प्रेम में स्रोतित हैं। परिवार-प्रेम में कब कहाँ राष्ट्र-प्रेम दिखाई देना लगता है, और राष्ट्र-फ्रेमों में कब कहाँ राष्ट्रों-नागरिकों को समूल बहुत कुछ खो देना होता है, यह सब प्रेम की पराकाष्ठा ही तय कर रही है, कवि 'निराला' ने भी 'राम की शक्ति पूजा' में, विशेष प्रेम व शक्ति के प्रति लगाव को दिखाया है।

6.8.14 पुरुष विमर्श और मानस: मानस में यह सब बहुत अधिक देखने को मिलता है जैसे आह तुलसी, आह! वह दसरथ का जीवन जिसने स्त्री को महान् माने के बने रहने के उसकी बौद्धिक-मीमांशा को समझने एवं लोक को समझाने के पीछे 'विदा' दिया। आह! वह राम जी का जीवन जो चैन से सो न सके। आह! लखन जी तुम। आह! रावण, कुंभकरण आह! विभीषण आह! आह! मेघनाद आह! हनुमंते आह! आह! आह! ही पुरुष की जीव जीवन की राह आह! वस आह! वह मारता मिटता कुचलता कूचा हुआवस आह!- मैं थक गया हूँ। ये कोई नहीं सुनता आह! किसकी है। ये ऐसे पात्र हैं जिनने अपना 'जियावान' ही दाँव पर लगाया था। जन्म से लेकर मृत्यु तक मिली केवल आह! आज यदि कोई चाहे तो समाज में महान् खनकनाहटों सुन सकता है।

6.8.15 जैव-प्रौद्योगिकी और मानस: जैव-प्रौद्योगिकी के आधार में यदि मानस को देखें तो उसके अनेकों पाठ निर्मित किए जा सकते हैं जैसे संबंधवादी पाठ, परिवारवादी पाठ, वचनावादी पाठ, नीतिवादी पाठ, अहंवादी पाठ, सेक्सवादी पाठ, स्त्री-अनीतिवादी पाठ, हिंदुत्ववादी पाठ, राक्षसवादी पाठ, गोरिल्लावादी पाठ, ब्राह्मणवादी पाठ, सेतुवादी पाठ, त्यागवादी पाठ, पत्नीत्ववादी पाठ, पुरुषोत्मवादी पाठ, दलितवादी पाठ, ईश्वर निर्मिति पाठ, सेवक पाठ आदि अनेक पाठों की निर्मिति की जा सकती हैं, और ये सारे पाठ एक-एक विभाग और पुस्तकें बन सकती हैं तथा अन्य संभावन्वित रूपण में भी मानस को देखा जा सकता है।

3. जैव-प्रौद्योलोचना में गोदान: इसी प्रकार यदि आप चाहें तो गोदान की जैव-प्रौद्योलोचना कर सकते हैं, चूँकि जैसे गोदान और मार्क्सवाद, गोदान और विखंडनवाद, गोदान और बाजारवाद, गोदान और अस्तित्ववाद, गोदान और शक्तिवाद, गोदान और आदर्शवाद, गोदान और धर्मवाद आदि में पूर्ण करते हुए इसे दिखाया जा सकता है।

दृष्टि	पाठ
अस्तित्ववाद	यदि गोदान को हम अस्तित्ववाद की दृष्टि में देखेते हैं तो चाहे वह होरी हो हीरा या उनके पत्नियाँ, बेटियाँ, और बेटे अथवा उपन्यास में आए सभी पात्र चाहे वे दातादीन से लेकर सभी पात्र जमींदार और उनके नौकर सबके सब अपने-अपने अस्तित्व के लिए लड़ रहे हैं। होरी में मानवता है किंतु अहमी भी है। वह वही

	करता है जो उसको उसके आधार में ठीक लगता है। उदाहरण के रूप में यदि देखा जाए तो कह सकते हैं कि 'यह गाय मेरे मान की नहीं है दादा। मैं, तुम्हें नुकसान नहीं पहुँचाना चाहता। अपना धर्म यह नहीं है कि मित्रों का गला दबाएँ। जैसे इतने दिन बीते हैं, वैसे और भी बीत जाएँगे।' ऐसी ही बहुत सी बातें होरी सारे उपन्यास में करता रहता है। ठीक ऐसे ही यदि 'गोबर' यदि अस्तित्ववादी भाव का न होता तो वह 'झुनिया' को भगा ले जाने का साहस कभी न करता, कई स्थानों पर तो वह अपने अस्तित्व के लिए लड़नें झगड़ने के लिए भी तैयार हो जाता है। ठीक ऐसे ही कार्य हीरा करता है, गाय को बिष देकर, क्योंकि इन पात्रों के जो मन में आया है वही इन सभी ने किया है। ऐसे ही यदि दुलारी का भाव या अस्तित्ववादियों में पाये जाने वाले मानवता को देखें तो वह एक बार झुनिया को अरहर की दाल और भी बहुत सा अनाज उसके एक कुसमय में दे जाती है। कुल मिला कर यह कहा जा सकता है कि प्रेमचंद ने जिस अर्थ को समाज में स्पष्ट करने की चेष्ठा की है, जो अर्थ बहुत अधिक भयावह लगे हैं पाठकों को वे अर्थ 'अस्तित्विकों' की दिनचर्या है। उसके लिए इतनी अधिक भयानक स्थितियों को स्थापित करने और शासनिक रूप में बहुत कुछ की माँग और परिवर्तन की कोई आवश्यकता नहीं है।
प्लेटोवाद	प्लेटोवाद कवियों और लेखकों को इसी लिए पसंद नहीं करता क्योंकि वे बहुत कुछ को शासन के उस रणनीतिक लक्ष्य से अलग करवा देते हैं, जो शासन अपने देश और नागरिकों के लिए राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर स्थापित करता है। लेखक या रचनाकार राजसत्ता में बहुत प्राचीन समय से कोई न कोई नुक्स निकालता आया है उसका मानना होता है कि यदि मैं शासक होता तो बहुत कुछ को इस प्रकार हल कर देता। जबकि वह यह भूल जाता है कि वह जिस दृष्टि से बहुत कुछ को ठीक करना चाह रहा है, वह मात्र उसके आधार में सत्य और पूर्ण है, बाकी का क्या होगा और कैसे होगा उसे इसकी कोई जानकारी नहीं होती। इसलिए प्लेटोवाद में प्रेमचंद का गोदान उस समय के 'शासन' के प्रति एक अवमानना होने के साथ देश और शासक की असम्मानिकता को लिए हुए। क्योंकि शासन उन बहुत से मुद्दों पर कार्य कर रहा होता है, जो बहुत नवीन होने के साथ-साथ राष्ट्र-सुरक्षापरक होते हैं, आंतरिकता में सुधार तभी संभव है, जब राष्ट्र के आंतरिक नागरिक स्वयं में महान् श्रमिक हों। भारत में खाने और सो जाने वालों की संख्या लगभग 99 प्रतिशत बहुत प्रारंभ से रही है। इसलिए कभी भी किसी देश का शासक गलत नहीं होता, निर्धनता का मुख्य कारण नागरिक है।

	उदाहरण के रूप में यदि देखा जाए तो योरोप में भी कोई न कोई शासक अवश्य रहा होगा किंतु वहाँ के नागरिक स्वयं में महान् श्रमिक थे। उन सभी ने नए प्रयोग किए अनेकों द्वीप की खोज की और नवीन संस्कृतियों की निर्मति की। आज देखा जाए तो बहुत से ऐसे लोग हैं जो उनकी संस्कृति और ज्ञान के आधार में अपना पेट पाल रहे हैं। किंतु भारत में ऐसा कोई नहीं था। मेरा यह मानना है कि 'जिस प्रकार प्रकृतिकत: किसी राष्ट्र की भूमि में चिह्नित है कि वह प्राण पैदा करे ठीक उसी प्रकार प्राण के कर्तव्य में यह निहित हो जाता है कि वह एक राष्ट्र बनाए' गोदान उपन्यास में लगभग से अधिक लोग गाँव में ही पड़े रहने वाले हैं। कोई शहर नहीं जाना चाहता, कोई नया ज्ञान स्थापित करना नहीं चाहता, सब प्रकृति के सहारे, इस प्रकार से कोई भी राष्ट्र कभी भी विकास नहीं कर सकता, ऐसे नागरिक जिस देश में होंगे। वह देश आदिम स्तर से अधिक आगे कभी नहीं बढ़ सकता और यदि कोई रचनाकार ऐसे में वहाँ के निवासियों की स्थापना कृति में करता है तो प्लेटोवाद उसे अस्वीकार करता है। इस लिए प्लेटोवाद में गोदान एक निराधार पाठ है, जिसका कोई अर्थ नहीं है। जो स्वयं में व्यर्थ है।
मनोवाद	गोदान को यदि हम मनोविश्लेषण दृष्टि में देखें तो कहा जा सकता है कि यह वह समय था जब भारत चोर-उचक्कों के हाथों में था और प्रेमचंद भारतीय समाज का एक प्रकार से मानचित्रिय निर्मिति कर रहे थे। जिसका मुख्य कारण यह भी माना जा सकता है कि अंग्रेज भारतीयता के उस मानचित्रों पर भी ध्यान देते जिन्हें वे शायद देख नहीं पा रहे थे या देखकर भी अनदेखा कर रहे थे या उन दिनों गांधी के भारतीय नेतृत्व को वे दिखाना चाह रहे हो, क्योंकि एक बार अमरपाल सिंह और गांधी जी के धन-सहयोग का भी उल्लेख इस उपन्यास में दिखाया गया है। मनोविश्लेष रूप में मेरा यह मानना है कि कहीं न कहीं यह अंत: भाव प्रेमचंद के मन में अवश्य पहले से ही बन-पल रहा होगा। किसानों की दुर्दशा और जमींदारों की भावनाओं जिनसे उन्हें कुछ धन प्राप्त होता था। उस धन के लिए जिसे गांधी या अंग्रेज अपने लिए चाह रहे थे। वह कितनी जीवनियों को घसीटता मिटता हुआ आकर जमींदारों के हाथ और फिर नेताओं या अंग्रेजों के हाथों तक पहुँचता था, आदि को दिखाना उनके मन में चल रहा हो। जिसकी ओर अपने वर्चस्व के लिए न गांधी देख पा रहे थे और न ही वे अंग्रेज जिनसे बहुत सी अपेक्षाएँ बहुत से लोग कर रहे थे। जिनमें रवीन्द्रनाथ को विशेष बताया था और धार्मिक रूप से वे मिशनरी जो भर्ता में मानवता का पाठ लेकर आने वाले धर्म समूह थे। साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि प्रेमचंद के मन में किसानों के प्रति हीन भावना कार्य कर रही हो। जो बहुत दुबले कुचले लोग होते थे। जो

	अपने आलस के कारण देश को बहुत छति पहुँचा रहे थे। जैसे कि बाद में बहुत से दलितों ने प्रेमचंद पर बहुत से आक्षेप भी लगाए।
बाजारवाद	धन और यस कौन नहीं चाहता, प्रेमचंद इससे परे नहीं अन्यथा अर्थ में भी यदि देखें तो कह सकते हैं कि वे अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए, किसानों की सहायता के लिए, बहुतों को पृष्ट पर स्थान देने के लिए, और बहुत अधिक दूर तक स्वयं की अभिव्यक्ति पहुँचाने के लिए उर्दू भाषा से हिंदी भाषा की ओर आए, इसका अर्थ यह नहीं है कि वे उर्दू में लिख नहीं सकते थे। उसके कई कारण भी हो सकते हैं जैसे राष्ट्र भावना, राष्ट्र-भाषा का प्रचार आदि। साथ ही किसान और दलित, स्त्रीयाँ और ऐसे सामाज-समूह जिनके बारे में अभी तक कोई तर्क करने वाला उनका पक्ष लेने वाला न राजनीतिक रूप में और न ही साहित्यिक रूप में, इतने ऊँचे स्तर पर नहीं था। यद्यपि बाजार को पकड़ने और बाजार में अपनी स्थिति बनाने की समझ प्रेमचंद को बहुत अधिक थी। गोदान में जिस प्रकार पात्रों की स्थापना की गई है, और प्रत्येक पात्र जिस शैली और आधार पर बात करता है, वह उस समय की वास्तविक बाजारूता को पकड़ने की भाषा थी। क्योंकि बाजार की नियति और व्याकरण यह सदैव निश्चित किए रहता है कि पदार्थ के प्रति की सही समझ और सही समय उसे अपेक्षा से अधिक उच्च स्थान प्राप्त करवा सकते है। 'गोदान' में प्रेमचंद इस दाँव के साथ अच्छा खेल गए।
संरचनावाद	'गोदान' पाठ का यदि संरचनावादी पाठ निर्मित किया जाए तो कहा जा सकता है कि जो समाज में जिस प्रकार से नहीं है, वह भी प्रेमचंद उसी रूप में दिखा गए हैं। पाठ में एक निश्चित उद्देश की प्राप्ति के हेतु बहुत कुछ सत्य असत्य हो गया है। गोदान में जिस प्रकार से किसान और ग्रामीण जीवन को दर्शाया गया है। वैसी स्थिति से भी अधिक भयावह स्थिति में भारतीय ग्रामीण जीवन रहा है। होरी की जो स्थिति दिखाई गई है। वह तो महज तब के किसी ग्रामीण की एक दिन की स्थिति है। प्रेमचंद गोदान में वह सब न स्थापित कर सके जो वास्तविकता थी, इसका मुख्य कारण उस समय की राजनीति भी हो सकती है और स्वयं की बौद्धिक स्थिति भी। समान्यतया कहने का अर्थ यह है कि वास्तविकता पाठ में उस रूप में नहीं आयी जिस रूप में वास्तविकता होती है। यदि प्रेमचंद के स्थान पर गोदान किसी अन्य लेखक ने लिखा होता तो या तो वह इससे कहीं अधिक वास्तविक होता, जो वास्तविकता से दूर होता या फिर इससे कहीं अधिक त्रुटिपरक, जो भी वास्तविकता

	से दूर ही होता, संरचनवाद में यही होता है। लेखक चाह कर भी वास्तविकता तक नहीं पहुँच पाते। या तो वह उससे आगे चला जाएगा अथवा उससे बहुत पीछे।
उत्तर–संरचनावाद	गोदान प्रेमचंद से यह पूँछता है कि यदि होरी के स्थान पर स्वयं लेखक यानी प्रेमचंद होते तो क्या यह पाठ इसी रूप में लिखा जाता इसी प्रकार लिखा जाता, क्या होरी और उसके परिवार को ही दिखाना उचित था या उनके मन में होरी के लिए पाठ करने पर दया आई या फिर वे गोदान पाठ लिखकर भारतीयता को ठीक करना चाहते थे या असम्मानित या फिर क्या आज के समय में यदि कोई बाहरी देशी व्यक्ति गोदान का अवलोकन–पाठन करता है तो भारतीय किसान को किस रूप में देखेगा या भारतीय शासन और यहाँ के लोगों को किस रूप में देखेगा, यह न सोच पाने वाले लेखक थे। अथवा यदि गोदान के स्थान पर पाठ का नाम भोला की गाय या होरी की गाय या 'गोबर' पाठ का नाम होता तो कहानी किस रूप में चलती और कैसी लिखी जाती, क्या होरी इसी स्थिति में होता या गोबर किस रूप में अपना स्थान लिए होता। आज गोबर, धनिया, झुनिया, मातादीन जैसे बहुत से महिला पुरुष हैं। क्या सब उन्हीं के नकल करके आगे बड़े हैं या फिर आज एक और गोदान लिखे जाने की आवश्यकता है या फिर अब कभी भी वह सब नहीं लिखा जा सकता जो प्रेमचंद ने लिख दिया था। जबकि आज उससे भी भयानक जीवन हमारा युवा वर्ग, बुजुर्ग, स्त्री और भी कई वर्ग के लोग जीवन यापन कर रहे हैं। संविधान तो मात्र समाज को स्थिर रखने के लिए बचा हुआ है। बाकी अपनी सत्ता स्थापना का बड़ा खेल सत्ता स्थापित करने वाले कर चुके हैं। ऐसे बहुत से प्रश्न हैं जो सदैव से सदैव तक अनुत्तरित रहेंगे। जिनके उत्तर लेखक के पास नहीं है।
दादावाद	दादावादी पाठ में गोदान कहता है कि मेरे अन्त: जो भी कुछ हुआ है, वह तो कुछ नहीं है। उसे प्रेमचंद ने नहीं लिखा है। उसमें कोई किसान नहीं है। वहाँ कोई होरी नहीं है। वह एक स्वप्न है। जो हर किसी के जीवन में आता जाता रहता है।
स्त्रीवाद	स्त्रीवादी पाठ में गोदान यह कह सकता है कि धनिया ने बहुत कुछ को पूर्ण कर लिया था, एक स्त्री के अंत: बैठी मानवता जितनी हो सकती थी, उसने निभाई, किंतु अब समय था कि वह अन्य सारा समाज छोड़कर और साथ दुलारी के घर से निकल पड़ती और उस 'हीरा' के नाम के व्यक्ति को ढूँढ कर लाना और उसे सबके सामने यहाँ तक की कानूनी लोगों के सामने भी उसे जहर देतीं क्योंकि जहर गाय जो एक स्त्री है, को दिया गया था और उससे पहले होरी को 'जहर' देकर मार देती, क्योंकि होरी के मन में अपने भाई के लिए प्रेम अधिक था, उस

	गाय अर्थात् स्त्री के प्रति नहीं ही था और उससे भी पहले हो सकता तो प्रेमचंद को मृत्यु दंड दे देती, क्योंकि सारी चाल उसी बदमास की की हुई है। धनिया, दुलारी, झुनिया, रूपा, सोना, शाहुआइन आदि सब ने स्त्री को असम्मानित कर देने का भाव गोदान में दिखाया है। इन स्त्रीयों की आदर्श मात्र भोला की दूसरी पत्नी रही है।
किसानवाद	किसानवादी पाठ में प्रेमचंद आकर बहुत गहरे फँस जाते हैं, क्योंकि सारे किसान उनने यह पूछते हैं कि क्या वे उस समय के होरी की कथा-व्यथा न दिखाकर किसानों का एक आंदोलन नहीं दिखा सकते थे। क्या कोई एक आँकड़ा नहीं दिखा सकते थे, जिससे यह स्पष्ट होता की समाज में शासन के बीच किसान की वास्तविक स्थित क्या और कैसी थी। उस समय के शासन ने किसानों के लिए कोई 'बही' रूप तो रखा ही होगा। प्रेमचंद ने ऐसा क्यों नहीं किया। सुविचारियों और आदर्श-ज्ञानियों का यह कर्तव्य है कि वे विशेष आंकड़ों में बात करें। जो असभ्यता उस समय के समाज में थी, ठीक उसी रूप में प्रेमचंद भी बहुत कुछ लिख गए। यह किसानों के प्रति किया गया अन्याय है प्रेमचंद के द्वारा, यदि इंसानों की ऐसे ही स्थिति थी तो जवाहरलाल ने उनसे इस दशा की वसूली क्यों नहीं की, क्यों उन्हें उसी रूप में बिना दंड के सम्मिलित कर लिया। इसका कारण यही है कि तब का शासन भी किसानों की भयावह स्थिति को हवा देने में सम्मिलित था।
नव्य- इतिहास वाद	प्रेमचंद जिस ओर गए ही नहीं जैसे होरी का एक कहा हुआ एक वाक्य देखे तो 'होरी ने झुंझलाकर कहा- अब तुमसे बहस कौन करे भाई! जैजात किसी से छोड़ी जाती है कि वहीं छोड़ देंगे? हमी को खेती से क्या मिलता है? एक आने नफरी की मजूरी भी तो नहीं पड़ती। जो दस रुपए महीने का भी नौकर है, यह भी हमसे अच्छा खाता-पहनता है; किंतु खेतों को छोड़ा तो नहीं जाता। खेती छोड़ दें, तो और करें क्या? नौकरी कहीं मिलती है? फिर मरजाद भी तो पालना ही पड़ता है। खेती में जो मरजाद है, वह नौकरी में तो नहीं है। इसी तरह जमींदारों का हाल भी समझ लो! उनकी जान को भी तो सैकड़ों रोग लगे हुए हैं, हाकिमों को रसद पहुँचाओं, उनकी सलामी करो, अमलों को खुश करो। तारीख पर मालगुजारी न चुका दें, तो हवालात हो जाए, कुड़की आ जाए, हमें तो कोई हवालात नहीं ले जाता। दो-चार गालियाँ घुड़कियाँ ही तो मिलकर रह जाती हैं।' प्रेमचंद को चाहिए था कि वे इस सत्याओं की ओर भी जाते वे होरी को लेकर सतत् चलते गए, जैसे सत्य तक पहुँचना उनका लक्ष्य न होकर एक होरी विवरण देना रहा हो। उस समाज की भी बात करते तो पता चलता की होरी से भी कहीं अधिक बुरी स्थिति उनकी है जो होरी नहीं हैं।

उत्तर–आधुनिकवाद	होरी किसी भी बात को बहुत अधिक लगवित रूप में नहीं लेता, उसके लिए किसी भी चीज का कोई खास अर्थ नहीं चाहे हीरा ने गाय को जहर दे दिया हो जैसी बात क्यों न हो अथवा 'तो तुमसे नगद माँगता कौन है भाई?' (होरी की छाती गज–भर की हो गई। अस्सी रुपए में गाय महंगी न थी। ऐसा अच्छा डील–डौल, दोनों जून में छः–सात सेर दूध, सीधी ऐसी कि बच्चा भी दुह ले। इसका तो एक–एक बाछा सौ–सौ का होगा। द्वार पर बँधेगी तो द्वार की शोभा बढ़ जाएगी। उसे अभी कोई चार सौ रुपए देने थे किंतु उधार को वह एक तरह से मुफ्त समझता था। कहीं भोला की सगाई ठीक हो गई, तो साल–दो साल तो वह बोलेगा भी नहीं। सगाई न भी हुई तो होरी का क्या बिगड़ता है! यही तो होगा, भोला बार–बार तगादा करने आएगा, बिगड़ेगा, गालियाँ देगा। किंतु होरी को इसकी ज्यादा शर्म न थी। इस व्यवहार का वह आदी था कृषक के जीवन का तो यह प्रसाद है। भोला के साथ वह छल कर रहा था और यह व्यापार उसकी मर्यादा के अनुकूल था। अब भी लेन–देन में उसके लिए लिखा–पढ़ी होने और न होने में कोई अंतर न था। सूखे–बूड़े की विपदाएँ उसके मन को भीरु बनाए रहती थीं। ईश्वर का रौद्र रूप सदैव उसके सामने रहता था। पर यह छल उसकी नीति में छल न था। यह केवल स्वार्थ सिद्धि थी और यह कोई बुरी बात न थी। इस तरह का छल तो वह दिन–रात करता रहता था। घर में दो–चार रुपये पड़े रहने पर भी महाजन के सामने कसमें खा जाता था कि एक पाई भी नहीं है। सन को कुछ गीला कर देना और रुई में कुछ बिनौले भर देना उसकी नीति में जायज था। और यहाँ तो केवल स्वार्थ न था, थोड़ा–सा मनोरंजन भी था। बुड्ढों का बुढ़भस हास्यास्पद वस्तु है और ऐसे बुड्ढों से अगर कुछ ऐंठ भी लिया जाए, तो कोई दोष–पाप नहीं।) होरी बहुत कुछ नियम में आगे बढ़ाने वाला व्यक्ति है। वह किसी रोने को लेकर कभी नहीं बैठता और शायद प्रेमचंद भी इतना कुछ होने के बाद भी कोई उचित निर्णय किसी किसान को प्रेमचंद नहीं दिखाई देते जैसे कोई इतनी बड़ी कथा यों ही एक मसल के रूप में, मिथक रूप में अपने बच्चों को दादी या नानी की कहानी की तरह सुना कर सो गया हो।
विखंडनवाद	'गोदान' का यदि विखंडन किया जाए तो संभवतः कहा जा सकता है कि भारत में ग्रामीण जीवन को इतना अधिक निमित्त करने का कार्य वैश्विक बाजारवादी संस्कृति ने ही किया है। क्योंकि यदि भारत में प्राचीन समय से हिंदुत्व के बाजार की गहरी छाप न होती तो शायद लोग कुछ क्रांतिकारी होते। हिंदुत्व के सहारे ने, ईश्वर के सहारे ने बहुत कुछ को स्थिर किये रखा। जाहिलता और हिंदुत्व से टूट

	कर, बौद्धों और जैनियों ने लगभग बाजार से जुड़कर व अपनी अस्मिता से जुड़ कर बहुत कुछ को ठीक कर लिया था और उसके बाद क्रमश: अनेकों आक्रमणकारियों के आक्रमणों ने इन ग्रामीणों को इतना डरा दिया कि वे जहाँ के तहाँ और जैसे के तैसे ही रह गए। यदि भारतीयों जिनमें खास कर ग्रामीण समाज को बाजारिकता से जोड़ा गया होता शायद गोदान जैसे उपन्यास समाज में उपस्थित न होते और उनमें भी पात्रों के नाम होरी के लिए 'हरि' गोबर के लिए 'गोवर्धन' और धनिया के लिए 'धन्या' होते।
धर्मवाद	गोदान को यदि हिंदुत्व धर्म के पाठ में देखें तो 'गोदान' प्रारंभ से लेकर अंत तक हिंदूवादी व्याकरण में बहुत उचित बिठाया गया है। सारे पात्रों की सोच-समझ यहाँ तक स्वयं प्रो. मेहता की भी हिंदुत्व से बाहर की नहीं है, क्योंकि जब हिंदू व्यक्ति किसी विषय का विशेषज्ञ हो जाता है, तब वह भी ऐसे ही भाव जो कहीं पाश्चात्यता से मिलते हैं तो कहीं फ्रायड के मनोवाद से, कहीं वह स्वप्न के संसार में गोते लगा रहा होता है तो कहीं वह घूसखोरी कर रहा होता है। हिंदू धर्म में आलसियों और मिथकरियों के साथ जीवन यापित करने और अहिंसा, मानवता, चुगलखोरी, ईर्ष्या आदि की कमी नहीं रहती, इस उपन्यास में ऐसे पात्रों कि कोई कमी नहीं है। यद्यपि ऐसे लोग पूरे विश्व में नहीं पाये जाते। क्षण स्वयं को शेर मान लेना और क्षण किसी के सामने अपना अस्तित्व भी न समझना, क्षण स्वयं को धन्य सेठ मान लें और क्षण ही चार आने के लिए दाँव बनाने लगाना इस धर्म में बहुत अधिक है। यद्यपि चापलूसीयता पूरे विश्व मानव धर्म में है, किंतु हिंदुओं में कुछ अधिक ही है और इस उपन्यास में इन सबका बड़ा आँकड़ा देखने को मिलता है।
संविधानवाद	यद्यपि उस समय 1947 के बाद वाला संविधान नहीं था, किंतु 1947 से पहले भारत में ब्रिटिश शासन की शर्तें रहीं होंगी 1930 की महामंदी ने भारत के किसानों और काश्तकारों को बुरी तरह से प्रभावित किया था। इस दौरान किसानों पर दोहरी मार पड़ी थी। किसानों पर महामंदी का असर, अनाज की कीमतें गिर गईं, जिससे किसानों की आय कम हुई। सरकार ने लगान वसूली में छूट नहीं दी। वैश्विक बाजार के लिए उत्पादन करने वाले काश्तकारों की स्थिति सबसे खराब रही, जिन काश्तकारों ने कर्ज लिया था, वे और कर्ज में डूबते चले गए। पटसन की कीमतों में 60 फीसदी से ज्यादा की गिरावट आ गई थी। कर्ज के बोझ से दबे काश्तकारों की सारी बचत खत्म हो गई थी। किसान आंदोलन महात्मा गांधी के आह्वान पर चौरी-चौरा का आंदोलन हुआ। सरदार पटेल के नेतृत्व में

	गुजरात के खेड़ा और बरदोली में किसानों का सत्याग्रह आंदोलन हुआ। स्वामी सहजानंद सरस्वती के नेतृत्व में भारत की कंयुनिस्ट पार्टी ने अखिल भारतीय किसान सभा का गठन किया। नमक सत्याग्रह सविनय अवज्ञा आंदोलन का चरम बिंदु बना। यहाँ यह देखने योग्य है कि सवैधानिक रूप से किसान बहुत पीड़ित था और खास कर वह किसान जो किसी स्थिति में नहीं था। उसका कोई उल्लेख ही नहीं मिलता। उसके लिए कोई व्यवस्था ही नहीं थी। उनकी व्यवस्था और संविधान जमींदारों और कारिंदों के हाथों निर्मित था। और साथ ही किंतु शासन अपने हित के लिए उनका शोषण करने में कोई राहत नहीं देना चाहता था। इसलिए संविधान की बहुत सी त्रुटियाँ यहाँ प्रेमचंद ने रखीं हैं यह एक विद्रोह तो नहीं किंतु विद्रोह और संवैधानिकता के बहिष्कार भर की अगुवाही भाषा को अवश्य निर्मिति देने वाला है। ये किसानों की दुर्दशा के वे प्रथम बोल हैं जिनके कारण बहुत से लोग किसानों के साथ मानवता के हित आगे आकर उनकी सहायता कर सकते हैं। इसलिए गोदान उपन्यास किसान और ब्रिटिश शासन के प्रति प्रथम बोल का आंदोलन है। यह उपन्यास उनकी ब्रिटिस-नियति के प्रति एक अमूर्त-अयथार्थ भाषण है। जो ब्रिटिश शासन पर एक तमाचा भी है और जिसमें उन पर भी जो ब्रिटीशियत के साथ हैं। गोबर ने इसका विद्रोह होरी से बहस करते हुए किया भी है।
रसवाद	रसवादी पाठ के आधार में यदि गोदान को रखा-देखा जाए तो कह सकते हैं कि अपने समय में प्रेमचंद ने जो किया उससे कहीं अधिक वर्षों तक या फिर जब तक ऐसे किसान रहेंगे तब तक यह उपन्यास अपने रस के साथ जीवित रहेगा। भारत के मिथक हो या अन्य कहानियाँ एक स्वयं में एक फिल्मी आधार और रूप लिए रहती हैं, जो रस प्रदानता का एक बड़ा कारण है इसका बड़ा-बड़ा कारण है समाज को बहुत सलीय नियम में : एक अवैज्ञानिक-समाज भारतीय समाजियों के द्वारा गढ़ा जाना। आज जब हम एक मानी में बहुत कुछ उभरे हैं बहुत कुछ को जाना है, तब हमें मालती और मेहता का प्रेमरंग, होरी और अन्य स्थितियाँ बहुत कुछ रस प्रदान करती हैं कि यह सोचकर की, कि क्या ऐसे लोग भी थे। एक समय के अनुसार, जो लोग कुछ संज्ञानी थे वे कितने निर्दयी थे। आज हम उसी प्रकार कुछ संज्ञानी लोगों पर कितना भरोसा करें, क्या वैसे ही तो बहुत कुछ नहीं हो रहा है। वे संज्ञानी चाहे नासा में बैठे हो या बड़े कार्यालयों में आधिकारिक रूप में, मेरा

	मानना है लूट उसी रूप में आज भी राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय रूप में जारी है। हमें कभी भी कुछ संज्ञानी लोगों पर भरोसा नहीं करना चाहिए। किंतु उसी रूप में एक बड़ी समस्या यह देखने में आयी कि आज का भारतीय जब ऐसे उपन्यास पढ़ेगा और भारत का इतिहास जाने-समझेगा तब शायद उसका पूरा का पूरा अहम टूटता हुआ दृष्टित होगा, कि क्या वह ऐसे लोगों के मध्य से है, जहाँ मानवता के नाम पर पशुता होती रही और उन अंग्रेजों के प्रति एक अलग भाव रखेगा, जिनके अत्याचार असहनीय थे। जो बाइबिल के संस्थापक थे और ऐसे ही बहुत कुछ।
शक्तिवाद	होरी मरते-मरते मर गया किंतु उसने कभी भी प्रकृति और निर्दयी समाज से हार नहीं मानी, वह लड़ा और अंत तक लड़ा, समाज, वर्ग जमींदार, भाई, ज्ञान-ज्ञानी, भूख, कर्म, परिस्थितियों और यहाँ तक कि प्रकृति के गाल पर तमाचे भी अपनी हर एक सांस पर जड़ता गया। होरी सदैव तक के लिए एक हारी हुई शक्ति को स्थापित करता रहा, जो प्रकृति के अंतिम अस्तित्व तक जीवित रहेगी। आज प्रेमचंद नहीं है किंतु फिर भी यदि वे होते और चाहते तो भी उसे बदल नहीं सकते थे, क्योंकि लोगों और समाज के बीच में उसकी छाप-परछायीं ऐसी बन गई है। होरी स्वयं भी यदि स्वयं मृत घोषित करना चाहे तो मर नहीं सकता। क्योंकि तब भी और आज भी हर किसी की स्थिति होरी से अच्छी नहीं हो पायी है। क्योंकि हर किसी के पास एक पत्नी है, एक या कुछ विद्रोही पुत्र हैं और है कुछ सयानी सी व्याह करने योग्य लड़कियाँ, और हर एक महान किल्लत धन की और दबी है, मैनेजर के पैर के नीचे सभी की गर्दन, इसलिए होरी हर किसी की जेबों में है।
जैववाद	1930 के भारत में एक ऐसी व्यवस्था, जिसने करोड़ों होरी पैदा किए, और लाखों प्रेमचंद किंतु जिस प्रकार एक ही प्रेमचंद और एक ही होरी ने करोड़ों होरियों को आलोकित किया और लाखों प्रेमचंदों में से एक प्रेमचंद ने एक होरी को ही देखे था। यह एक अद्‌भुत बात है। उस समय होरी जैसे लोगों की कथाएँ एक सहज एक आम घटना-कहानियाँ मानी जाती हैं। ये इतनी आम थी कि कोई ऐसी बातें कहना नहीं चाहता था, जिसे यदि आज हम देखें तो जब दलितों ने अपनी कुछ आत्म कथाएँ लिखीं तो पढ़ने वालों की संख्या में वृद्धि हुई ठीक उसी प्रकार से प्रेमचंद ने जब यह कथा लिखी तो कुछ पढ़ने वालों के मन में यह विचार अवश्य ही आया कि ऐसे समाज की स्थितियाँ कैसी हैं, क्या यह भी कोई जीवन है। देखा जाए तो इस आधार पर

	बहुत से उपन्यास आज लिखें जाते हैं। जो भी कुछ उपन्यास में आया है वह सभी प्रति-दिन घटित होने वाली घटनाएँ हैं।
भाषावाद	भाषावाद की दृष्टि से यदि गोदान पाठ को देखें तो प्रेमचंद से बहुत कुछ छूट गया। वे इसे मुख्य-मुख्य रूप में ही दिखा सके हैं। होरी का विवरण भी ठीक नहीं है। आए दिन उसके जीवन में कष्ट न रहे होंगे। उसकी शादी-विवाह की कथा नहीं दिखाई जो मनुष्य के जीवन को सकारात्मक बनाती है। उसके दादा के बारे में भी कोई कथा नहीं कही। उसकी बहनों और भाइयों की कथा छूट गयी है। हीरा तो लौट कर ही न आ सका। बहुत से पुलिस वाले और जमींदार भी इधर-उधर रह गए। यद्‌यपि भाषावाद कहता है, कि जीवन के कुछ ही प्रसंग दिखाना, एक अन्याय है जो औरों को उस पात्र के प्रति बंधुत्व-रहम व रोस बढ़ाती है। प्रेमचंद ने यदि होरी के बचपन की कथा भी दिखाई होती तो लोगों के मन में उसके प्रति और भारतीय समाज के प्रति इतना रोस और क्रोध न उत्पन्न होता जितना अधूरे रूप में हुआ है। प्रेमचंद ने भाषावाद के आधर में पाठकों के प्रति और उस समय भारतीय शासन के प्रति अन्याय किया है।
दलितवाद	वैसे होरी दलित नहीं है, किंतु उसके जीवन में जिस प्रकार से जो भी हो रहा है, वह सब किसी दलित से कम नहीं है, दलिताई-व्याकरण यह आक्षेप लगा सकता है कि प्रेमचंद को होरी के जीवन में घटित घटनाओं को इतना नग्न नहीं दिखाना चाहिए था। क्योंकि जीवन में बहुत कुछ बहुतों के साथ होता रहता है, किंतु अस्तित्व, सम्मान के साथ बना रहता है, सम्मानित दूसरों के द्‌वारा देख लिए जाने पर, भले ही देखने वाले स्वयं असम्मानित ही हो, देखे गए या देखे जाने वाले का अस्तित्व समाप्त कर देता है। इसलिए जहाँ-जहाँ प्रेमचंद ने बहुत यथार्थ में होरी या अन्य पात्रों को लेकर बात की है, वे गलत है। जैसे धुनिया को गोबर के द्‌वारा मारा जाना, होरी का पछाड़ खा कर गिर पड़ना, धनिया के पास एक आना भी न होना, मातादीन का बेकार जीवन, जमींदार साहब की अभिशप्ततायें और अन्य भी ऐसे ही नग्न यथार्थ, जिन्हें देखकर व्यक्ति मन ही मन अन्याओं के लिए पशुवत होता रहता है।
संझूठवाद	संझूठवादी दृष्टि के आधार में यदि हम गोदान को देखें तो कहा जा सकता है कि यह सारे सत्य और असत्य जो समाज दृष्टित होते हैं वे सभी मानव द्‌वारा निर्मित है और इस आधार में जो भी कुछ प्रेमचंद ने लिखा है व जो भी कुछ होरी के साथ हुआ है, वह एक प्रकृतिक सहज और मनुष्य की समझ की प्रक्रिया है, वे

	लोग जो पीछे हैं उन्हें ऐसी बहुत सी समस्याओं को झेलना ही पड़ेगा, बहुत सी ऐसी शर्तों को मानना ही पड़ेगा, जो पहले के वर्गों द्वारा निर्मिति है, जिनके हाथों में सत्ता है। जिस दिन लड़-झगड़ कर जब आप उस स्थिति में आ जाएँगे, आप भी वैसा ही करने लगेंगे। गोदान में यदि देखा जाए तो होरी कई स्थानों पर जमींदार साहबों, शाहों की और ऊँचे स्तर के लोगों की प्रशंसा भी करता रहता है। ऐसे ही गोबर भी, जब वह शहर जाता है काम करने के लिए, ऐसे ही बहुत से अन्य पात्र।
	होरी : पात्रों के जीवन में, समाज के बहुत से लोगों के जीवन में बहुत से कष्ट आते हैं, इसका सीधा अर्थ है कि आप बहुत से कार्यों में पीछे हैं। इसलिए आपको कष्ट मिले हैं, अन्यथा नहीं मिलते या किसी और को मिलते। क्योंकि सब कुछ प्रकृति के साथ मिलकर मनुष्य ने निर्मित किया है, इसलिए यह समझने योग्य है। यहाँ प्रेमचंद को होरी की दीनता के बारे में नहीं लिखना है और न ही यह सब देखे-पढ़कर आपको भावुक होना है बल्कि अपनी स्थिति को समाज में देखना है कि कुछ क्षण बाद आपके जीवन में क्या होगा और किस विधि होगा या इतने पीछे होने के कारण होगा आदि।

इस प्रकार आप चाहें तो किसे अन्य कृति को भी जैव-प्रद्योलोचना के आधार में रख कर प्रयोगिक रूप में देख सकते हैं किंतु ध्यान रहे कि जिस भी वाद में आप कृति को ढाल रहे हैं उसके बारे में अधिकतम ज्ञान भी आपके पास होना चाहिए यह डरने डराने कि चीज नहीं है वास्तविकता है ताकि वास्तविकता का पाठक सम्मुखीकरण हो सके अन्यथा आप के द्वारा किया गया कार्य एक बदमासी करने के बराबर होगा। अर्थात् नामवर सिंह की वह बात ध्यान रखना चाहिये की 'सत्य के लिए वेद से भी नहीं डरना चाहिए।' सत्य अर्थात् विश्लेषण ? उत्तर-आलोचनावाद का उद्देश्य- जैव-प्रौद्योलोचना का मुख्य उद्देश्य है कि किसी रचना को पूरे विश्व में फैली सभी सामाजिक और उसे लाभ या हानि पहुँचाने वाली दृष्टियों के आधार में या इन सभी कुंजियों से रचना को खोला जाए और प्रत्येक पात्र की भूमिका उस दृष्टि में क्या होगी आदि दिखाया जाए। सबसे मूल कारण जैव-प्रौद्योलोचना के या में होने का कारण यही है कि रचना में आया पात्र अपनी भूमिका इस दृष्टि में कैसा दिखाएगा और क्या करेगा। ताकि जीवन में जो भूमिका निभाए कोई व्यक्ति, वह न हो तो यहाँ से सीख अवश्य ले और इस तरह आज के समाज को प्रत्येक प्रकार से संतुष्ट और वैश्विक शांति के लिए जैव-प्रौद्योलोचना का प्रयोग होना चाहिए।

4. जैव-प्रौद्यालोचना की पंचायत में पर्यावरण: इस संपूर्ण ब्रह्मांड में, जिससे लगभग हम परिचित हैं, उसमें एक ऐसा ग्रह, जहाँ जीवन संभव है, जिसे हम अपनी भाषा में पृथ्वी कहते हैं, और पृथ्वी जिस वातावरण को संरचित व स्वयं में निश्चित करती है उसे पृथ्वी-वातावरण कहते हैं

जैसा कि पर्यावरणविद गोपीनाथ श्रीवास्तव ने कहा है कि "शब्द 'पर्यावरण' 'परि' और 'आवरण' से मिलकर बना है। इसके अंतर्गत हमारे चारों ओर का विस्तृत वातावरण आता है जिसमें सभी जीवित एवं निर्जीव वस्तुएँ और पदार्थ- संपूर्ण जड़ और चेतन सम्मिलित हैं। पृथ्वी के चारों ओर प्रकृति तथा मानव निर्मित समस्त दृश्य या अदृश्य पदार्थ पर्यावरण के अंग हैं। हमारे चारों ओर का वातावरण और उसमें पाए जाने वाले प्राकृतिक, अप्राकृतिक, जड़, चेतन सभी का मिला-जुला नाम पर्यावरण है।" जैसे यहाँ जिस पर मूल रूप में जीवन का रूप एक हो सकता है, जैसे प्राण की आवश्यकता सभी को है और वह सभी के पास है और जिनके पास नहीं है, वे पदार्थ-प्राण में हैं किंतु फिर भी जीवन के आकार, मात्र एक प्रकार के नहीं बल्कि बहुत रूपों व आकारों में हैं जैसे थलीय, जलीय और नभीय जिसमें भी मनुष्य, पशु, पक्षी और सूक्ष्म जीव, वनस्पतियाँ आदि शामिल हैं जिसमें प्रत्येक को कहीं न कहीं एक दूसरे के सहयोग की आवश्यकता है। ठीक इसी रूप में यदि हम देखें तो पर्यावरण में जो भी कुछ हो रहा है वह स्वयं में गलत नहीं है बल्कि विकासवाद के आधार में वह सतत् और सत्य और वास्तविक है। हम यहाँ यह सब जैव-प्रौद्यालोचना के प्रयोग में यह देख सकते हैं जिसमें पर्यावरण के विभिन्न पाठ यहाँ अन्वेषीय रूप में उपस्थित होंगे।

मार्क्सवादः मार्क्स की दृष्टि से यदि पर्यावरण को देखा जाए तो पर्यावरण जिनमें बहुत से पदार्थों के साथ जो भी कुछ हो रहा है, वह वास्तविक है और बहुत कुछ के लिए समतीय है। क्योंकि अब तक उच्च वर्ग का व्यक्ति या औद्योगिक संघ पूर्ण रूप से समस्त पर्यावरण का दोहन कर रहा था, किंतु मार्क्स का जहाँ यह मानना था कि पदार्थ पर सभी का अधिकार है, तो जो लोग पीछे रह गए थे, वे अपनी क्षति-पूर्ति आज के समय में कर रहे हैं। यहाँ यह कहा जा सकता है कि आज जो भी कुछ हो रहा है वातावरण के साथ वह मार्क्स के समताधार में सत्य ही है। जैसे दलितों, किसानों, स्त्रियों आदि का आज जीवन-आवश्यकताओं की ओर बढ़ आना और बहुत कुछ की खरीदारी और उपलब्धताएँ आदि। जिससे पर्यावरण का हनन तो सतत् होगा किंतु समता के व्याकरण के आधार में वह गलत नहीं हो रहा है। ये पीछे रह गए जन-समूह है जो बराबरी के लिए पर्यावरण हनित करेंगे।

विखंडनवादः यदि विखंडन की दृष्टि से देखें तो कह सकते हैं कि संपूर्ण पर्यावरण को दूषित करने और उसका विशेष सीमा तक लाभ लेने और उपभोग करने के विवरण को उस औद्योगिक संघ से कोई कुछ नहीं पूछता और न ही कोई तर्क करता है। उनके घरों-बाजारों में सबसे बड़े और अन्य प्रकार की वस्तुएँ जो पेड़ों को काट कर बनाई जाती थीं, उनका विवरण पीछे के लगभग दो हजार वर्षों का किसी के पास नहीं है। कोई यह नहीं पूँछता कि वह कौन सा व्यक्ति रहा जिसने सबसे पहले एक पेड़ को काटा था या वह कौन था जिसने खेत में हल चलाया था या मिट्टी खोदी थी या पहली जब ट्रेन चली व जब डी-इंजन का निर्माण हुआ तो कितने लोग ऐसे थे जो दुखी थे। आज यदि भारत में ही कार बिक्री की सूचना मात्र देखें तो जैसे कि सहायक सामाग्री में तो कहा गया है कि "सिआम (SIAM) के डायरेक्टर जनरल राजेश मेनन ने कहा कि यात्री वाहनों ने जनवरी 2025 में 3.99 लाख यूनिट की

अपनी अब तक की सबसे ज्यादा बिक्री दर्ज की। देश की सबसे बड़ी कार निर्माता कंपनी मारुति सुजुकी इंडिया की बिक्री जनवरी 2024 के 1,66,802 वाहनों के मुकाबले बढ़कर 1,73,599 वाहन हो गई। यह 4 फीसदी की बढ़त है। हुंडई मोटर इंडिया की बिक्री 5 फीसदी घटकर 54,003 यूनिट रह गई, जबकि पिछले साल जनवरी में यह 57,115 यूनिट थी। महिंद्रा एंड महिंद्रा की बिक्री जनवरी 2024 के 43,068 यूनिट से बढ़कर 50,659 यूनिट हो गई।" यदि देखा जाए तो आज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए विज्ञान सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है और मैं यदि यह कहूँ कि कितने ऐसे लोग हैं जो भारी वाहनों से नहीं चलना चाहते, बल्कि ऐसा कोई ही होगा, जिसके माता-पिता तक अपने परिवार के प्रार्थना न करते होंगे कि 'वे' या 'उनके' लोग वायुयान से न चलें। शायद ऐसा कोई नहीं है। आए दिन अनेकों त्योहार होते हैं जहाँ लाखों जीवों की हत्या होती है। भारत के एक लोक-मनोवैज्ञानिक आचार्य प्रशांत ने रिपोर्ट में पाया कि तीन करोड़ से अधिक जीवों की हत्या हम रोज किसी न किसी रूप में करते ही हैं। ऐसे ही पाकिस्तान के एक पर्व आँकड़े में पाया गया है कि "इस्लामाबाद : पाकिस्तान में ईद उल अजहा से जुड़ी एक नई रिपोर्ट सामने आई है। बुधवार को पाकिस्तान टेनर्स एसोसिएशन ने एक बयान में खुलासा किया कि पूरे पाकिस्तान में 12 लाख से ज्यादा पशुओं की बलि दी गई। इनकी कीमत 500 अरब पाकिस्तानी रुपए है। एसोसिएशन की केंद्रीय कार्यकारी समिति के सदस्य आगा सैयदैन के मुताबिक बलि देने वाले जानवरों में 290,000 गायें, 330,000 बकरियाँ, 385,000 भेड़ और 98000 ऊँट शामिल हैं। इसके अलावा 165000 भैंसों की भी बलि दी गई।" और ऐसे लाखों भार की संख्या में बारूद जलती है, और करोड़ों बीघे खेतों में कीटनाशक औषधियों का प्रयोग होता है।

संझूठवाद: संझूठ सिद्धांतिकी कहती हैं कि सब कुछ किन्हीं अपने समय के मनुष्य द्वारा अपने समूह हित के लिए प्राचीन समय से निर्मिति किया गया है यह कृतिम निर्मिति है इसलिए इसमें कोई मौलिकता होकर भी मौलिकता नहीं है: तथापि झूठ के आधार में यदि पर्यावरण को देखा जाए तो कह सकते हैं कि प्राचीन समय में यह माना जाता रहा है कि प्रलय संभव हुआ था अर्थात् यह कि आप कितना ही कुछ बचाएँ और कितना ही कुछ करें, एक मानी में पृथ्वी स्वयं को स्वयं ही बनाती और संरक्षित करती रहती है, वर्षा का होना इसका बड़ा उदाहरण है, किंतु मुख्य यह कि पहले जब प्रलय आया तब क्या उससे पहले पर्यावरण का विनाश हो गया था, शायद नहीं, किंतु फिर भी अपने पृथ्वी आयु समय के साथ सब कुछ नष्ट हो गया, वही आज भी है, यही जल-संरक्षण, पर्यावरण संरक्षण की जहाँ हम बात करते हैं, भले ही हम इसे अपने जीवन संतुलन के लिए संरक्षित कर रहे हैं किंतु एक दिन यही हमारी समाधि बनाएगा।

उत्तर-संरचनावाद: उत्तर-संरचनावाद पर्यावरण को लेकर कई जादुई प्रश्न कहता है कि वह कौन और कैसा समय था जब यह पहचाना गया कि 'जल' हमारे जीवन के लिए आवश्यक है। वातावरण हमारे जीवन के लिए आवश्यक है और वह कैसा और कौन सा व्यक्ति था जिसने सबसे पहले बहुत से पदार्थों के आदान-प्रदान को समझा था। वे कौन सी श्रेणी के लोग हैं, जो किन्हीं पदार्थों

के आदान-प्रदान में सबसे आगे निकल गए और वे कौन सी श्रेणी के लोग हैं, जो इस कार्य में अपने सहयोग तक के कर्म से बाहर थे और आज भी हैं। यदि पर्यावरण को बाजारवादियों के हाथों में दे दिया जाए तो क्या होगा और यदि पर्यावरण को गैर-बाजारवादियों के हाथों में दे दिया जाये, तो क्या होगा। किनके हांथों में पर्यावरण से सबका जीवन चल सकेगा और किनके हाथों में से सारे जीवों के पृथ्वी पर से दूसरे दिन ही मृत्यु हो जाएगी। शायद हमें दोनों से खतरा है। यदि पृथ्वी पर मनुष्य न होता तो आज पृथ्वी, पर्यावरण, वातवरण का क्या होता, क्या वह इसी स्थिति में होती अथवा इससे कहीं अधिक बिषमई, जिसे हमने कभी देखा ही नहीं, जबकि मनुष्य ने बहुत कुछ को आलोचित किया है और बहुत कुछ को परिष्कृत किया है, यह मानव द्वारा किया गया परिष्करण उचित है, मनुष्य-वातावरण के लिए अथवा अमेजन के जंगल का जीवन आदि।

धर्मवादः धर्मवाद के आधार में यदि हम पर्यावरण को देखें तो कह सकते हैं कि हिंदू धर्म में पेड़ों की पूजा होती है, विशाल पेड़ों की पूजा इसी धर्म से संबंधित है। वानिकी चिंतक आर के शर्मा लिखते हैं कि "आदिकाल से भारत के पूर्वजों ने वनों के महत्व को समझा तथा पेड़ों की देवता समझ कर पूजा की, वृक्षों की रक्षा को अपना परम कर्तव्य समझते थे।" यहाँ भारत के पूर्वज का अर्थ हिंदू धर्म से समझने की आवश्यकता है, साथ ही गाय जैसे पशु की भी पूजा होती है। प्रत्येक फसल के पूरे होने तक फसल पूजा होती है। जहाँ अन्न की पूजा है। यहाँ तक की हिंदू धर्म में किसी की हत्या आदि तक करना भी वैधिक नहीं है, हिंसा बहुत बड़ी हिंदू धर्म की शक्ति है अर्थात् इस धर्म में ऐसा कुछ भी नहीं है जहाँ, पर्यावरण को क्षति पहुँचती हो।

इस्लाम धर्म में यदि देखें तो प्रत्येक वर्ष बकरीद में करोड़ों पशुओं की बलि दी जाती है। मुंशी सय्यद मुश्ताक अली ने 'वैचारिक प्रदूषण' नाम की अपनी एक पुस्तक में लिखते हैं कि "इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका (खंड एक, पृष्ठ 13) और इंसाइक्लोपीडिया बबलीका (खंड चार, पृष्ठ 4187) में दर्ज है कि.......... "ईरान, हिंदुस्तान, यूनान, रोम, अरब, अफ्रीका और प्राचीन अमेरिका में कुर्बानी की आम प्रथा थी। ईश्वर को खुश करने, गुनाहों का प्रायश्चित करने, देवताओं के प्रकोप से बचने, गरीबी दूर करने, शायरी की प्रतिभा बढ़ाने और बीमारी से छुटकारा पाने के लिए कुर्बानियाँ हुआ करती थीं।" और यह आज भी होता है। भोजन में भी वे माँस का सेवन वैधिक मानते हैं। वे किसी पेड़, पशु, जीव, मानव के प्रति श्रद्धा नहीं रखते अर्थात् इस धर्म में ऐसा बहुत कुछ है जहाँ हिंसात्मकता है और हिंसात्मकता पर्यावरण को कहीं न कहीं असंरक्षित करती है।

राष्ट्रवादः आदिम समय से लेकर शायद अभी तक भी विश्व में बहुत से ऐसे राष्ट्र हैं जहाँ खाने के लिए मात्र और मात्र जीवों का ही सहारा है और जहाँ धर्म भी उसी संस्कृति के आधार में बता रहे हैं। इसलिए बहुत से राष्ट्र अपने धर्म और संस्कृति के आधार में कहीं जल के बदले पानी लेते हैं तो कहीं पाने के बदले अन्य पदार्थ का आदान-प्रदान करते हैं। कहीं जीवाओं को ही मारा और खाया जाता रहता है। कहीं-कहीं कुछ राष्ट्रों में व्यापार के इतने अधिक साधन हैं कि वे बिना कुछ सोचे बहुत

कुछ को व्यापारित करते रहते हैं। जिससे पर्यावरण का लगातार खतरा बढ़ रहा है। जैसे दुबई, अमेरिका और चीन, जापान आदि बहुत खनन करते हैं।

जैववादः पृथ्वी के साथ चाहे कुछ भी हो, इससे भी पहले कि वह अपने साथ अपने रूप में, अपनी शक्ति के साथ, बहुत कुछ स्थापना की और अपनी स्थिति के साथ वह बहुत कुछ समेटे रहेगी, जिसमें किसी का भी कुछ भी हो सकता है। उसे नहीं ज्ञात कि मनुष्य क्या है, कौन है और वह क्या है और कौन है, क्योंकि किसी को कुछ नहीं ज्ञात कि कौन क्या है और कितना है। पर्यावरण के विनाशित होने से यदि जीव–जन्तु नहीं रहेंगे तो शायद पृथ्वी भी अपनी स्थिति में नहीं रहेगी या रह भी सकती है अर्थात् जिस प्रकार से किसी की भी निर्मिति हुई है ठीक उसी प्रकार या अवरोही क्रम में वह जहाँ, जिस प्रकार से आया था, उसी में सिमट जाएगा।

उत्तर–आधुनिकताः उत्तर–आधुनिकता का पर्यावरण के प्रति कहना है कि मुझे आज का क्षण, अभी इसी समय, बिलकुल इसी स्थान पर हर तरह से जी लेना है, चाहे कुछ भी, वह यह भी कहता है कि आज का जो जीवन है वह पर्यावरण के विहीन और विपरीत होने की तरह है का जीवन है, इसलिए पर्यावरण का संरक्षित होना अथवा न होना कोई बड़ा अर्थ नहीं रखता। किंतु दूसरी ओर वह यह भी कह सकता है कि पर्यावरण के प्रति एक कानून होना चाहिए, जिस कानून की शर्तें मनुष्य के जीवन से भी अधिक कीमती होनी चाहिए, क्योंकि मनुष्य अथवा किसी जीव की मृत्यु की क्षति–पूर्ति भी की जा सकती है, किंतु पर्यावरण के मृत होने से कभी भी किसी के होने की पूर्ति नहीं की जा सकती। यद्यपि उत्तर–आधुनिकता पर्यावरण को समयानुसार स्वीकार भी करती है और अस्वीकार भी।

संविधानवादः संविधानवाद के आधार में यदि पर्यावरण के बारे में कहा जाए तो जैसे कि कहा गया है कि "अनुच्छेद 51A में प्रावधान है कि प्रत्येक नागरिक पर्यावरण की रक्षा करेगा।" जिसके अंतर्गत पर्यावरण संरक्षण के लिए बहुत से कार्यक्रम राज्य स्तर पर भी और केंद्र स्तर पर भी चलाएँ जाते आ रहे हैं। जैसा कि संविधान समाज के लिए एक व्यवस्था विधि है और समाज की आवश्यकता में पर्यावरण को भी स्थान दिया गया है। किंतु आज कभी भी किसी भी संविधान संरक्षक ने एक भी पौधा या ऐसा कार्य नहीं किया होगा जिससे पर्यावरण का हनन न होता हो, यदि आलोच्य कहा जाए तो कोई भी न्यायाधीश, राजनेता, प्रधानमंत्री अथवा ऐसे नया भी पैदल नहीं चलते, लगभग माँस का सेवन करते हैं और विज्ञान, तकनीकि और ऐसे विधि यंत्रों के संरक्षक हैं जो अपने जन्म से लेकर अपने समाप्त होने तक मात्र और मात्र पर्यावरण हनन करते हैं।

अंतरराष्ट्रीय राजनीतिवादः अंतरराष्ट्रीय राजनीतिवाद के आधार में पर्यावरण को यदि देखा जाए तो कह सकते हैं कि अंतरराष्ट्रीय राजनीति व्यापरिक रूप में सबसे अधिक पर्यावरण हनन करवाती है। उदाहरण रूप में आज जितने भी पर्यावरण को हनित करने वाले बड़े रूप दिखे जैसे इंटरनेट, वायुयान, रेलगाड़ी, कलकारखाने, वाहन–परिवाहन, ध्वनि यंत्र जिनसे सबसे अधिक पर्यावरण

अंतरराष्ट्रीय राजनीति के रूप में ही किसी देश से किसी देश में लाये जाते रहे हैं। यदि अंतरराष्ट्रीय राजनीति व्यापार के क्षेत्र में इस प्रकार से कार्य न करती, वे सभी साधन उसी स्थान में रह जाते तो शायद यह सब न होता। किंतु प्रत्येक को इसकी आवश्यकता न होकर भी उसे उससे जबरन जोड़ा गया है। उदाहरण के रूप में यदि कहा जाए तो मोबाइल और 'कामपुत्र' की आवश्यकता सभी की आवश्यकता नहीं है, किंतु हर व्यक्ति को उससे जोड़ा गया है। अस्तित्ववाद में पर्यावरण का जीवन सुरक्षित है। वह हर तरह से चाहे वे अणुबम के न बनाए जाने के रूप में हो अथवा मानवता के विपरीत कोई भी विधि वे हर प्रकार से बहुत कुछ को अस्वीकार करते हैं। मेरा यह मानना है कि अस्तित्ववादी पर्यावरण के बड़े किसान हैं।

बाजारवाद: पर्यावरण को यदि बाजारवाद की दृष्टि से देखें तो कहा जा सकता है कि पर्यावरण का दूसरा नाम ही बाजार है, बाजार जिसे मनुष्य ने निर्मित किया है, आपेहित के लिए और पर्यावरण संरक्षण भी उसी हित में आ गया सा दिखाई देता है। किंतु यदि हम जब अंतरराष्ट्रीय दस उच्च उद्योग कलकारखानों की संख्या सहायक आँकड़ों में देखते हैं तो–

रैंक	नाम	बाजार आकार	कीमत	आज	देश
1.	एप्पल	$3.434 टी	$225.89	0.07%	यूएसए
2.	NVIDIA	$3.197 टी	$130.00	4.35%	यूएसए
3.	माइक्रोसॉफ्ट	$3.133 टी	$421.53	0.73%	यूएसए
4.	अल्फाबेट	$2.061 टी	$168.40	2.22%	यूएसए
5.	अमेजोन	$1.870 टी	$178.82	0.66%	यूएसए
6.	सऊदी अरामको	$1.828 टी	$7.56	0.18%	सऊदी अरब
7.	मेटा प्लेटफॉर्म	$1.338 टी	$529.28	0.35%	यूएसए
8.	बर्कशायर हैथवे	$967.0 बी	$448.77	0.96%	यूएसए
9.	टीएसएमसी	$909.89 बी	$175.45	0.52%	ताइवान
10.	एली लिली	$830.02 बी	$921.81	0.03%	यूएसए

अर्थात् इतना अधिक धन पर्यावरण के दोहन से ही तो आता है। इसी को देखते हुए बहुत से बाजार परक पर्यावरण के हित हेतु कार्यक्रम चलाए गए हैं। किंतु फिर भी इतना सब कुछ होने के उपरांत होना कुछ भी नहीं है, क्योंकि बाजार बंद नहीं होगा। वह बड़े लगातार के साथ पर्यावरण को बाजार परिवर्तित करता–बनाता रहेगा, यहाँ तक की पर्यावरण के संरक्षक, शोधार्थी और विशेषज्ञ सभी बाजार से बाहर नहीं जा सकते। अब यदि जैव–प्रौद्यालोचना की पंचायत में पर्यावरण को हम आपूंजीवाद और बाजारवाद दो दृष्टियों के साथ देखें तो कह सकते हैं कि आज विश्व भर में इतनी

सारी औद्योगिता कल–कारखाने बने हुए हैं कि पर्यावरण का हनन हमारी आवश्यकता बन गई है। इस प्रकार जैव–प्रौद्यालोचना के माध्यम से हम एक पदार्थ के अनेकों पाठ निष्काषित कर सकते हैं।

निष्कर्ष: विश्व भर में कोई भी विषय, पाठ, बिंदु, पदार्थ, वस्तु अपने संरचनात्मक, गणितीय, वैज्ञानिक व विश्लेषणात्मक रूप और आधार में कभी भी गलत नहीं होता बल्कि उसे गलत और सही किसी न किसी दृष्टि दर्शन में अथवा मानव, समाज, आवश्यकता और उपलब्धि हेतु कभी–कभी शासन के समाज व उसके बौद्धिक–विवेक द्वारा तो कभी–कभी समाज के शासन के परिवर्तनीय लालसाओं के द्वारा और साथ ही बहुत सी मानवीय मनोवैज्ञानिक ईर्ष्याओं व अनेकों बौद्धिक स्तरों के कारण किया/कराया व कर दिया जाता है। जिनके कारण साहित्य और अन्य सामाजिक उप–समाजों में अनेकों प्रकार के पाठ संरचित होते रहते हैं। जो कभी कविता के रूप में दृष्टित होते हैं तो कभी न्यूटन के गुरुत्व सिद्धांतिकी और कभी आइंस्टीन के $e=mc^2$ के रूप में दिखाई पड़ती है और उसी को कभी गणित–ओर से कहा जाता है कि कविता का समाज में कोई प्रयोजन नहीं तो कभी कविता वाला कहता है $e=mc^2$ का कोई अर्थ नहीं और ये सभी अपना–अपना बाजार ठीक करते रहते हैं। इसमें जिसका बाजार समाज में मान्य व चल–निकल पड़ता है, उसी का मान मूल्य हो जाता है और बहुत कुछ को पीछे छोड़ दिया जाता है। आने वाली पीढ़ी छूटे हुए को त्रुटि परक और असत्य–गलत आदि मान बैठती है और जिसमें भी बहुत कुछ को त्रुटि परक कराने का कार्य बाजार में मान्य 'पाठ' करता/करते हैं जैसे आज के समय में भौतिक–तकनीकि बौद्धिकता, परिवर्तन–विज्ञान व धर्म और बाकी को लगभग पीछे कर दिया गया है किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि जिन्हें पीछे छोड़–छुड़ा दिया गया है वे गलत हैं, वे गलत नहीं हैं बल्कि दूसरे के बाजार से वे दबा दिये गए हैं या दब गए हैं। जिसका मुख्य कारण शासन, समाज और आलोचना दृष्टियाँ हैं और इसीलिए आज हमें आलोचना के क्षेत्र में बहुत अधिक सोचने की आवश्यकता है। ताकि वास्तविकता को ठीक से बौद्धिक–समझ द्वारा स्पर्शीय अनुभव किया जा सके।

संदर्भः

1. दास, श्यामसुन्दर, 2014, साहित्यालोचन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 176
2. सिंह, योगेन्द्र प्रताप, 2008, हिंदी आलोचनाः इतिहास और सिद्धांत, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 58
3. वही, पृ. 58
4. वही, पृ. 194
5. वही, पृ. 221

उदाहरणीय संदर्भः

क - संदर्भ मूर्त ग्रंथ सूचीः

1. गोपीनाथ श्रीवास्तव, पर्यावरण प्रदूषण (2015), सुनील साहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 21
2. आर के शर्मा, पर्यावरण प्रदूषण और पारिस्थिकी (2013), चोपड़ा साहित्य केंद्र, इलाहाबाद, पृ. 10
3. सय्यद मुश्ताक अली, वैचारिक प्रदूषण (2012), भारत भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 14

ख - संदर्भ अमूर्त ग्रंथ सूचीः

1. आलोक कुमार बंसल, पर्यावरण एवं पर्यावरणीय संरक्षण (2013), सबलाइम पब्लिकेशन्स, जयपुर
2. अर्चना एल कानडे, पर्यावरण के प्रति सक्रिय जागरूकता (2018), रावत प्रकाशन, नई दिल्ली
3. कुलदीप बख्शी, पर्यावरणीय समस्याएँ (2015), विभावरी पब्लीकेशन, दिल्ली

ग - संदर्भ बेब सूचीः

1. https:/navbharattimes.indiatimes.com/, 14 फरवरी, 2025 को उपलब्ध
2. https:/navbharattimes.indiatimes.com/, 20 जून, 2024 को उपलब्ध
3. https:/www.jagranjosh.com/, 20 अगस्त, 2024 को उपलब्ध
4. https://www.dristiias.com/, 29 जून, 2021 को उपलब्ध
5. http://www.kavitakosh.org/, 9 अगस्त, 2012 को उपलब्ध

❑❑

भारतीय भाषाओं में प्रदर्शनकारी कलाओं की समालोचना

(नृत्य, संगीत, गायन, नाटक आदि तथा चित्रकला, मूर्तिकला व सिनेमा)

—रवीन्द्र नाथ श्रीवास्तव 'परिचय दास'

सार

भारतीय भाषाओं में कला-समालोचना की कमी एक गंभीर साँस्कृतिक, सामाजिक और शैक्षिक समस्या है। भारत की साँस्कृतिक विविधता और समृद्ध कलात्मक परंपराओं के बावजूद, भारतीय भाषाओं में प्रदर्शनकारी कलाएँ, चित्रकला, मूर्तिकला और सिनेमा आदि की गहरी समालोचना नहीं हो पाई। इसका प्रमुख कारण अंग्रेजों द्वारा भारतीय कलाओं के प्रति अपनाई गई पश्चिमी दृष्टि, भारतीय शिक्षा प्रणाली में कला के प्रति उदासीनता, समाज में कला की स्थिति, कला समीक्षकों की कमी और मीडिया में भारतीय भाषाओं को कम प्राथमिकता मिलना है। इस स्थिति को सुधारने के लिए भारतीय भाषाओं में कला-समालोचना को बढ़ावा देने हेतु कला शिक्षा में सुधार, भारतीय भाषाओं में मीडिया और साहित्यिक मंचों का विस्तार, समालोचकों को प्रोत्साहित करने के लिए पुरस्कारों और सम्मानों की व्यवस्था, तथा डिजिटल माध्यमों का उपयोग जैसे प्रयास किए जाने चाहिए। इससे भारतीय भाषाओं में कला-समालोचना का विकास होगा और यह भारतीय साँस्कृतिक पहचान को सशक्त करने में सहायक सिद्ध होगी।

बीज-शब्द: *भारतीय भाषाएँ, कला-समालोचना, प्रदर्शनकारी कला, चित्रकला, मूर्तिकला, सिनेमा, साँस्कृतिक विविधता, पश्चिमी दृष्टिकोण, शिक्षा प्रणाली, कला मीडिया, डिजिटल माध्यम, समालोचक, साहित्यिक मंच, कला इतिहास, वैश्वीकरण।*

भारतीय कला-जगत में प्रदर्शनकारी कलाएँ, चित्रकला-मूर्तिकला व सिनेमा आदि की अपेक्षित स्तरीय समालोचना की कमी भारतीय भाषाओं में एक गंभीर प्रश्न है, जिसे ऐतिहासिक, साँस्कृतिक, सामाजिक और शैक्षिक कारणों के माध्यम से समझने की

आवश्यकता है। भारत एक साँस्कृतिक विविधता से भरा देश है, जहाँ विभिन्न प्रकार की कलाएँ पनपी हैं, जिनमें से कुछ का इतिहास हजारों वर्षों से है। फिर भी, इन कलाओं पर गहन और समृद्ध समालोचना भारतीय भाषाओं में कम देखने को मिलती है।

अंग्रेजों ने भारत की पारंपरिक कलाओं पर ध्यान दिया लेकिन अपनी दृष्टि से उसका विश्लेषण किया। उनके लिए कला केवल शिल्प या शौक की चीज थी, न कि साँस्कृतिक पहचान या सामाजिक आंदोलनों का माध्यम। इस काल में, भारतीय कलाओं पर ध्यान तो दिया गया परंतु उसके समालोचन- दृष्टिकोण में अधिकतर पश्चिमी मूल्यों और मानकों का प्रयोग हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय कला का मूल्यांकन भी पश्चिमी दृष्टिकोण से किया जाने लगा। इससे भारतीय भाषाओं में कला-समालोचना की अपनी परंपरा कमजोर पड़ गई। आनन्द कुमार स्वामी अपवाद थे।

भारतीय भाषाओं में कला-समालोचना का विकास न हो पाने का एक प्रमुख कारण शिक्षा प्रणाली में भारतीय कलाओं और भाषाओं के प्रति उदासीनता है। आधुनिक भारत में शिक्षा प्रणाली अंग्रेजों द्वारा शुरू की गई और इसमें पश्चिमी दृष्टिकोण और भाषाओं को प्राथमिकता दी गई। कला शिक्षा, विशेष रूप से प्रदर्शनकारी कला, चित्रकला और मूर्तिकला, शिक्षा के केंद्र में नहीं थी। जब कला पर ध्यान दिया भी गया, तो अंग्रेजी को प्रमुख भाषा बनाया गया, जिससे भारतीय भाषाओं में कला पर समालोचना करने की प्रवृत्ति कम हो गई। कला पर संवाद और समालोचना का एक बड़ा हिस्सा अंग्रेजी में ही सीमित हो गया।

इसके अतिरिक्त, भारतीय समाज में कला की स्थिति भी एक बड़ा कारण है। भारत में शिक्षा और पेशेवर विकास पर ध्यान अधिक होता है, जबकि कला को अक्सर शौक या अवकाश के साधन के रूप में देखा जाता है। विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में, कला को जीविका के साधन के रूप में नहीं देखा जाता, और इसे जीवन के मुख्य कार्यों से अलग रखा जाता है। इसके विपरीत, पश्चिमी समाजों में कला एक प्रतिष्ठित और सम्मानजनक पेशा है, जहाँ कलाकारों और कला समालोचकों को समाज में प्रमुख स्थान दिया जाता है। इस साँस्कृतिक अंतर के कारण भारतीय समाज में कला की समालोचना पर उतना ध्यान नहीं दिया गया जितना अपेक्षित था।

भारतीय भाषाओं में कला-समालोचना की कमी का एक और महत्वपूर्ण कारण समालोचक और कला समीक्षकों की कमी है। कला-समालोचना एक विशेष प्रकार की विशेषज्ञता माँगती है, जिसमें कला के विभिन्न रूपों की गहरी समझ और उनका ऐतिहासिक, साँस्कृतिक और सामाजिक संदर्भ में मूल्यांकन शामिल है। भारतीय भाषाओं में ऐसे समालोचक बहुत कम हैं, जो अंतरराष्ट्रीय मानकों के अनुरूप समालोचना कर सकें। इसके अलावा, जो समालोचक हैं, वे अक्सर अंग्रेजी में लिखने को प्राथमिकता देते हैं, क्योंकि इसे अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त है और यह व्यापक रूप से पढ़ी जाती है। इस कारण भारतीय भाषाओं में कला समालोचना करने की प्रवृत्ति कम हो जाती है।

भारतीय भाषाओं में कला-समालोचना की कमी का एक अन्य कारण कला-संस्थानों और मीडिया में भारतीय भाषाओं को कम महत्त्व दिया जाना है। जब कला प्रदर्शन होते हैं या कलात्मक विषयों पर सेमिनार और प्रदर्शनियाँ आयोजित होती हैं, तो उनके बारे में लिखने और बोलने के लिए अक्सर अंग्रेजी को प्राथमिकता दी जाती है। मीडिया में भी, कला-प्रदर्शन या कला- समीक्षाओं के लिए अंग्रेजी में लिखे गए लेखों को प्रमुखता दी जाती है। इसके परिणामस्वरूप, भारतीय भाषाओं में लिखने वाले समालोचकों को अवसर और मंच बहुत कम मिलते हैं। वे अपने विचारों को व्यापक दर्शकों तक पहुँचाने के लिए अंग्रेजी को प्राथमिकता देते हैं, जिससे भारतीय भाषाओं में कला समालोचना का विकास ठहर जाता है।

इसके अलावा, भारतीय कला संस्थानों और विश्वविद्यालयों में कला-शिक्षा के पाठ्यक्रमों में भारतीय भाषाओं को बहुत कम प्राथमिकता दी जाती है। जब कला-इतिहास, सिद्धांत या समालोचना पढ़ाई जाती है, तो इसमें अधिकतर अंग्रेजी भाषा का ही प्रयोग होता है। छात्रों को भारतीय भाषाओं में कलाओं पर लिखने और विचार-विमर्श करने के लिए प्रोत्साहित नहीं किया जाता। इससे छात्रों और युवा कला समीक्षकों में भारतीय भाषाओं में कला पर लिखने की रुचि कम हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप, भारतीय भाषाओं में कला समालोचना करने वाले लोग बहुत कम संख्या में होते हैं।

सामाजिक संदर्भ में, भारत में कला को एक विशिष्ट वर्ग या क्षेत्र से जोड़ा जाता है। कला, विशेष रूप से प्रदर्शनकारी कला और मूर्तिकला, उच्च वर्गों या विशिष्ट सामाजिक समूहों के साथ जुड़ी होती है। इसके परिणामस्वरूप, इन कलाओं पर समालोचना और चर्चा भी उन्हीं सामाजिक समूहों तक सीमित रह जाती है। भारतीय भाषाओं में समालोचना की कमी का एक कारण यह भी है कि उन वर्गों और समुदायों में भारतीय भाषाओं का प्रयोग सीमित होता है, जो कला समालोचना में सक्रिय होते हैं। इससे कला समालोचना एक विशेष वर्गीय गतिविधि बनकर रह जाती है और इसका विस्तार भारतीय भाषाओं तक नहीं हो पाता।

इसके साथ ही, भारतीय कला में समकालीन आंदोलनों और नए प्रयोगों पर भारतीय भाषाओं में चर्चा बहुत सीमित रही है। समकालीन भारतीय कला में नवाचार और वैश्विक प्रभावों के कारण, कलाकार नई-नई विधियों और माध्यमों का प्रयोग कर रहे हैं। लेकिन इन नए प्रयोगों और उनके साँस्कृतिक महत्व पर समालोचना भारतीय भाषाओं में नहीं हो पाई है। इसका कारण यह है कि समकालीन कला पर चर्चा करने वाले मंच और पत्रिकाएँ अधिकतर अंग्रेजी भाषा में होती हैं। भारतीय भाषाओं में समालोचना के लिए उचित मंच और साहित्य की कमी भी इस स्थिति को बढ़ावा देती है।

भारतीय भाषाओं में कला समालोचना की कमी का समाधान करना एक चुनौतीपूर्ण कार्य है, लेकिन इसके लिए कुछ उपाय संभव हैं। सबसे पहले, कला शिक्षा में भारतीय भाषाओं को अधिक प्राथमिकता दी जानी चाहिए। कला समालोचना के लिए छात्रों को भारतीय भाषाओं में लिखने और

विचार–विमर्श करने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। कला संस्थानों और विश्वविद्यालयों में भारतीय भाषाओं में कला समालोचना के लिए पाठ्यक्रम विकसित किए जा सकते हैं, ताकि छात्रों में इस दिशा में रुचि और क्षमता बढ़ सके।

इसके अलावा, कला मीडिया में भारतीय भाषाओं में लेखन को बढ़ावा दिया जाना चाहिए। भारतीय भाषाओं में कला समालोचना के लिए विशेष पत्रिकाओं और वेबसाइटों का विकास किया जा सकता है। इससे भारतीय भाषाओं में कला पर चर्चा और समालोचना के लिए मंच मिलेगा, जिससे इस दिशा में विकास हो सकेगा। कला प्रदर्शनियों और आयोजनों में भारतीय भाषाओं में चर्चा और संवाद को प्राथमिकता दी जानी चाहिए, ताकि भारतीय भाषाओं में कला समालोचना का विस्तार हो सके।

समकालीन भारतीय कला और लोक कलाओं पर भारतीय भाषाओं में समालोचना करने के लिए समालोचकों को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। इसके लिए कला संगठनों और संस्थानों को भारतीय भाषाओं में कला समालोचना के लिए पुरस्कार और सम्मान स्थापित करने चाहिए। इससे इस दिशा में सक्रिय लोगों को प्रोत्साहन मिलेगा और भारतीय भाषाओं में कला समालोचना का विकास होगा।

भारतीय भाषाओं में कला–समालोचना की कमी को केवल भाषाई या शैक्षिक समस्या के रूप में नहीं देखा जा सकता। यह समस्या साँस्कृतिक, सामाजिक और ऐतिहासिक संदर्भों से भी जुड़ी है, जिसे ध्यान में रखते हुए इस दिशा में सुधार करना होगा। भारतीय भाषाओं में कला– समालोचना का विकास एक महत्वपूर्ण कार्य है, जो भारतीय समाज और संस्कृति के विकास के लिए भी आवश्यक है। इससे भारतीय कला को अधिक गहराई से समझा जा सकेगा और यह हमारी साँस्कृतिक धरोहर का एक महत्वपूर्ण हिस्सा बनेगी।

भारतीय शिक्षा प्रणाली में कला और साहित्य की समालोचना को उचित महत्व नहीं दिया जाता। अधिकांश पाठ्यक्रमों में अकादमिक विषयों पर जोर होता है, जिससे कला की समालोचना की कमी होती है। भारत की बहुभाषिकता के कारण, एक भाषा में समालोचना करने वाले समीक्षकों की संख्या सीमित हो जाती है। विभिन्न भाषाओं में समालोचना की कमी के कारण, एकीकृत दृष्टिकोण बनाना मुश्किल हो जाता है।

कला की समालोचना के लिए समय और संसाधनों की आवश्यकता होती है। बहुत से लोग इसे प्राथमिकता नहीं देते, जिससे समालोचना की कमी होती है। वर्तमान में, मीडिया और मनोरंजन उद्योग में व्यवसायिकता का प्रभुत्व है। इस कारण, गंभीर कला की समालोचना को प्राथमिकता नहीं दी जाती।

कला की समालोचना को शैक्षणिक पाठ्यक्रमों में शामिल करना चाहिए। विशेष रूप से, कला और संस्कृति के क्षेत्र में कार्यशालाएँ और सेमिनार आयोजित करने चाहिए।

विभिन्न भारतीय भाषाओं में समालोचना करने वाले समीक्षकों को प्रोत्साहित करना चाहिए। इसके लिए अनुवादित सामग्री और सहयोगी नेटवर्क स्थापित किए जा सकते हैं।

डिजिटल मीडिया का उपयोग करके विभिन्न कलाओं की समालोचना करने वाले ब्लॉग, यूट्यूब चैनल और पॉडकास्ट शुरू किए जा सकते हैं। इससे युवा पीढ़ी को कला के प्रति जागरूक किया जा सकता है।

विभिन्न कला रूपों को प्रमोट करने के लिए महोत्सव और समारोहों का आयोजन किया जा सकता है, जहाँ समालोचनाएँ और चर्चाएँ की जा सकें। कला और संस्कृति पर आधारित अनुसंधान को बढ़ावा देना चाहिए और संबंधित कार्यों का प्रकाशन करना चाहिए ताकि समालोचना के लिए सामग्री उपलब्ध हो सके।

इन उपायों से भारतीय भाषाओं में प्रदर्शनकारी कला और अन्य कला रूपों की समालोचना को बढ़ावा दिया जा सकता है।

भारतीय शिक्षा प्रणाली में कला और साँस्कृतिक अध्ययन को प्राथमिकता नहीं दी जाती। पाठ्यक्रमों में अक्सर साहित्य और विज्ञान पर जोर होता है, जिससे कला की गहन समझ और समालोचना की कमी हो जाती है।

भारत में कई साँस्कृतिक और सामाजिक धाराएँ मौजूद हैं, जो कला को एक विशेष दृष्टिकोण से देखने को प्रेरित करती हैं। इससे समालोचना का दायरा सीमित हो जाता है।

भारत की बहुभाषिकता के कारण, एक ही भाषा में समालोचना करने वाले समीक्षकों की संख्या सीमित हो जाती है। इसलिए, समालोचना के लिए एक व्यापक और एकीकृत दृष्टिकोण का विकास मुश्किल होता है। कई कलाकार और समीक्षक अपनी आर्थिक स्थिति के कारण कला की समालोचना को प्राथमिकता नहीं दे पाते। कला की समालोचना के लिए आवश्यक समय और संसाधनों की कमी एक बड़ी बाधा बनती है।

मीडिया और मनोरंजन उद्योग में वाणिज्यिकता का प्रभुत्व होने के कारण, गंभीर कला की समालोचना को कम महत्व दिया जाता है। अक्सर, कला को व्यावसायिक दृष्टिकोण से देखा जाता है, जिससे उसकी गहराई में जाने का अवसर कम मिलता है।

साँस्कृतिक उत्पादों का विपणन करने के लिए उनके मनोरंजनात्मक पहलुओं पर ध्यान केंद्रित किया जाता है, जबकि गहन समालोचना और विश्लेषण को नज़रअंदाज किया जाता है।

भारतीय भाषाओं में कला की समालोचना करने वाले गंभीर समीक्षकों की कमी भी एक महत्वपूर्ण कारण है। उनकी संख्या सीमित होने के कारण, गुणवत्ता युक्त समालोचनाएँ मिलना कठिन हो जाता है।

इन कारणों के चलते, प्रदर्शनकारी कला और दृश्य कला की समालोचना भारतीय भाषाओं में अपेक्षित स्तर पर नहीं हो पा रही है।

प्रदर्शनकारी कला, जैसे नृत्य, संगीत, गायन, नाटक, सिनेमा आदि और दृश्य कला- जैसे चित्रकला व मूर्तिकला की समालोचना भारतीय भाषाओं में अपेक्षाकृत कम होने के कई जटिल और आपस में जुड़े हुए कारण हैं। इन कारणों की गहराई में जाने से हम यह समझ सकते हैं कि कैसे साँस्कृतिक, शैक्षणिक, आर्थिक और सामाजिक पहलू इस स्थिति को प्रभावित करते हैं।

सबसे पहले, भारतीय शिक्षा प्रणाली का स्वरूप महत्वपूर्ण है। शिक्षा में कला और साँस्कृतिक अध्ययन को प्राथमिकता नहीं दी जाती। भारतीय विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में अक्सर विज्ञान, गणित और तकनीकी विषयों पर अधिक ध्यान केंद्रित किया जाता है। कला के प्रति जागरूकता और समालोचना का अभाव, विद्यार्थियों को इस क्षेत्र में करियर बनाने से हतोत्साहित करता है। जब कला की पाठ्यपुस्तकों में समालोचना का समावेश नहीं होता है, तो विद्यार्थियों में इसे समझने और उस पर चर्चा करने की प्रेरणा भी कम होती है। इसके अलावा, कला को एक वैकल्पिक विषय के रूप में देखा जाता है, जिससे इसके महत्व को कमतर आंका जाता है।

साँस्कृतिक पूर्वाग्रह भी इस स्थिति को प्रभावित करता है। भारत में अनेक विविधताएँ हैं और विभिन्न साँस्कृतिक धाराएँ कला को अलग-अलग दृष्टिकोण से देखती हैं। कुछ स्थानों पर, लोककला को अधिक महत्व दिया जाता है, जबकि शास्त्रीय कलाओं को सीमित दर्शकों तक ही सीमित किया जाता है। यह स्थिति समालोचना के लिए एक संकीर्ण परिप्रेक्ष्य उत्पन्न करती है। जब कला की समीक्षा केवल एक साँस्कृतिक दृष्टिकोण से होती है, तो यह व्यापक दृष्टिकोण की कमी को जन्म देती है। इसके परिणामस्वरूप, कला की गहरी समझ और विवेचना के लिए आवश्यक संवाद स्थापित नहीं हो पाता।

भाषाई विविधता भी एक महत्वपूर्ण कारक है। भारत की बहुभाषिकता के कारण, एक भाषा में समालोचना करने वाले समीक्षकों की संख्या सीमित होती है। जब एक ही कला रूप की विभिन्न भाषाओं में समालोचना नहीं होती है, तो यह कला के विभिन्न पहलुओं को समझने में बाधा डालता है। विभिन्न भाषाओं में समालोचनाओं का अभाव, एकीकृत दृष्टिकोण का निर्माण नहीं होने देता, जिससे कला का व्यापक अनुभव प्राप्त नहीं हो पाता। इसलिए, एक भाषा में की गई समालोचना को अन्य भाषाओं में पहुँचाने की आवश्यकता है, ताकि इसे और अधिक व्यापकता मिल सके।

आर्थिक कारण भी समालोचना की कमी में योगदान करते हैं। कई कलाकार और समीक्षक अपनी आर्थिक स्थिति के कारण कला की समालोचना को प्राथमिकता नहीं दे पाते। कला की समालोचना करने के लिए समय और संसाधनों की आवश्यकता होती है, लेकिन जब कलाकारों को आर्थिक स्थिरता नहीं मिलती, तो वे अपने कलात्मक प्रयासों को बनाए रखने में असमर्थ हो जाते हैं।

इसके परिणामस्वरूप, वे समालोचना करने के लिए आवश्यक समय और ऊर्जा नहीं लगा पाते। इसके अतिरिक्त, जिन समीक्षकों के पास कला की गहन समझ होती है, वे भी आर्थिक कारणों से अन्य कार्यों में व्यस्त हो जाते हैं, जिससे समालोचना की गुणवत्ता प्रभावित होती है।

वाणिज्यिकता का प्रभाव भी एक प्रमुख कारक है। वर्तमान में, मीडिया और मनोरंजन उद्योग में व्यवसायिकता का प्रभुत्व है। यह प्रवृत्ति दर्शकों को मनोरंजन पर केंद्रित करती है, और गंभीर कला की समालोचना को कम महत्व देती है। जब कला को केवल एक उत्पाद के रूप में देखा जाता है, तो इसके गहरे और सूक्ष्म पहलुओं की अनदेखी की जाती है। इस कारण, दर्शकों को केवल सतही मनोरंजन प्रदान किया जाता है और कला की गहराई में जाने का अवसर कम मिलता है। इसके अतिरिक्त, कई समीक्षक और आलोचक व्यवसायिक दृष्टिकोण से कला का मूल्यांकन करते हैं, जिससे गुणवत्ता और गहराई का अभाव होता है।

कला की विपणन रणनीतियों का भी समालोचना पर प्रभाव पड़ता है। साँस्कृतिक उत्पादों का विपणन करते समय, उनके मनोरंजनात्मक पहलुओं पर ध्यान केंद्रित किया जाता है। इस प्रक्रिया में गंभीर समालोचना को नज़रअंदाज किया जाता है। जब कला की प्रस्तुति केवल उसके व्यवसायिक पहलुओं पर निर्भर करती है, तो समालोचना की संभावना कम हो जाती है। दर्शकों के बीच इस तरह की मानसिकता विकसित हो जाती है कि कला केवल एक मनोरंजन का साधन है, और इसकी गहनता को समझने का प्रयास नहीं किया जाता।

गंभीर समीक्षकों की कमी एक महत्वपूर्ण बाधा है। भारतीय भाषाओं में कला की समालोचना करने वाले गंभीर समीक्षकों की संख्या बहुत कम है। कई संभावित समीक्षक कला के प्रति गंभीर नहीं होते, या उन्हें इस क्षेत्र में उचित प्लेटफार्म नहीं मिलते। इसके परिणामस्वरूप, कला की समालोचना का स्तर और गुणवत्ता प्रभावित होती है। समालोचना करने के लिए गहन ज्ञान और विशेषज्ञता की आवश्यकता होती है, लेकिन जब इस प्रकार के समीक्षकों की कमी होती है, तो कला की गहराई और उसकी समालोचना का स्तर भी घटता है।

इन सभी कारणों से, प्रदर्शनकारी कला और दृश्य कला की समालोचना भारतीय भाषाओं में अपेक्षित स्तर पर नहीं हो पा रही है। यह एक गंभीर समस्या है, क्योंकि कला समाज का एक महत्वपूर्ण हिस्सा होती है, और इसकी समालोचना समाज में विचारों और संवेदनाओं के आदान-प्रदान का माध्यम बनती है। जब हम कला की गहनता को समझते हैं और उसकी समालोचना करते हैं, तब हम न केवल कला को बेहतर समझ पाते हैं, बल्कि उससे जुड़े सामाजिक और साँस्कृतिक संदर्भों को भी समझ सकते हैं।

इस स्थिति में सुधार लाने के लिए, हमें शिक्षा प्रणाली में बदलाव की आवश्यकता है। कला और साँस्कृतिक अध्ययन को पाठ्यक्रम में शामिल करने से विद्यार्थियों में समालोचना के प्रति

जागरूकता बढ़ेगी। इसके अलावा, विभिन्न भाषाओं में समालोचना करने वाले समीक्षकों को प्रोत्साहित करने के लिए अनुवाद और सहयोगी नेटवर्क की आवश्यकता है। डिजिटल मीडिया का उपयोग करके कला की समालोचना को प्रमोट करने वाले प्लेटफार्मों का निर्माण किया जा सकता है, जिससे युवा पीढ़ी को इस दिशा में प्रेरित किया जा सके।

जब हम कला की समालोचना की दिशा में गंभीरता से काम करेंगे, तब हम न केवल कला के प्रति जागरूकता बढ़ा सकेंगे, बल्कि समाज में विचारों और संवेदनाओं का एक गहरा आदान-प्रदान भी स्थापित कर सकेंगे। इस प्रकार, प्रदर्शनकारी कला और दृश्य कला की समालोचना को बढ़ावा देने से हम एक समृद्ध और संवेदनशील समाज की दिशा में आगे बढ़ सकते हैं।

प्रदर्शनकारी कला, जैसे नृत्य, संगीत, गायन, नाटक, सिनेमा आदि और दृश्य कला, जैसे चित्रकला व मूर्तिकला, भारतीय साँस्कृतिक परंपरा का अभिन्न हिस्सा हैं। इन सभी कलाओं की समालोचना, विशेषकर भारतीय भाषाओं में अपेक्षाकृत कम है। यह समस्या विशेष रूप से लोक गायन के संदर्भ में और भी अधिक स्पष्ट होती है, जहाँ इसे अक्सर नज़रअंदाज किया जाता है। लोक गायन, जो कि जनसाधारण की भावनाओं, संस्कृति और सामाजिक धारणाओं का एक महत्वपूर्ण दर्पण है, की गहराई में जाने और उसकी समालोचना करने की आवश्यकता है।

एक महत्वपूर्ण कारण यह है कि भारतीय शिक्षा प्रणाली में कला और संस्कृति को प्राथमिकता नहीं दी जाती। विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में शैक्षणिक पाठ्यक्रम में विज्ञान, गणित और तकनीकी विषयों पर अधिक ध्यान केंद्रित किया जाता है। नतीजतन, कला के प्रति जागरूकता और समालोचना का अभाव होता है। जब विद्यार्थियों को कला की गहराई को समझने का अवसर नहीं मिलता, तो वे इसे केवल एक मनोरंजन का साधन मानने लगते हैं। इस प्रक्रिया में, लोक गायन, जो कि अपनी विविधता और गहराई के लिए प्रसिद्ध है, को नज़रअंदाज किया जाता है।

भाषाई विविधता भी एक प्रमुख कारक है। भारत में लगभग 122 भाषाएँ और 1599 बोलियाँ हैं। इस विविधता के कारण, एक ही भाषा में लोक गायन की समालोचना करने वाले समीक्षकों की संख्या सीमित होती है। विभिन्न भाषाओं में लोक गीतों की समालोचना का अभाव, उनकी गहराई और साँस्कृतिक संदर्भ को समझने में बाधा उत्पन्न करता है। जब एक ही लोक गीत को विभिन्न भाषाओं में समालोचना नहीं किया जाता है, तो यह कला का व्यापक अनुभव प्राप्त करने में मुश्किलें पैदा करता है।

अर्थव्यवस्था भी समालोचना की कमी में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। कई कलाकार और समीक्षक अपनी आर्थिक स्थिति के कारण कला की समालोचना को प्राथमिकता नहीं दे पाते। लोक गायन करने वाले कई कलाकार अक्सर अपनी जीविका के लिए संघर्ष करते हैं, और इस संघर्ष में वे समालोचना करने का समय और ऊर्जा नहीं लगा पाते। जब कलाकारों को आर्थिक स्थिरता नहीं मिलती, तो वे अपनी कला की गहराई में जाने के बजाए केवल जीविका के साधन की तलाश करते हैं।

वाणिज्यिकता का प्रभाव भी एक महत्वपूर्ण कारण है। वर्तमान में, मीडिया और मनोरंजन उद्योग में व्यवसायिकता का प्रभुत्व है। यह प्रवृत्ति दर्शकों को मनोरंजन पर केंद्रित करती है, और गंभीर कला की समालोचना को कम महत्व देती है। जब लोक गायन को केवल एक उत्पाद के रूप में देखा जाता है, तो इसके गहरे और सूक्ष्म पहलुओं की अनदेखी की जाती है। इस स्थिति में, दर्शकों को केवल सतही मनोरंजन प्रदान किया जाता है, और लोक गायन की गहराई में जाने का अवसर कम मिलता है। इसके अतिरिक्त, कई समीक्षक और आलोचक व्यवसायिक दृष्टिकोण से लोक गायन का मूल्यांकन करते हैं, जिससे गुणवत्ता और गहराई का अभाव होता है।

लोक-गायन का सामाजिक और साँस्कृतिक संदर्भ भी इसे समझने में एक चुनौती प्रस्तुत करता है। भारत में लोक गायन अक्सर स्थानीय साँस्कृतिक परंपराओं, त्योहारों, और सामाजिक घटनाओं से जुड़ा होता है। इसके गीत अक्सर स्थानीय बोलियों में होते हैं, जो उन्हें अधिक स्थानीय बनाते हैं। इस कारण, बाहरी दर्शकों के लिए इन गीतों की गहराई को समझना मुश्किल होता है। जब लोक गीतों की समालोचना होती है, तो यह अक्सर उनके गीतात्मक और संगीतात्मक पहलुओं पर केंद्रित होती है, जबकि उनके सामाजिक संदर्भ, अर्थ और प्रभाव को नज़र अंदाज किया जाता है।

इस सबके साथ, गंभीर समीक्षकों की कमी भी एक महत्वपूर्ण बाधा है। भारत की लोक कला की समालोचना करने वाले गंभीर समीक्षकों की संख्या बहुत कम है। कई संभावित समीक्षक कला के प्रति गंभीर नहीं होते या उन्हें इस क्षेत्र में उचित प्लेटफार्म नहीं मिलते। इसके परिणामस्वरूप, लोक गायन की समालोचना का स्तर और गुणवत्ता प्रभावित होती है। समालोचना करने के लिए गहन ज्ञान और विशेषज्ञता की आवश्यकता होती है लेकिन जब इस प्रकार के समीक्षकों की कमी होती है, तो लोक गायन की गहराई और उसकी समालोचना का स्तर भी घटता है।

एक और महत्वपूर्ण पहलू यह है कि लोक गायन को आमतौर पर शहरी संस्कृति के मुकाबले में निम्न स्तर का माना जाता है। शहरी संस्कृति में अक्सर शास्त्रीय और आधुनिक संगीत को अधिक महत्व दिया जाता है, जबकि लोक गायन को एक साधारण और स्थानीय कला के रूप में देखा जाता है। यह धारणा भी लोक गायन की समालोचना को प्रभावित करती है। जब समाज लोक गायन को एक गंभीर कला रूप के रूप में नहीं देखता, तो उसकी समालोचना की संभावना भी कम हो जाती है।

लोक-गायन की समालोचना में तकनीकी पहलू भी एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। कई लोक गायक अपनी कला को केवल मौखिक परंपरा के माध्यम से सहेजते हैं। इस कारण, उनके गीतों की रिकॉर्डिंग और प्रस्तुति की गुणवत्ता प्रभावित हो सकती है। जब लोक गायन का तकनीकी पहलू कमजोर होता है, तो यह उसके समालोचनात्मक मूल्य को भी कम कर देता है। इसके अतिरिक्त, जब लोक गायन को केवल एक स्रोत के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, तो उसकी गहराई और अर्थ को खो दिया जाता है।

इस स्थिति में सुधार लाने के लिए, हमें शिक्षा प्रणाली में बदलाव की आवश्यकता है। लोक गायन और साँस्कृतिक अध्ययन को पाठ्यक्रम में शामिल करने से विद्यार्थियों में समालोचना के प्रति जागरूकता बढ़ेगी। इसके अलावा, विभिन्न भाषाओं में लोक गीतों की समालोचना करने वाले समीक्षकों को प्रोत्साहित करने के लिए अनुवाद और सहयोगी नेटवर्क की आवश्यकता है। डिजिटल मीडिया का उपयोग करके लोक गायन की समालोचना का संवर्धन व उन्नयन करने वाले प्लेटफार्मों का निर्माण किया जा सकता है, जिससे युवा पीढ़ी को इस दिशा में प्रेरित किया जा सके।

जब हम लोक गायन की समालोचना की दिशा में गंभीरता से काम करेंगे, तब हम न केवल लोक गायन को बेहतर समझ पाएंगे, बल्कि उससे जुड़े सामाजिक और साँस्कृतिक संदर्भों को भी समझ सकते हैं। यह एक व्यापक दृष्टिकोण को विकसित करने का अवसर प्रदान करेगा, जिसमें लोक गायन की गहराई, उसके अर्थ और उसकी साँस्कृतिक प्रासंगिकता को समझा जा सके।

इस प्रकार, लोक गायन की समालोचना को बढ़ावा देने से हम न केवल एक समृद्ध और संवेदनशील समाज की दिशा में आगे बढ़ सकते हैं, बल्कि भारतीय संस्कृति की विविधता और गहराई को भी संरक्षित कर सकते हैं। जब लोक गायन को उसकी पूरी गहराई और महत्व के साथ समझा जाएगा, तब हम भारतीय संस्कृति के एक महत्वपूर्ण पहलू को उजागर कर सकेंगे। यह न केवल कला के प्रति समाज की समझ को बढ़ाएगा, बल्कि लोक गायन को एक सम्मानित स्थान पर भी स्थापित करेगा, जहाँ इसकी गहराई, सुंदरता और सामाजिक प्रासंगिकता को मान्यता दी जाएगी।

यह स्पष्ट है कि लोक गायन की समालोचना की कमी केवल एक शैक्षणिक या साँस्कृतिक समस्या नहीं है, बल्कि यह सामाजिक और आर्थिक ढांचे की एक गहरी समझ की आवश्यकता है। है। जब तक हम इन पहलुओं को समझने और सुधारने के लिए प्रतिबद्ध नहीं होंगे, तब तक लोक गायन और अन्य प्रदर्शनकारी कलाओं की समालोचना की कमी बनी रहेगी। यह एक चुनौती है, लेकिन यदि हम सभी मिलकर काम करें, तो हम इसे अवसर में बदल सकते हैं।

इस दिशा में कदम उठाना, केवल लोक गायन की समालोचना के लिए नहीं बल्कि पूरे भारतीय साँस्कृतिक परिदृश्य के लिए आवश्यक है। इसे एक महत्वपूर्ण दृष्टिकोण के रूप में लिया जाना चाहिए, जिसमें हम कला को एक गहन और समृद्ध अनुभव के रूप में समझने का प्रयास करें। जब हम इस दिशा में काम करेंगे तो हम न केवल लोक गायन बल्कि पूरे भारतीय साँस्कृतिक धरोहर को समझने और उसका सम्मान करने का एक नया रास्ता खोलेंगे। यह न केवल हमारे लिए बल्कि आने वाली पीढ़ियों के लिए भी महत्वपूर्ण होगा क्योंकि वे हमारी साँस्कृतिक धरोहर का एक महत्वपूर्ण हिस्सा होंगी।

लोक गायन की समालोचना की कमी को दूर करने के लिए, हमें एक समग्र दृष्टिकोण अपनाना होगा, जिसमें शिक्षा, सामाजिक धारणाएँ, आर्थिक स्थिरता और साँस्कृतिक समझ शामिल

हो। इस दिशा में आगे बढ़ने से हम न केवल लोक गायन को नया जीवन देंगे, बल्कि हमारे समाज को एक नई पहचान भी देंगे। जब हम लोक कला को गंभीरता से लेंगे, तब हम अपने समाज के गहरे अर्थों को समझ सकेंगे और एक समृद्ध साँस्कृतिक विरासत का निर्माण कर सकेंगे।

भारतीय सिनेमा, एक विविध और समृद्ध साँस्कृतिक धरोहर के रूप में, भारतीय समाज का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। इसकी कला, तकनीक और विषय–वस्तु ने न केवल भारत में बल्कि वैश्विक स्तर पर भी अपनी पहचान बनाई है। हालाँकि, सिनेमा की समालोचना, विशेष रूप से भारतीय भाषाओं में, अपेक्षित स्तर पर नहीं हो पाई है। इसके पीछे कई जटिल कारण हैं जो सिनेमा की गुणवत्ता, उसकी साँस्कृतिक प्रासंगिकता और उसके समग्र विकास को प्रभावित करते हैं।

पहला और सबसे महत्वपूर्ण कारण है भारतीय शिक्षा प्रणाली की संरचना। शिक्षा प्रणाली में सिनेमा को एक गंभीर कला के रूप में मान्यता नहीं दी गई है। स्कूलों और विश्वविद्यालयों में कला और संस्कृति के अध्ययन को प्राथमिकता नहीं दी जाती, जिससे छात्रों में सिनेमा के प्रति जागरूकता का अभाव होता है। जब सिनेमा को शैक्षणिक पाठ्यक्रम में शामिल नहीं किया जाता, तो विद्यार्थी इसके विभिन्न पहलुओं को समझने और उस पर गंभीरता से विचार करने में असमर्थ होते हैं। यह स्थिति सिनेमा की गंभीर समालोचना की संभावना को सीमित कर देती है।

दूसरा कारण सिनेमा के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण है। भारतीय समाज में सिनेमा को अक्सर केवल मनोरंजन के रूप में देखा जाता है। इसे एक हल्के–फुल्के गतिविधि के रूप में मान्यता मिलती है, जबकि इसकी गहराई और सामाजिक प्रासंगिकता को नज़रअंदाज किया जाता है। इस धारणा के कारण, सिनेमा के गंभीर समीक्षकों की कमी होती है। जब दर्शक सिनेमा को केवल एक मनोरंजन का साधन मानते हैं, तो इसकी कला और तकनीकी पहलुओं की समालोचना का अभाव होता है।

तीसरा महत्वपूर्ण पहलू यह है कि भारतीय सिनेमा की विविधता अत्यधिक है। भारत में लगभग 22 आधिकारिक भाषाएँ हैं, और हर भाषा में सिनेमा के अपने अलग स्वरूप और शैली हैं। इस विविधता के कारण, एक ही सिनेमा का समालोचनात्मक मूल्यांकन करने वाले समीक्षकों की संख्या सीमित होती है। विभिन्न भाषाओं में सिनेमा की समालोचना का अभाव, उनके साँस्कृतिक संदर्भ और सामाजिक प्रभाव को समझने में बाधा उत्पन्न करता है। एक ही फिल्म को विभिन्न भाषाओं में समझने के लिए उपयुक्त समीक्षकों की कमी होती है, जिससे समालोचना का स्तर प्रभावित होता है।

इसके अलावा, आर्थिक कारण भी सिनेमा की समालोचना में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। कई समीक्षक अपनी जीविका के लिए अन्य कार्यों में व्यस्त होते हैं, और सिनेमा की समालोचना के लिए समय और संसाधनों का अभाव होता है। जब समीक्षकों को आर्थिक स्थिरता नहीं मिलती, तो वे अपने समय का अधिकांश भाग अन्य कार्यों में लगाने पर मजबूर होते हैं। यह स्थिति सिनेमा की समालोचना के स्तर को भी प्रभावित करती है, क्योंकि कई संभावित समीक्षक कला की गहराई में जाने के बजाय आर्थिक स्थिरता की तलाश में रहते हैं।

सिनेमा में वाणिज्यिकता का बढ़ता प्रभाव भी एक महत्वपूर्ण कारक है। वर्तमान में, भारतीय सिनेमा का अधिकांश भाग व्यवसायिकता पर केंद्रित है। यह प्रवृत्ति सिनेमा के मनोरंजनात्मक पहलुओं पर अधिक जोर देती है, और गंभीर कला की समालोचना को कम महत्व देती है। जब सिनेमा को केवल एक उत्पाद के रूप में देखा जाता है, तो इसके गहरे और सूक्ष्म पहलुओं की अनदेखी की जाती है। इसके परिणामस्वरूप, दर्शकों को केवल सतही मनोरंजन प्राप्त होता है, और सिनेमा की गहराई में जाने का अवसर कम मिलता है।

एक और महत्वपूर्ण कारक यह है कि भारतीय सिनेमा में समीक्षकों के लिए एक स्थापित प्लेटफार्म की कमी है। कई समीक्षक स्वतंत्र रूप से काम करते हैं और उन्हें अपने विचार साझा करने के लिए उपयुक्त स्थान नहीं मिलता। यह स्थिति समीक्षकों के बीच विचारों के आदान-प्रदान को सीमित करती है। जब समीक्षकों को एकजुट होकर काम करने का मौका नहीं मिलता, तो सिनेमा की समालोचना का स्तर भी प्रभावित होता है।

इसके अतिरिक्त, फिल्म उद्योग में आलोचना के प्रति एक नकारात्मक दृष्टिकोण भी है। कई फिल्म निर्माता और कलाकार समीक्षकों की राय को अपने काम के प्रति अवहेलना करते हैं। यह स्थिति सिनेमा की समालोचना को बाधित करती है, क्योंकि कलाकारों और निर्माताओं का यह दृष्टिकोण समीक्षकों को उनके काम की गंभीरता को समझने में हतोत्साहित करता है। जब कलाकारों को समीक्षकों की आवश्यकता नहीं होती, तो यह स्थिति सिनेमा की समालोचना को कमतर करती है।

इसके अलावा, तकनीकी पहलुओं का अभाव भी सिनेमा की समालोचना को प्रभावित करता है। कई समीक्षक सिनेमा के तकनीकी पहलुओं को समझने में असमर्थ होते हैं। यह स्थिति सिनेमा की समालोचना के स्तर को कम करती है। जब समीक्षक केवल फिल्म की कहानी और प्रदर्शन पर ध्यान केंद्रित करते हैं और तकनीकी पहलुओं की अनदेखी करते हैं, तो सिनेमा की गहराई और कला का समग्र मूल्यांकन कम हो जाता है।

सामाजिक और साँस्कृतिक मुद्दों की उपेक्षा भी सिनेमा की समालोचना को प्रभावित करती है। जब सिनेमा में सामाजिक मुद्दों को शामिल नहीं किया जाता, तो समीक्षकों को गहनता से विचार करने का अवसर नहीं मिलता। यह स्थिति दर्शकों को भी सीमित अनुभव प्रदान करती है, क्योंकि वे केवल मनोरंजन पर केंद्रित रहते हैं। जब सिनेमा में सामाजिक और साँस्कृतिक मुद्दों को समाहित किया जाता है, तो समीक्षकों के लिए उसकी गहराई को समझने का अवसर मिलता है।

भारतीय सिनेमा की आलोचना में एक और चुनौती यह है कि कई समीक्षकों के पास एक विशिष्ट दृष्टिकोण या पूर्वाग्रह होता है। यह पूर्वाग्रह समीक्षकों के कार्यों को प्रभावित करता है, जिससे समालोचना का स्तर कम होता है। जब समीक्षक केवल एक दृष्टिकोण से सिनेमा का मूल्यांकन करते हैं, तो यह गहराई और विविधता की कमी को जन्म देता है।

इस स्थिति में सुधार लाने के लिए, हमें शिक्षा प्रणाली में बदलाव की आवश्यकता है। सिनेमा और साँस्कृतिक अध्ययन को पाठ्यक्रम में शामिल करने से विद्यार्थियों में समालोचना के प्रति जागरूकता बढ़ेगी। इसके अलावा, विभिन्न भाषाओं में सिनेमा की समालोचना करने वाले समीक्षकों को प्रोत्साहित करने के लिए अनुवाद और सहयोगी नेटवर्क की आवश्यकता है। डिजिटल मीडिया का उपयोग करके सिनेमा की समालोचना को प्रमोट करने वाले प्लेटफार्मों का निर्माण किया जा सकता है, जिससे युवा पीढ़ी को इस दिशा में प्रेरित किया जा सके।

साथ ही, सिनेमा के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण में बदलाव भी आवश्यक है। जब दर्शक सिनेमा को केवल मनोरंजन के रूप में नहीं, बल्कि एक गंभीर कला के रूप में मानेंगे, तब सिनेमा की समालोचना की संभावनाएँ बढ़ेंगी। इसके लिए, मीडिया और शिक्षा संस्थानों को सिनेमा की गहराई और उसके सामाजिक प्रभाव को उजागर करने का प्रयास करना चाहिए।

सिनेमा की समालोचना की कमी केवल एक शैक्षणिक या साँस्कृतिक समस्या नहीं है, बल्कि यह सामाजिक और आर्थिक ढाँचे की एक गहरी समझ की आवश्यकता है। जब तक हम इन पहलुओं को समझने और सुधारने के लिए प्रतिबद्ध नहीं होंगे, तब तक सिनेमा की समालोचना की कमी बनी रहेगी। यह एक चुनौती है, लेकिन यदि हम सभी मिलकर काम करें, तो हम इसे अवसर में बदल सकते हैं।

इस दिशा में कदम उठाना, केवल सिनेमा की समालोचना के लिए नहीं, बल्कि पूरे भारतीय साँस्कृतिक परिदृश्य के लिए आवश्यक है। इसे एक महत्वपूर्ण दृष्टिकोण के रूप में लिया जाना चाहिए, जिसमें हम सिनेमा को एक गहन और समृद्ध अनुभव के रूप में समझने का प्रयास करें। जब हम इस दिशा में काम करेंगे, तो हम न केवल सिनेमा, बल्कि पूरे भारतीय साँस्कृतिक धरोहर को समझने और उसका सम्मान करने का एक नया रास्ता खोलेंगे।

इस प्रकार, सिनेमा की समालोचना की कमी को दूर करने के लिए, हमें एक समग्र दृष्टिकोण अपनाना होगा, जिसमें शिक्षा, सामाजिक धारणाएँ, आर्थिक स्थिरता और साँस्कृतिक समझ शामिल हो। इस दिशा में आगे बढ़ने से हम न केवल सिनेमा को नया जीवन देंगे, बल्कि हमारे समाज को एक नई पहचान भी देंगे। जब हम सिनेमा को गंभीरता से लेंगे, तब हम अपने समाज के गहरे अर्थों को समझ सकेंगे और एक समृद्ध साँस्कृतिक विरासत का निर्माण कर सकेंगे।

सिनेमा की समालोचना के लिए एक संरचित और संगठित दृष्टिकोण की आवश्यकता है, जिसमें आलोचकों और समीक्षकों को एकजुट होकर काम करने का अवसर मिले। एक ऐसा मंच तैयार किया जाना चाहिए जहाँ समीक्षक अपने विचार साझा कर सकें और एक-दूसरे से सीख सकें। जब समीक्षक एकजुट होकर काम करेंगे, तो सिनेमा की समालोचना का स्तर भी ऊँचा होगा। सिनेमा भारतीय संस्कृति का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है, और इसकी समालोचना की कमी एक गंभीर समस्या है।

सिनेमा केवल मनोरंजन का साधन नहीं है, बल्कि यह समाज के विभिन्न पहलुओं, समस्याओं और मानवीय भावनाओं का एक दर्पण है। जब हम सिनेमा की गहराई में जाकर उसकी समालोचना करेंगे, तो हम उसे एक ऐसी कला के रूप में देख सकेंगे जो समाज में बदलाव ला सकती है।

हमारे समाज में सिनेमा की भूमिका को समझने के लिए हमें उसके इतिहास, विकास और वर्तमान स्थिति पर ध्यान केंद्रित करना होगा। भारतीय सिनेमा की शुरुआत 1913 में "राजा हरिश्चंद्र" फिल्म से हुई थी। इसके बाद से सिनेमा ने कई उतार-चढ़ाव देखे हैं, और अब यह एक उद्योग के रूप में विकसित हो चुका है। भारतीय सिनेमा ने विभिन्न सामाजिक मुद्दों को उजागर किया है, जैसे जातिवाद, भेदभाव, महिला सशक्तिकरण और भ्रष्टाचार। हालाँकि, इन मुद्दों को गहराई से समझने के लिए समालोचनात्मक दृष्टिकोण की आवश्यकता है।

लोक गायन और लोक कला पर ध्यान केंद्रित करते हुए, हमें यह समझना चाहिए कि ये केवल मनोरंजन का साधन नहीं हैं, बल्कि समाज के ऐतिहासिक, साँस्कृतिक और भावनात्मक पहलुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। लोक गायन में लोगों की कहानियाँ, परंपराएँ और अनुभव होते हैं, जो समाज के विभिन्न वर्गों की वास्तविकता को दर्शाते हैं। जब हम लोक गायन की समालोचना करते हैं, तो हमें उसकी साँस्कृतिक प्रासंगिकता को समझना होगा। लोक गायन का संबंध केवल व्यक्तिगत अनुभवों से नहीं होता, बल्कि यह सामूहिक पहचान और समाज की मूलभूत संरचना को भी उजागर करता है।

भारतीय लोक गायन की विविधता इसे एक विशेषता देती है। विभिन्न भाषाओं और संस्कृतियों में लोक गायन के अलग-अलग रूप हैं। जैसे कि भोजपुरी, मैथिली, पंजाबी, गुजराती आदि। हर क्षेत्र का लोक गायन अपनी विशेषताओं और विषयों के साथ सामने आता है लेकिन इस विविधता के बावजूद, लोक गायन की समालोचना का अभाव है। समीक्षक अक्सर इसके सामाजिक और राजनीतिक संदर्भों को अनदेखा कर देते हैं। इसके कारण, लोक गायन की कला और उसकी गहराई का उचित मूल्यांकन नहीं हो पाता।

इसके अतिरिक्त, लोक कला और गायन को अक्सर बाजारीकरण का शिकार होना पड़ता है। जब इन कलाओं को व्यवसायिकता के संदर्भ में देखा जाता है, तो उनके मूल भाव और संदेश खो जाते हैं। कलाकारों को अपनी कला को संरक्षित करने के लिए आर्थिक संघर्ष करना पड़ता है। इससे यह भी होता है कि कला का असली स्वरूप बदल जाता है, और इसे केवल मनोरंजन का साधन बना दिया जाता है। इस स्थिति को बदलने के लिए, हमें लोक गायन और कला की समालोचना के प्रति एक गहरा दृष्टिकोण विकसित करना होगा।

भारतीय सिनेमा और लोक गायन की समालोचना में सुधार लाने के लिए, हमें एक ठोस योजना बनानी होगी। पहली बात, हमें शिक्षा प्रणाली में सिनेमा और लोक कला को शामिल करना होगा। स्कूलों और विश्वविद्यालयों में साँस्कृतिक अध्ययन को एक विषय के रूप में प्रस्तुत किया

जाना चाहिए, जिसमें छात्रों को सिनेमा और लोक गायन की गहराई को समझने का अवसर मिले। इसके लिए विभिन्न कार्यशालाएँ, सेमिनार और पाठ्यक्रम आयोजित किए जा सकते हैं।

दूसरी बात, हमें समालोचनात्मक दृष्टिकोण को बढ़ावा देने वाले प्लेटफार्मों का निर्माण करना होगा। यह प्लेटफार्म कला समीक्षकों, कला प्रेमियों और कलाकारों के बीच संवाद का एक माध्यम हो सकता है। इससे कलाकारों को अपने काम को साझा करने का मौका मिलेगा और समीक्षक उनकी कला का मूल्यांकन कर सकेंगे। इसके अलावा, डिजिटल मीडिया का उपयोग करते हुए, हम सोशल मीडिया पर समालोचना को बढ़ावा दे सकते हैं, जिससे युवा पीढ़ी को कला और सिनेमा के प्रति जागरूक किया जा सके।

तीसरी बात, हमें साँस्कृतिक गतिविधियों का आयोजन करना चाहिए, जिसमें लोक गायन और सिनेमा के विभिन्न पहलुओं पर चर्चा हो। यह आयोजन न केवल कलाकारों को प्रोत्साहित करेगा, बल्कि दर्शकों को भी सिनेमा और लोक गायन की गहराई को समझने का अवसर देगा। इसके लिए नाटकों, संगीत समारोहों, और फिल्म महोत्सवों का आयोजन किया जा सकता है।

इस दिशा में आगे बढ़ने के लिए, हमें सरकारी और गैर-सरकारी संगठनों के साथ सहयोग करना होगा। सरकार को सिनेमा और लोक कला के विकास के लिए नीतियों का निर्माण करना चाहिए। इसके अलावा, कलाकारों और समीक्षकों को एकजुट होकर काम करने का अवसर देना चाहिए। जब तक हम सिनेमा और लोक कला की समालोचना को गंभीरता से नहीं लेंगे, तब तक उनकी सच्ची कला और प्रभाव को समझने का अवसर हमें नहीं मिलेगा।

भारतीय सिनेमा और लोक गायन विभिन्न कलाओं की समालोचना की कमी केवल एक साँस्कृतिक समस्या नहीं है, बल्कि यह हमारी सामाजिक संरचना, शिक्षा प्रणाली और आर्थिक दृष्टिकोण का परिणाम है। हमें इन सभी पहलुओं पर ध्यान केंद्रित करने की आवश्यकता है। जब हम सिनेमा और लोक कला की गहराई को समझेंगे, तब हम अपनी साँस्कृतिक धरोहर को एक नई दृष्टि से देख सकेंगे।

इस प्रक्रिया में, हमें याद रखना चाहिए कि सिनेमा और लोक गायन केवल मनोरंजन का साधन नहीं है, बल्कि यह समाज के विभिन्न पहलुओं को समझने का एक महत्वपूर्ण माध्यम हैं। इसलिए, हमें इनकी समालोचना को एक गंभीर कला के रूप में मान्यता देनी होगी। जब हम यह समझेंगे, तब हम भारतीय सिनेमा और लोक गायन के प्रति एक नई दृष्टि विकसित कर सकेंगे।

भारतीय सिनेमा और लोक गायन की समालोचना की कमी को दूर करने के लिए एक सामूहिक प्रयास की आवश्यकता है। यह केवल कला समीक्षकों की जिम्मेदारी नहीं है, बल्कि यह समाज के हर वर्ग का कार्य है। जब हम सभी मिलकर इस दिशा में प्रयास करेंगे, तब हम एक समृद्ध और गहन साँस्कृतिक अनुभव प्राप्त कर सकेंगे।

सिनेमा, नाटक और गायन आदि की समालोचना को एक नई दिशा देने के लिए हमें गंभीरता से विचार करने की आवश्यकता है। हमें यह समझना होगा कि यह केवल हमारी साँस्कृतिक पहचान का हिस्सा नहीं है, बल्कि यह हमारे समाज के विकास और समृद्धि का एक महत्वपूर्ण पहलू भी है। जब हम इस दिशा में आगे बढ़ेंगे, तब हम न केवल अपनी साँस्कृतिक धरोहर को समझ सकेंगे, बल्कि हम एक समृद्ध और जागरूक समाज का निर्माण भी कर सकेंगे।

हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम सिनेमा और लोक गायन को गंभीरता से लें और उनकी समालोचना के लिए एक ठोस आधार तैयार करें। इस दिशा में उठाए गए कदम न केवल हमारे समाज को जागरूक करेंगे, बल्कि हमारी साँस्कृतिक धरोहर को भी संरक्षित करेंगे। इस तरह, हम भारतीय सिनेमा और लोक गायन की समालोचना को एक नई पहचान दे सकेंगे।

यह एक चुनौती है, लेकिन यदि हम इसे स्वीकार करते हैं, तो हम न केवल अपने समाज को एक नई दिशा देंगे, बल्कि एक समृद्ध और समावेशी साँस्कृतिक विरासत का निर्माण भी करेंगे।

निष्कर्ष: भारतीय भाषाओं में कला-समालोचना की कमी केवल भाषाई समस्या नहीं है, बल्कि यह साँस्कृतिक, सामाजिक और शैक्षिक मुद्दों से भी जुड़ी हुई है। जब तक कला शिक्षा में भारतीय भाषाओं को उचित स्थान नहीं मिलेगा और कला मीडिया में भारतीय भाषाओं को बढ़ावा नहीं दिया जाएगा, तब तक कला-समालोचना की स्थिति में सुधार नहीं होगा। कला समालोचना केवल एक विशिष्ट वर्ग तक सीमित न रहकर आम जनता तक पहुँचे, इसके लिए डिजिटल माध्यमों और साहित्यिक मंचों का व्यापक उपयोग किया जाना चाहिए। भारतीय कला और संस्कृति को सही परिप्रेक्ष्य में समझने और संरक्षित करने के लिए भारतीय भाषाओं में समालोचना की सशक्त परंपरा विकसित करना आवश्यक है।

❑❑

आदिवासी साहित्य के सौंदर्यशास्त्र का अध्ययन

—देशमुख निलेश शिवाजी

सार

सौंदर्यशास्त्र साहित्य का वह आयाम है जो रचना की संवेदनाओं, भावों और उसकी प्रस्तुति की सुंदरता का विश्लेषण करता है। पारंपरिक साहित्यिक सौंदर्यशास्त्र जहाँ सौंदर्य को एक अमूर्त, आदर्श और कलात्मक दृष्टि से देखता है, वहीं आदिवासी साहित्य का सौंदर्यशास्त्र जीवन के यथार्थ, संघर्ष और सांस्कृतिक अस्मिता को केंद्र में रखता है। अब तक आदिवासियों के नाम, संस्कृति, सभ्यता, तो कभी उनके अस्तित्व और अस्मिता का प्रश्न उपस्थित होता था, लेकिन आज सबसे बड़ा सवाल है 'आदिवासी दर्शन' और 'आदिवासी सौंदर्यबोध' के अध्ययन का। आदिवासी साहित्य का सौंदर्यशास्त्र आदिवासी के जीवनबोध और मूल्यबोध से बनता है। उनके जीवन शैली में बड़ी मात्रा में विविधताएँ देखने को मिलती है। इन विविधताओं में उनका सौंदर्य अंतर्निहित होता है। आदिवासी जीवन के परिपेक्ष्य में देखें तो उनके छोटे-छोटे पहलुओं को भी इसमें समाहित किया जाता है। आदिवासी जीवन दृष्टि का विकास उनके रोजमर्रा के कार्यों एवं गीत-संगीत-नृत्य से भी परिलक्षित होता है। इनके गीत-संगीत-नृत्य में विकास की एक लंबी परंपरा देखने को मिलती है। आदिवासी सौंदर्यशास्त्र अभी भी गर्भस्थ अवस्था में ही है। इसलिए आदिवासी विद्वानों को इस तरफ भी लक्ष्य केंद्रित करना चाहिए।

बीज शब्द: *आदिवासी, सौंदर्यशास्त्र, साहित्य, संस्कृति, समाज, दर्शन, गीत*

आदिवासी साहित्य के सौंदर्यशास्त्र पर एक दशक पहले किसी भी प्रकार की चर्चा बहुत अल्प स्वरूप में पढ़ने, सुनने को मिलती थी। सौंदर्यशास्त्र का अपना स्वतंत्र दर्शन, सिद्धांत व वाद है। इसलिए किसी भी साहित्य के बारे में कोई विशिष्ट दृष्टिकोण बनाने से पहले हमें उसके दर्शन व सौंदर्यशास्त्र के कुछ पैमानों के आधार पर भी देखना होगा, तब सही अर्थ में उस समाज का सही मूल्यांकन हो पायेगा। आदिवासी समाज पर चर्चा करने से पहले आदिवासी

शब्द और परिभाषा को सही अर्थों में हमें समझना चाहिए। आदिवासी कौन है ? और आदिवासी किसे कहा जाता है, यह एक सवाल हमेशा भ्रमित करता रहा है। विशेष कर उस समय जब कोई गैर आदिवासी बिना जाने–समझे और न किसी आदिवासी द्वारा लिखित पुस्तक को पढ़े बैगर और किसी आदिवासी बस्ती में न जाते हुए ही अपनी सीमित मानसिकता बनाकर लिखता एवं बताता है, उस समय सबसे अधिक भ्रम पैदा होता है। इसलिए सबसे पहले 'आदिवासी' की परिभाषा को जानना जरूरी होता है।

आदिवासी साहित्य को परिभाषित करते हुए प्रसिद्ध मराठी आदिवासी साहित्यकार डॉ. विनायक तुमराम कहते हैं– "आदिवासी साहित्य वन संस्कृति से संबंधित साहित्य है। आदिवासी साहित्य वन जंगलों में रहने वाले उन वंचितों का साहित्य है, जिनके प्रश्नों का अतीत में कभी उत्तर ही नहीं दिया गया। यह ऐसे दुर्लक्षितों का साहित्य है, जिनके आक्रोश पर मुख्यधारा की समाज व्यवस्था ने कान ही नहीं धरे। यह गिरी–कंदराओं में रहने वाले अन्याय ग्रस्तों का क्रांति साहित्य है। सदियों से जारी क्रूर और कठोर न्याय–व्यवस्था ने जिनकी सैकड़ों पीढ़ियों को आजीवन वनवास दिया, उस आदिम समूह का मुक्ति–साहित्य है आदिवासी साहित्य। वनवासियों का क्षत जीवन, जिस संस्कृति की गोद में छुपा रहा, उसी संस्कृति के प्राचीन इतिहास की खोज है यह साहित्य। आदिवासी साहित्य इस भूमि से प्रसूत आदिम–वेदना तथा अनुभव का शब्दरूप है।"[1]

प्रसिद्ध आदिवासी एक्टिविस्ट व कवयित्री रमणिका गुप्ता कहती हैं– "मैं आदिवासी साहित्य उसी को मानती हूँ जो आदिवासियों ने लिखा और भोगा है। उसे आदिवासी समस्याओं, सांस्कृतिक, राजनीतिक व आर्थिक स्थितियों तथा उनकी जीवन–शैली पर आधारित होना होगा। अर्थात् आदिवासियों द्वारा आदिवासियों के लिए आदिवासियों पर लिखा गया साहित्य आदिवासी साहित्य कहलाता है।"[2]

वर्तमान संदर्भ में "आदिवासी शब्द का प्रयोग विशिष्ट पर्यावरण में निवास करने वाले, धार्मिक परंपराओं को मानने और उन पर प्रगाढ़ आस्था रखने वाले, सदियों से जंगलों, कंदराओं और पहाड़ों में रूप में परिलक्षित किया जाता है।"[3] आदिवासी वह है, जो अपनी पुरातन सभ्यता एवं परंपरा का विकास करते हुए, मूल रूप से इस देश का मालिक है। लेकिन आज उसे ही किनारे कर गैर आदिवासी इस देश के मालिक बन बैठे हैं। शुरू से आदिवासियों और आदिवासी के साहित्य का दरकिनार कर मुख्यधारा ने अपना वर्चस्व निर्मित किया है।

आदिवासी साहित्य पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार होता रहा है। लेकिन उनके अस्तित्व और अस्मिता का सवाल आज भी है, बीच–बीच में उनके विस्थापन का सवाल भी उपस्थित होता है। आदिवासी समाज में जीवन पद्धति एवं विचार बोध के साथ–साथ सौंदर्यबोध पहले से ही परिपक्व स्थिति में उपलब्ध नहीं होता लेकिन आज उनके वाचिक परंपरा एवं साहित्य से हमें समझना चाहिए कि उन्हें किसी प्रकार सिखाने की जरूरत नहीं है, बल्कि आज उनसे सीखने की जरूरत महसूस हो

रही हैं। आदिवासी साहित्य पर बहुत सारे विद्वान बने बनाए ढाँचे के आधार पर अपने चश्में से आदिवासियों को आँकने की कोशिश करते हैं। लेकिन आज आदिवासी की कलम से ही आदिवासियों के साहित्य को समझने की जरूरत है। आदिवासी समाज का अपना एक दृष्टिकोण होता है, अपनी संस्कृति होती है, अपनी परंपरा है, अपना दर्शन है, जिससे वह इस चकाचौंध भरी दुनिया से दूर अपनी संस्कृति और प्रकृति का संरक्षण व संवर्धन करते हुए अपना जीवन बिताता है। लेकिन आज पहाड़ तोड़े जा रहे हैं, पृथ्वी के गर्भ से सारी खनिज संपदा निकाली जा रही है, उनकी जमीन कॉर्पोरेट के निशाने पर है। ऐसे में वह खुद का संरक्षण भी बड़े ही जद्दोजहद में कर रहा है। उनके यहाँ सौंदर्य का दूसरा नाम संघर्ष है। इसलिए साहित्य के सृजन व संघर्ष से ही आदिवासी साहित्य का सौंदर्यशास्त्र का निर्माण होता है।

सौंदर्यशास्त्र वह शास्त्र है जिसमें कलात्मक कृतियों रचनाओं आदि से अभिव्यक्त होने वाला अथवा उनमें निहित रहने वाले सौंदर्य का तात्विक और मार्मिक विवेचन होता है। यह सौंदर्यपरक मूल्यों पर विमर्श है, जो विशेषत: रस की प्रसमीक्षा से अभिव्यंजित होता है। आदिवासी जीवन की अपनी भावभूमि है, सौंदर्यबोध है, विश्वदृष्टि है। साहित्य में मानवीय मूल्यों एवं सहअस्तित्व में अटूट विश्वास ही उसकी विशेषता है। आदिवासी दर्शन में प्रकृति और पुरखों के प्रति आभार का भाव निहित होता है। यह साहित्य समूचे जीव-जगत को समान महत्व देकर मनुष्य की श्रेष्टता के दंभ को खारिज करता है। सौंदर्यशास्त्र आदिवासी को और उनके साहित्य को देखने की एक नयी दृष्टि प्रदान करता है। किसी भी व्यक्ति के अंदर सौंदर्यबोध का होना जरूरी है बिना सौंदर्यबोध के उनका जीवन अधूरा है। जब कोई व्यक्ति अपनी दृष्टि से देखता है मगर मन स्वच्छ होगा तो चरित्र भी अच्छा होगा और जब चरित्र अच्छा होगा, तभी हम एक अच्छे समाज की कल्पना कर सकते हैं। इसी दृष्टिकोण से आदिवासी अपने आस-पास के प्रकृति, संस्कृति को सुंदर से सुंदर दृष्टि से देखता है। इस सहजता, आत्मीयता और सामाजिकता से वह सबको स्वीकारता है और एक जैसे ही समझता है। इसलिए उनका सौंदर्यबोध अपने आप में विशिष्ट है। आदिवासी सौंदर्यबोध को जानने के लिए उनकी बस्ती में जाना पड़ेगा, और देखना पड़ेगा किस तरह उनकी विचारधारा है, किस तरह से किसी को भी रंग, वर्ण, गरीब की दृष्टि से नहीं देखता सबको समान दृष्टि से देखने का पक्षपाती है। उनके यहाँ सब कुछ सुंदर है। आज हमें किसी भी व्यक्ति या समाज में श्रेष्टता का भावबोध त्यागकर घृणा से वैराग्य स्थापित कर इन आदिवासी गीतों के उपमानों को जगह देने की आवश्यकता है। इन भिन्नताओं को लेकर भिड़ने के बजाए हमें इसे स्वीकार करना चाहिए। यही किसी भी साहित्य का महत् उद्देश्य भी होता है। जब तक इस तरह से आदिवासी की दृष्टि एवं विचारधारा को नहीं जानेंगे, तब तक उस व्यक्ति का ज्ञान अधूरा ही समझा जाएगा। संसार में हर एक रीति-रिवाज और सांस्कृतिक प्रदर्शन मौखिक परंपरा और लोक-रूपों का ऋणी है, जिन्हें हम कला के अर्थ और धर्म के नाम पर अलग-अलग करके देखते हैं, वे सभी उसी जीवन-व्यापार में सामहित है। "व्यक्ति का स्वभाव, सौंदर्यबोध और उसका विश्व दृष्टिकोण को बचपन में आकार ग्रहण करते हैं और बाद में जीवन में दृढ़ होते जाते हैं को ये ही शाब्दिक

और शब्दातीत परंपराएँ गढ़ती हैं। व्यापक निरक्षर संस्कृति में हर कोई चाहे वह गरीब हो या अमीर, सवर्ण हो या शूद्र, प्रोफेसर हो या पंडित अथवा अज्ञानी, इंजीनियर हो या फेरीवाला– अपने भीतर एक बड़ा निरक्षर उपमहाद्वीप लिए होता है।"[4] वर्तमान समय में हमें प्रकृति के अनुपम सौंदर्य को निखारने के लिए आदिवासी परंपरा को बरकरार रखने की जरूरत है। आदिवासी परंपराओं को जब तक हम संभालेंगे नहीं तब–तब प्रकृति के साथ–साथ हम सभी नष्ट होते रहेंगे। आज जिस तरह से प्रकृति का दोहन सभी जगह कमोबेश एक जैसे हो रहा है। ऐसे में किसी से किसी भी प्रकार की उम्मीद करना बेकार है। हर कोई अपने लाभ के लिए कार्य करता है। वह कभी भी समाज का विचार नहीं करता, लेकिन आदिवासी समाज अपने साथ–साथ आने वाली नस्ल व सभी व्यक्तियों को शुद्ध हवा मिले, जल मिले इसके लिए प्रकृति का संरक्षण व संवर्धन करते हैं।

जिस प्रकार से दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र सवर्ण वर्चस्व या मुख्यधारा के सौंदर्यशास्त्र से भिन्न है। वैसे ही आदिवासी साहित्य का सौंदर्यशास्त्र भी सवर्ण वर्चस्व अर्थात् मुख्यधारा के सौंदर्यशास्त्र से भिन्न है। "आदिवासी साहित्य का सौंदर्यशास्त्र प्राकृतिक दर्शन पर आधारित है। इसके केंद्र में उच्च मानवीय मूल्य होते हैं। इस सौंदर्यशास्त्र में मनुष्यों के साथ पेड़–पौधों और जीव जंतुओं, नदी–नालों और पहाड़ों के लिए भी जगह होती है। आदिवासी सौंदर्यशास्त्र में अलग से किसी 'वाद' को चलाने की जरूरत नहीं है। यह अपनी मौलिकता और स्वाभाविकता के लिए जाना जाता है और हर प्रकार के बनावटीपन का निषेध करता है। यह सामुदायिकता के दर्शन पर आधारित सौंदर्यशास्त्र है जिसके केंद्र में प्रेम, भाईचारा, संवेदना और जीवन है।"[5] आदिवासी साहित्य का सौंदर्यशास्त्र सबसे अधिक जहाँ कहीं दिखाई देता है, वह है उनके गीत, कविता, कहानी, उपन्यास आदि।

मुख्यधारा के साहित्य और आदिवासी साहित्य के सौंदर्यशास्त्र के दृष्टिकोण में भिन्नता दिखाई देती है। जहाँ परंपरागत साहित्यिक सौंदर्यशास्त्र "सत्यम्, शिवम्, सुंदरम्" की अवधारणा पर आधारित होता है। यानी जो सत्य और शुभ है वही सुंदर भी है। वहीं आदिवासी साहित्य में सुंदरता का मानक बदलता है। जैसा कि महाश्वेता देवी लिखती हैं– 'मैं उनके संघर्ष की सुंदरता को समझना चाहती हूँ, वह सौंदर्य जो किसी भी शास्त्रीय परिभाषा में नहीं आता।' इसके अलावा अनुभव और संवेदना के रूप में भिन्नता है– परंपरागत साहित्य में संवेदना अक्सर उच्च वर्गीय अनुभवों से जुड़ी होती है। वहीं आदिवासी साहित्य में वह संवेदना है जो सदियों के दमन से उपजी है। जिसे कविता, कहानियों ने वाणी दी है। साथ ही भाषा और अभिव्यक्ति में भी भिन्नताएँ हैं– परंपरागत साहित्य में जहाँ भाषा परिष्कृत होती है, वहीं आदिवासी साहित्य में भाषा सीधे दिल से निकलती है। अपने अनुभव से उपजी भाषा में अपने समाज व परिसर का विवेचन करता है। साहित्यिक सौंदर्यशास्त्र एवं आदिवासी साहित्य के सौंदर्यशास्त्र में विषयवस्तु की प्राथमिकता अलग–अलग होती है। परंपरागत साहित्य में प्रेम, अध्यात्म, दर्शन जैसे विषय प्रमुख होते हैं। जबकि आदिवासी साहित्य में जल, जंगल, जमीन जैसे विषयों के साथ–साथ विस्थापन, शोषण, और आदिवासी अस्मिता का चित्रण होता है। रामदयाल मुंडा

ने कहा था– 'हमारे गीतों में प्रकृति गाती है, और जब वह रोती है तो वह भी सौंदर्य है, क्योंकि वह सच्चा है।' इसी तरह रामदयाल मुंडा जी की रचनाओं में आदिवासी जीवन सौंदर्य, संघर्ष और संस्कृति को प्रतिबिंबित करती हैं, जो पाठकों को आदिवासी चेतना और सौंदर्यबोध से भली-भाँति परिचित कराती है।

सौंदर्यशास्त्र भारतीय साहित्य के लिए एक नया शब्द रहा है। इसके पहले भारतीय साहित्य में इस शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। इसका निर्माण ऐस्थेटिक्स के पर्याय के रूप में किया गया। ऐस्थेटिक्स वैसे तो यूनानी शब्द है, जिसका अर्थ है ऐंद्रिय संवेदना। पाश्चात्य साहित्य में सबसे प्रथम बाडमगार्टन ने प्रस्तुत संदर्भ में उक्त शब्द का प्रयोग कर इस बात पर बल दिया था कि सौंदर्य मूलतः एक प्रकार का ऐंद्रिय संवेदन ही है। "परंपरा के अनुसार सौंदर्यशास्त्र दर्शन की एक शाखा है, जिसका विवेच्य विषय है कला और प्रकृति का सौंदर्य।" सौंदर्यशास्त्र के स्वरूप का वर्तमान में अधिक विस्तार हुआ है। वास्तविक अर्थ में सौंदर्यशास्त्र ऐंद्रिय संवेदना का विज्ञान है, जिसका लक्ष्य है सौंदर्य। बिना सौंदर्य के किसी भी वस्तु को देखने का नजरिया साफ नहीं होगा। मनुष्य को किसी भी वस्तुओं को देखने से पहले अपने विचारों को ह्रदय को उसी दृष्टि से देखना होगा, जिसे वह देख रहा है। उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति पौधे को देख रहा है और उसे लगे कि इस पौधे से बाद में छाव, फल-फूल मिलेगा। यह जीवन उपयोगी है तो वह उसे अत्यंत सुंदर कहेगा, लेकिन वहीं दूसरा व्यक्ति उस पौधे को देखकर उसके मन में आए कि यह पौधा यहाँ किसी काम का नहीं है। इन दोनों ही दृष्टियों को देखते हैं, तो अंतर समझ में आ जाता है। इनमें प्रथम व्यक्ति की सौंदर्यवादी दृष्टि साफ देखने को मिलती है। यह प्रथम दृष्टि ही आदिवासी समुदाय में कार्य करती है। वे किसी भी वस्तु वह सजीव हो या निर्जीव, कीट-पतंग हो या संपूर्ण प्रकृति उसे एक ही दृष्टि से देखता है। उन्हें इनसे किसी प्रकार की परेशानी नहीं होती।

सौंदर्यशास्त्र की परिभाषा देखते हैं तो मालूम होता है कि वास्तविक रूप में सौंदर्यशास्त्र क्या है? इसके संदर्भ में इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका में कहा गया है की "सौंदर्यशास्त्र कलाओं और उनसे संबंध (मानव) व्यवहार तथा अनुभूति का सैद्धांतिक अध्ययन है। परंपरा के अनुसार यह दर्शन की एक शाखा है, जिसका प्रयोजन है सौंदर्य तथा कला और प्रकृति में अभिव्यक्त उसके बहुविध रूपों का अध्ययन।"[6] इस परिभाषा से स्पष्ट होता है कि सौंदर्यशास्त्र में मनुष्य और कला के संबंध से सृजित अनुभूति का अध्ययन सही अर्थ में सौंदर्यशास्त्र है। परंपरागत साहित्य के दृष्टिकोण में सौंदर्य एक निरपेक्ष आदर्श होता है। आदिवासी सौंदर्यशास्त्र में सौंदर्य संघर्ष, सामूहिकता और अस्तित्व की रक्षा से जुड़ा है। जैसा कि एक लोकगीत में आता है 'हम नाचेंगे, जब तक जमीन हमारी है।' इस तरह से परिलक्षित कर सकते हैं कि आदिवासी सौंदर्यशास्त्र की परिभाषा निश्चित रूप से भिन्न दिखाई देती है।

डॉ. नगेन्द्र के अनुसार-"सौंदर्यशास्त्र ललित कलाओं के रूप में अभिव्यक्त सौंदर्य से संबंधित मौलिक प्रश्नों के तात्विक विवेचन और उसके परिणामी सिद्धांतों की संहिता का नाम है।"[7] अर्थात् सौंदर्यशास्त्र में विविध कलाओं तथा सौंदर्य के सभी मौलिक प्रश्नों व सिद्धांतों का विवेचन होता है।

सौंदर्यशास्त्र संवेदनात्मक-भावात्मक गुण-धर्म और मूल्यों का अध्ययन है। कला, संस्कृति और प्रकृति के प्रति अंकन ही सौंदर्यशास्त्र है। सौंदर्यशास्त्र दर्शनशास्त्र का ही एक अंग है, इसे सौंदर्य की मीमांसा तथा आनंद मीमांसा भी कहते हैं। प्रकृति में सर्वत्र सौंदर्य विद्‌यमान होता है। सौंदर्यशास्त्र वह शास्त्र है, जिसमें कलात्मक कृतियों, रचनाओं आदि से अभिव्यक्त होने वाला अथवा उनमें निहित रहने वाले सौंदर्य का तात्विक, दार्शनिक और मार्मिक विवेचन होता है। किसी सुंदर वस्तु को देखकर हमारे मन में जो आनंद दायिनी अनुभूति होती है उसके स्वभाव और स्वरूप का विवेचन तथा जीवन की अन्य अनुभूतियों के साथ उसका समन्वय स्थापित करना इनका मुख्य उद्‌देश्य होता है। सौंदर्यशास्त्र दर्शन की एक शाखा है जिसके तहत कला, और सुंदरता से संबंधित प्रश्नों का विवेचन किया जाता है। सौंदर्यशास्त्र का अर्थ होता है इंद्रिय जनित अनुभूति। हम हमारे इंद्रियों से सौंदर्य को ग्रहण करते हैं। लेकिन आज उन इंद्रियों पर विभिन्न प्रकार से प्रभाव डाला जा रहा है। उसे आज नियंत्रित व वश में किया जा रहा है। इन्हीं इंद्रियों के सहारे कोई व्यक्ति अपनी दृष्टि से देखता सुनता व पढ़ता है।

आदिवासी सौंदर्य को समझने के लिए वाचिक गीत, कविता आदि विधाओं के साथ उसे देखने की दृष्टि भी बदलनी चाहिए, जिस प्रकार कविता का सौंदर्य अलग होता है, वैसे ही उपन्यास का अपना सौंदर्य है। इसलिए इसे सबसे पहले समझना जरूरी होता है। आज का सौंदर्यबोध भावभूमि, विचारभूमि, मनोभूमि से संबंधित होने से उस भावभूमि, विचारभूमि और मनोभूमि पर हमले किए जा रहे हैं। आदिवासी सौंदर्यशास्त्र के केंद्र में सहजीविता होगी, सामूहिकता व पारस्परिकता होगी, सामुदायिकता होगी, प्रेम होगा और जीवन होगा उसे सौंदर्यवादी दृष्टि से देख सकते हैं। वर्तमान में इस सौंदर्यबोध की रक्षा करनी है इसकी रक्षा कैसे होगी इसे हमें अपनी साहित्यिक रचना में हो चाहे, कविता, बिंब, प्रतीकों के जरिए हो या इसकी केवल रक्षा और संरक्षित ही नहीं करना है, इसे अपनी रचना में उतार के लोगों तक ले जाना है और इसके लिए उस आलोचना दृष्टि की बहुत अधिक आवश्यकता है। जो हमें लगता है कि आदिवासी साहित्य के भीतर होनी चाहिए। किसी भी प्रकार के सौंदर्य को श्रम और संघर्ष के बिना अलग नहीं कर सकते और बिना संघर्ष के कोई सृजन भी नहीं होगा। आदिवासी सौंदर्य का संबंध संघर्ष से है, जहाँ सृजन है वहाँ संघर्ष है ही। आदिवासी के यहाँ सौंदर्य, संघर्ष और सृजन का परस्पर संबंध परिलक्षित होता है।

आदिवासी दर्शन और साहित्य- आदिवासी दर्शन के स्वरूप एवं उसके पहचान के बारे में कह सकते हैं कि प्रकृति के सान्निध्य में रहना, मानवेतर प्राणी जगत के साथ सह-अस्तित्व, अपने आप में खुलापन, सामूहिकता, सहभागिता, आदिवासी संस्कृति, जीवन शैली, उनकी अपनी समस्याएँ, स्वतंत्रता, जल-जंगल-जमीन-जानवर, मातृभाषा, इतिहास, भूगोल, लोककथाएँ, मुहावरे, मिथक आदि सब आदिवासी दर्शन के अंतर्गत निहित है। आदिवासी दर्शन में सौंदर्यबोध होता है। यह सौंदर्य प्रकृतिगत समता, सहजता, निश्चलता एवं सामूहिकता से बनता है। आदिवासी समाज जिस प्रकार रचनात्मक है उसी प्रकार उनका साहित्य सृजनात्मक भी। आदिवासी समाज में जितना मनुष्य को महत्व

है, उतना ही महत्त्व पशु-पक्षियों, नदियों, झरनों, पहाड़, वनस्पति, कीट-पतंग, पेड़-पौधों अर्थात् प्रकृति के प्रत्येक जड़-चेतन की रचना का इसमें संतुलन दिखाई देता है। प्रकृति-सौंदर्य के प्रत्यक्ष भाव और चिंतन से कला का जन्म होता है और कला निबद्ध सौंदर्य के भाव तथा चिंतन से सौंदर्यशास्त्र का। कला चिंतन का विकास विविध दृष्टि से होता है, जिसमें कभी प्रकृति के सुंदर वातावरण में निकलना पड़ता है, कभी गीत-संगीत-नृत्य से आनंद लेना पड़ता है। इनका अप्रत्यक्ष संगीत नदी का बहना, पक्षियों की आवाज हमें प्रकृति के सान्निध्य में ही मिलती है। यह प्रमुख भाव आदिवासी दर्शन और साहित्य के सौंदर्यशास्त्र का रहा है।

सारांश के रूप में कह सकते हैं कि आदिवासी साहित्य का सौंदर्यशास्त्र गर्भाशय की स्थिति में ही है, लेकिन उसकी निर्मिति वाचिक रूप में आरंभिक समय से ही होती रही है, जो आज भी गीत-संगीत-नृत्य, कथा-गाथाओं में परिलक्षित होती है। आदिवासी साहित्य के सौंदर्यशास्त्र का निर्माण सौंदर्यबोध, जीवनबोध और मूल्यबोध से होता है। इनमें सौंदर्य के साथ-साथ सृजन व संघर्ष का अंतरसंबंध भी अंतर्निहित होता है। आदिवासी सौंदर्यशास्त्र का संबंध मुख्यतः उनके जीवन शैली के साथ जुड़ा होता है। इसमें गीत, संगीत, कथा, गाथा तो है, साथ ही दुनिया को देखने की सौंदर्यवादी दृष्टि भी विकसित होती है। आदिवासी साहित्य में जीवन मूल्य के साथ-साथ आदिवासी दर्शन भी परिलक्षित होता है। मुख्यधारा के साहित्यिक सौंदर्यशास्त्र और आदिवासी सौंदर्यशास्त्र दोनों ही साहित्य को गहराई प्रदान करते हैं, किंतु इनकी सौंदर्य दृष्टियाँ भिन्न हैं। जहाँ एक ओर कलात्मक ऊँचाइयों की तलाश है, वहीं दूसरी ओर जमीनी सच्चाई का संघर्ष। आज के समय में जरूरत है कि हम इन दोनों के बीच संतुलन बनाएँ और आदिवासी सौंदर्य को भी साहित्यिक विमर्श का हिस्सा बनाएँ।

संदर्भः

1. गुप्ता, रमणिका, संस्करण 2016, आदिवासी साहित्य यात्रा, राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली, पृ. 24
2. सं. उषाकीर्ति, पाण्डेय सतीश, दुबे शितलाप्रसाद, प्रथम संस्करण 2012, आदिवासी केंद्रित हिंदी साहित्य, अतुल प्रकाशन कानपुर, पृ. 30
3. राय, विभूति नारायन, 2014, शहर में कर्फ्यू (उपन्यास), वाणी प्रकाशन दिल्ली, पृ. 03
4. http://janchowk.com/art-culture-society/life-away-from-materialism-in-tribal-literature/
5. सं. शम्भूनाथ, वागर्थ पत्रिका, अंक-284, मार्च-2019, पृ. 86
6. इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, पृ. 1968
7. नगेन्द्र, 1974, भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, पृ. 04

❑❑

बिहार की जातीय चेतना में हिंदी भाषा का प्रभाव

–सदानंद/ लक्ष्मी

सार

भाषा एक ऐसी घटना है जो मानव सभ्यता जितनी ही प्राचीन है। जब भाषाएँ संपर्क में आती हैं तो व्याकरणिक प्राणालियाँ भी संपर्क में आती हैं, व्याकरणिक प्रणालियों के साथ-साथ संस्कृतियाँ, समाज, वैश्विक दृष्टिकोण और अर्थव्यवस्थाएँ भी संपर्क में आती हैं। सांस लेने वाले व्यक्ति और उनकी दुनिया का निर्माण करने वाली सभी चीजें भाषाओं के माध्यम से संपर्क में आती हैं। ये व्यक्ति और जिस दुनिया में वे रहते हैं, वह भाषा संपर्क के अध्ययन का एक अभिन्न अंग है, इसलिए भाषा का अध्ययन भाषा और समाज के संपर्क के विभिन्न क्षेत्रों में किया जाता है। मूल बिहारी भाषाओं के अस्तित्व और आयतित भाषा-भाषी के आधार पर संसाधनों पर आधिपत्य की समस्या पैदा होना, दूसरी भाषाओं के अस्तित्व के लिए खतरा पैदा कर देता है।

बीज शब्दः *भाषा, हिंदी, बिहार, भाषाई, मागधी, चेतना*

बिहार, पूर्वी भारत का एक राज्य है। बिहार हमेशा वही राजनीतिक इकाई नहीं था जो आज है। इसने कई विलय और विभाजन देखे हैं, जिसमें सबसे हालिया विभाजन वर्ष 2000 में बिहार से निकालकर झारखंड का निर्माण हुआ। ऐतिहासिक रूप से मगध के रूप में जाना जाने वाला यह राज्य प्राचीन और शास्त्रीय युग के विभिन्न राज्यों की सत्ता का केंद्र था, जिसमें मौर्य (322-185 ईसा पूर्व), गुप्त (320-550 ई.) और पाल शामिल थे, जो बौद्ध धर्म से संबंधित राजा थे (8वीं शताब्दी-12वीं शताब्दी) पाटलिपुत्र इनमें से अधिकांश शासकों के लिए सबसे महत्वपूर्ण शहर और राजधानी में से एक था (इस क्षेत्र में आधुनिक पटना और इसके आसपास के कुछ शहर शामिल हैं)। शेरशाह सूरी जिन्होंने सन् 1540 में दिल्ली में सूर वंश की स्थापना के लिए हुमायूँ को हराया था, उनका जन्म सासाराम में हुआ था, जो वर्तमान बिहार का एक जिला है। अंग्रेजों ने मुगलों द्वारा अलग-अलग फरमानों में उन्हें दिए गए दीवानी अधिकारों के साथ बिहार पर कब्जा कर लिया

और 1765 में उन्हें बिहार, बंगाल और उड़ीसा का शासक बना दिया। ब्रिटिश काल के दौरान, 1857 से पहले बिहार 1765–1857/58 (भारतीय स्वतंत्रता का पहला युद्ध) तक बंगाल प्रेसीडेंसी का केंद्र था। 22 मार्च 1912 को बिहार को ब्रिटिश भारत के बंगाल प्रेसीडेंसी से अलग कर दिया गया और 1947 से बिहार भारतीय गणराज्य के राज्यों में से एक रहा, इसकी राजधानी पटना है।

बिहार में भाषाई संरचना की बात की जाए तो भाषा विद्वान जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने बिहार की भाषाओं को बिहारी बताया है, जो उनके वर्गीकरण के अनुसार पूर्वी हिंदी के समूह में आती है। "बिहारी उत्तर में हिमालय की तिब्बती–बर्मी भाषाओं, पूर्व में बंगाली, दक्षिण में उड़िया और पश्चिम में छत्तीसगढ़ी, बघेली और अवधी बोलियों से घिरा हुआ है। यह भारोपीय बोली भाषा के पूर्वी समूह का निर्माण करने वाली भाषाओं में सबसे आगे पश्चिमी है।"[1] उन्होंने आगे कहा कि यह मागधी प्राकृत के रूप में जानी जाने वाली बोली के पुराने रूप का प्रत्यक्ष वंशज है, शायद सबसे प्रत्यक्ष वंशज है। ध्वनि–विज्ञान, व्याकरणिक संरचना और शब्दावली के चयन के संदर्भ में, बिहारी बंगाली और पूर्वी हिंदी के मध्य स्थान रखता है। दूसरी ओर सुनीति कुमार चटर्जी का मानना है कि आधुनिक भाषा बंगाली, उड़िया, मगही, मैथिली और भोजपुरी सभी मागधी अपभ्रंश की प्रतिनिधि भाषा हैं। उन्होंने मागधी भाषाओं को तीन समूहों में वर्गीकृत किया है।

1. पूर्वी मागधी – बंगाली, असमी और उड़िया
2. मध्य मागधी – मैथिली और मगही
3. पश्चिमी मागधी –भोजपुरी के साथ नगपुरिया या सदरी/सदनी

इसलिए, हम कह सकते हैं कि बिहार की सभी भाषाओं को भाषाविदों द्वारा इंडो–आर्यन भाषाओं के पूर्वी समूह में वर्गीकृत किया गया था, जिन्होंने पहली बार उनका वर्गीकरण और अध्ययन किया था।

बिहार हिंदी पट्टी के राज्यों में से एक है यानी यह उन भारतीय राज्यों में से एक है जिनकी राज्य की आधिकारिक भाषा हिंदी है। हिंदी के अलावा उर्दू बिहार की दूसरी राजकीय आधिकारिक भाषा है। बिहार में बोली जाने वाली बोलियों में मगही, मैथिली, भोजपुरी, अंगिका, बज्जिका, सुरजापुरी आदि बोलियाँ हैं। ये सभी इंडो–आर्यन भाषा परिवार से संबंधित हैं और मैथिली को छोड़कर ये सभी बोलियाँ भारतीय जनगणना में हिंदी की किस्मों के रूप में सूचीबद्ध हैं। 2001 की जनगणना के अनुसार भोजपुरी के 33,099,497 वक्ता, मैथिली के 12,179,122 वक्ता और मगही के 13,978,565 वक्ता हैं, इनमें से मैथिली को वर्ष 2003 में अनुसूची भाषा का दर्जा दिया गया। भोजपुरी, मगही बोलने वालों की इतनी बड़ी जनसंख्या होने के बावजूद अभी तक इस सूची में जगह नहीं मिली है। बिहार में लोगों के बिहार से आने–जाने का इतिहास रहा है, बंगाली, मारवाड़ी और पंजाबी (भारत के विभाजन के बाद आए शरणार्थी) आज बिहारी आबादी का एक बड़ा हिस्सा हैं। राज्य में मुस्लिम आबादी भी कुल आबादी का लगभग 17 प्रतिशत है।

विभिन्न जातीय समूहों की उपस्थिति, जिनकी मातृभाषा अलग-अलग भाषाएँ हैं, के परिणामस्वरूप लिंगुआ फ्रैंका या संपर्क भाषा की तत्काल आवश्यकता होती है, जिसका उपयोग विभिन्न समूह संचार के लिए कर सकते हैं। यहाँ हिंदी, लिंगुआ फ्रैंका या संपर्क भाषा की भूमिका निभाती है, बिहार की संपर्क भाषा हिंदी के रूप में कार्य करती है। संपर्क भाषा हिंदी के रूप में बोली जाने वाली हिंदी, बिहार की स्थानीय बोलियों और हिंदी के बीच संपर्क का परिणाम है (यहाँ आधुनिक मानक हिंदी नहीं लिख रहा हूँ क्योंकि बिहार की भाषाएँ उससे पहले प्रशासन की भाषा के रूप में उर्दू के संपर्क में थीं, उर्दू व्याकरणिक रूप से हिंदी से बहुत अलग नहीं है और उससे पहले फारसी बिहार में प्रशासन की भाषा थी, इसका अर्थ है कि 1880 के दशक में आधुनिक मानक हिंदी शुरू होने से पहले बिहार की भाषाओं का हिंदी/उर्दू व्याकरण के साथ कुछ संपर्क रहा है)

बिहार में हिंदी भाषा के प्रसार के तीन मुख्य उद्देश्य थे, यह हिंदी को न्यायालय की भाषा, शिक्षा की भाषा, सार्वजनिक संवाद की भाषा और बिहार के उच्च जाति के हिंदुओं की उभरती पहचान की भाषा के रूप में स्थापित करने का उद्देश्य था, जिन्होंने संयुक्त प्रांत और बंगाल के हिंदुओं की तुलना में जातीय चेतना बहुत बाद में हासिल करना शुरू किया था। यह उर्दू को बदलने और इसके माध्यम से सरकारी सेवाओं, न्यायालयों और शिक्षा में मुसलमानों (और कायस्थों) के प्रभुत्व को खत्म करने का प्रयास था। साथ ही यह बिहार में सार्वजनिक जीवन, सरकारी सेवाओं, शिक्षा और संस्कृति के सभी क्षेत्रों में बंगालियों के प्रभुत्व के खिलाफ और सबसे महत्वपूर्ण बात, बिहार के मूल निवासियों के अधिकारों पर उनके प्रभुत्व के खिलाफ भाषाई चेतना का प्रभाव था। यह बिहार में उच्च जाति के हिंदुओं (पहले बिहार के उच्च जाति के मुसलमान भी इसका हिस्सा थे) के सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक पुनर्पुष्टि और आत्म स्वाभिमान के रूप में उभरा।

बिहार में बांग्ला भाषी के प्रभुत्व के खिलाफ एक आंदोलन के रूप में भाषाई आत्मनिर्णय के माध्यम से हिंदी एकमात्र ऐसी भाषा थी जो उद्देश्य की पूर्ति कर सकती थी, क्योंकि यह बुद्धिजीवियों को स्वीकार्य थी, जो बिहार की विभिन्न क्षेत्रीय बोलियों को मातृभाषा के रूप में बोलते थे। हिंदी को न्यायालय की भाषा और स्कूलों में शिक्षा की भाषा के रूप में स्थापित करना सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक शक्ति हासिल करने के एक उपकरण के रूप में देखा गया था। उभरते हिंदू अभिजात वर्ग के अनुसार सबसे पहले मुसलमानों और कायस्थों ने इस पर एकाधिकार किया, जो फारसी और उर्दू जानते थे (1837 में जब बंगाल में अदालत की भाषा बदलने का आदेश दिया गया तो उर्दू ने फारसी की जगह ले ली) और फिर जब अंग्रेजों द्वारा अंग्रेजी शिक्षा शुरू की गई, तो बंगाली इससे लाभान्वित होने वाले पहली पंक्ति में थे। बिहारी युवक बांग्ला भाषी की बराबरी नहीं कर सकते थे, यहाँ तक कि1872 में भी हितेन पटेल (2011) की रिपोर्ट है कि, लेफ्टिनेंट गवर्नर जॉर्ज कैंपबेल ने देखा की बिहार बंगाल का हिस्सा था और प्रशासन को बांग्ला भाषी अधिकारियों द्वारा कलकत्ता से नियंत्रित किया जाता था, इसलिए अंग्रेजी शिक्षित और अंग्रेजी बोलने वाले बंगाली बहुत फायदे में थे, लेकिन बिहारी नुकसान में थे।"[2] यह विशेष रूप से उन क्षेत्रों का सत्य था जहाँ शिक्षित बिहारियों को नौकरी मिल सकती थी, अगर क्षेत्र में बंगालियों का वर्चस्व कम होता।

'द इंग्लिशमैन' समाचार पत्र ने वर्ष 1879 में लिखा था– "बिहार में, बंगाली लगभग हर पद पर काबिज हैं, और कम आकर्षक पदों पर भी उनका बड़ा हिस्सा है... भागलपुर, दरभंगा, गया, मुजफ्फरपुर, सारण, शाहाबाद और चंपारण जिले में पच्चीस में से इक्कीस डिप्टी मजिस्ट्रेट और कलेक्टर बंगाली थे। दो कमिश्नरों के निजी सहायक बंगाली थे और हैं। पटना में सात में से छह मुंसिफ या स्थानीय सिविल जज बंगाली हैं। सारण के चार में से तीन मुंसिफ बंगाली हैं। आधे से ज्यादा सब-डिप्टी बंगाली हैं... मजिस्ट्रेट, कलेक्टरेट और न्यायिक हेड क्लर्क में से दस में से नौ बंगाली हैं, न सिर्फ जिला थानों में बल्कि सब-डिवीजनों में भी। बंगाली कोषागारों में भीड़ लगाते हैं और नगर पालिकाओं का प्रबंधन करते हैं। बंगाली सहायक सर्जन और देशी डॉक्टर दस में से नौ डिस्पेंसरियों और लॉकअप के प्रभारी हैं। अकेले पटना में आठ बंगाली राजपत्रित चिकित्सा अधिकारी हैं। सड़क कर लेखाकार, ओवरसियर और क्लर्क तीन चौथाई बंगाली हैं। डाक विभाग के पर्यवेक्षण कर्मचारी और अधिकांश अच्छे स्टेशनों के पोस्ट मास्टर बंगाली हैं"[3] संपादकीय आगे जोड़ता है: "यहाँ तक कि जहाँ एक बिहारी रोजगार सुरक्षित करता है, वहाँ वह आमतौर पर ऐसी स्थिति में होता है जिसे बंगाली स्वीकार करने से इनकार करते हैं। अगर ऐसा होता है कि बिहार का एक सुशिक्षित मूल निवासी ऊपर की ओर अपना रास्ता बनाना शुरू कर देता है, तो यह आरोप लगाया जाता है कि वह अपने हर कार्य को बंगाली हेड क्लर्क, डिप्टी कलेक्टर और निजी सहायकों द्वारा जाँचते हुए पाता है, और हर कदम या यात्रा को बेरहमी से अंग्रेजी अधिकारियों के ध्यान में लाया जाता है। संपादकीय ने निष्कर्ष निकाला: "बिहार की पूरी उच्च शिक्षा बंगाली लोगों की महत्वाकाँक्षाओं और आवश्यकताओं के अधीन बना दी गई है। सफलता की कुंजी आमतौर पर अंग्रेजी का पर्याप्त ज्ञान है और यह भी स्पष्ट है कि एक बंगाली लड़के के लिए (अंग्रेजी का ज्ञान) हासिल करना बिहारियों की तुलना में आसान है।"[4]

भाषा, बाजार में, राजनीतिक व्यवस्था में या सामाजिक क्षेत्र में एक संभावित संपत्ति के रूप में या प्रतिस्पर्धा के अन्य रूपों में प्रवेश करती है। जिस तरह से व्यापारी प्रतिस्पर्धात्मक बढ़त हासिल करने के लिए व्यापारिक नीतियों का इस्तेमाल करते हैं, उसी तरह बहुभाषी समुदायों में प्रतिस्पर्धा के इन सामान्य रूपों में भाषा भी अपनी भूमिका निभाती है। यह महत्वपूर्ण भाषाई प्रतिस्पर्धा है जिसके लिए अधीनस्थ या हाशिए पर स्थित समूहों को प्रमुख समूह की भाषा हासिल करने की आवश्यकता होती है, जिसे 'भाषाई पूँजी' कहते हैं। बांग्ला भाषा उस समय की नई भाषाई पूँजी से अधिक सुसज्जित थी। इस प्रकार ब्रिटिश सरकार के साथ रोजगार के अवसरों के मामले में भी बांग्ला भाषा बेहतर स्थिति में थी। सरकार बिहारियों को रोजगार के अवसरों में हिस्सा देने में रुचि रखती थी और इस तरह ब्रिटिश प्रांत बंगाल में बंगाली आधिपत्य को तोड़ना चाहती थी। पब्लिक इंस्ट्रक्शन के निदेशक एटकिंसन ने बिहार के शैक्षिक पिछड़ेपन का कारण उचित रोजगार के अवसरों की कमी को बताया। 3 मई, 1861 की एक रिपोर्ट में उन्होंने लिखा, 'बंगाल में अंग्रेजी शिक्षा ने तेजी से व्यावसायिक रूप ले लिया है। अंग्रेजी भाषा की व्यापारिक माँग तेजी से बढ़ी है लेकिन इसके लिए बिहार में विशेष भाषा शिक्षण व प्रशिक्षण की कोई व्यवस्था नहीं की गई है।'

एटकिंसन के प्रयासों से पटना कॉलेज की स्थापना हुई, जिसे 1865 में डिग्री स्तर तक बढ़ा दिया गया। लेकिन बंगालियों का इस संस्थान पर भी प्रभुत्व था। प्रभुत्व इतना पूर्ण था कि 1872 में जॉर्ज कैंपबेल को पटना कॉलेज की डिग्री कक्षाओं को समाप्त करने की आवश्यकता महसूस हुई, जिसकी स्थापना 1862-63 में हुई थी। बंगाल के गवर्नर ने 21 मार्च, 1872 को शिक्षा निदेशक को लिखे पत्र में कहा, "लेफ्टिनेंट गवर्नर 16 मार्च को आयोजित कलकत्ता विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह में यह देखकर बहुत हैरान हुए कि लगभग, बिहार में विश्वविद्यालय के उम्मीदवार बंगाली थे... हम केवल अप्रवासी बंगालियों को शिक्षित करने के लिए बिहार में एक कॉलेज की स्थापना नहीं कर सकते और न ही उसे संरक्षित कर सकते हैं।"[5]

इस निर्णय परस्थानीय बुद्धिजीवियों, हिंदू और मुस्लिम दोनों ने प्रस्तावित कदम का विरोध किया और प्रस्ताव को समाप्त कर दिया गया। सरकारी रिपोर्ट में सरकारी अधिकारियों और बिहार के कुलीन समाज के महत्वपूर्ण सदस्यों जैसे नवाब सोहराब जंग, खुदा बख्श खान और जय किशन ने स्पष्ट रूप से इस बात पर जोर दिया कि बिहारी केवल तभी उच्च शिक्षा लेने के लिए आकर्षित होंगे जब सरकार उन्हें रोजगार में आरक्षण जैसे कुछ प्रोत्साहन देने का वादा करेगी। पटना प्रमंडल में शिक्षा पर 1870-71 की वार्षिक रिपोर्ट में प्रमंडल के आयुक्त आर.पी. जेनकिंस ने देखा कि बिहारी युवा शिक्षा में पर्याप्त रुचि नहीं दिखा रहे हैं क्योंकि बंगालियों ने बिहारियों को अपने प्रांत में सार्वजनिक सेवाओं से बाहर रखा है। उन्होंने आगे कहा, 'हाल के वर्षों में सभी जिला कार्यालयों में यथा संभव बंगालियों को नियुक्त करने की प्रथा बन गई है, इसी तरह स्थानीय न्यायालयों में न्यायाधीशों और डिप्टी मजिस्ट्रेटों के रूप में बंगालियों की नियुक्ति में भी पक्षपात देखा गया है।' उनका मानना था कि रोजगार के मामले में केवल निश्चितता ही बिहार में उच्चशिक्षा के लिए अधिक उत्साह सुनिश्चित कर सकती है। उन्हें डर था कि जहाँ तक अंग्रेजी भाषा की दक्षता का सवाल है, बिहारी युवा वर्तमान में अपने बंगाली समकक्षों के साथ प्रतिस्पर्धा करने के लिए पर्याप्त रूप से समर्थ नहीं हैं। लेकिन फिर भी उन्होंने सिफारिश की कि "अधीनस्थ न्यायिक और कार्यकारी सेवाओं में एक निश्चित संख्या में नियुक्तियां बिहार के मूल निवासियों के लिए प्रतिवर्ष आरक्षित की जाएँ।"[6] वह यह सुझाव दे रहे थे, हालाँकि उनका मानना था कि सरकारी सेवाओं में बिहारियों का व्यापक रोजगार प्रशासनिक दक्षता के लिए हानिकारक होगा, लेकिन फिर भी उन्होंने सुधार का सुझाव दिया।

हमें ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं, जिनमें सरकारी अधिकारियों ने बिहार में बंगाली प्रभुत्व को रोकने की इच्छा व्यक्त की है। गवर्नर जनरल को प्रस्तुत किए गए ऐसे ही एक अन्य पत्र में भेदभावपूर्ण प्रथाओं के बारे में गंभीर चिंता व्यक्त की गई थी "बंगाल में... यह पाया गया कि प्रतिस्पर्धा द्वारा अधीनस्थ कार्यकारी सेवा के लिए भर्ती की प्रणाली ने मुसलमानों और बिहार तथा उड़ीसा के मूल निवासियों को पूरी तरह से बाहर कर दिया था, और यदि इसे जारी रखा जाता, तो जल्द ही पूरी सेवा बंगाली हिंदुओं को दे दी जाती।"[7]

अक्टूबर 1871 में, सरकार ने आदेश दिया कि यदि मंत्रालयों में किसी भी पद पर परिवीक्षाधीन नियुक्ति के लिए रिक्तियाँ आती हैं, तो कम से कम एक निश्चित संख्या में सीटें उन बिहारियों को दी जाएँ, जिन्होंने अच्छी शिक्षा प्राप्त की है। एक पत्र में, पटना के आयुक्त को निर्देश दिया गया था कि उनकी विशेष अनुमति के बिना किसी भी बंगाली को उनके अधीन किसी भी सरकारी कार्यालय में अंग्रेजी बोलने वाले क्लर्क के अलावा नियोजित नहीं किया जाना चाहिए। बिहार में प्रभावशाली मध्यम वर्ग की अनुपस्थिति के कारण बंगाली बिहारी, पेशेवर नौकरशाही पर हावी थे। कई बंगालियों की बिहार में जमीनी दिलचस्पी भी थी। बिहार में उभरते मध्यम वर्ग के साथ बंगालियों के हितों का टकराव हुआ, जो अपरिहार्य था। कई हिंदी और उर्दू समाचार पत्रों ने भी इसी तरह की भावनाएँ व्यक्त कीं। मुंगेर से प्रकाशित एक साप्ताहिक उर्दू पत्र 'मुर्ग-ए-सुलेमान' ने 7 फरवरी 1876 के अंक में सरकार से बिहार में बंगालियों के बजाए शिक्षित बिहारी लोगों को नौकरी पर रखने का अनुरोध किया। बिहार में आधुनिक चेतना के प्रसार के शुरुआती दिनों से ही मुस्लिम बुद्धिजीवियों के एक बड़े हिस्से में बंगालियों के प्रति गहरी उपेक्षा देखी जा सकती है। यह भावना इतनी प्रबल थी कि जब बिहार में कांग्रेस की गतिविधियाँ शुरू हुईं तो मुस्लिम बुद्धिजीवी नहीं चाहते थे कि मुसलमान इसमें शामिल हों 'सावधान ये बंगाली है' जैसी कविताओं का प्रसारण किया गया। जिसने इसे बहुत अच्छी तरह से अभिव्यक्त किया। इस कविता में मुसलमानों को कांग्रेस में शामिल होने के खिलाफ चेतावनी दी गई थी क्योंकि यह चतुर बंगालियों द्वारा संचालित एक संगठन था। हितेन पटेल (2011) की रिपोर्ट है कि, बढ़ते हिंदू बुद्धिजीवियों ने बंगाली विरोधी कारणों को जल्दी से अपना लिया क्योंकि वे बंगालियों के समान रूप से आलोचक थे। बिहार बंधु एक प्रमुख समाचार पत्र है जो बिहार के हिंदू बुद्धिजीवियों द्वारा प्रकाशित किया जाता है, जिसमें बिहार के एक 'शुभचिंतक' द्वारा एक पत्र प्रकाशित किया गया था, जो कि सबसे अधिक विवादास्पद था।

बंगालियों (जो अंग्रेजी भाषा और शिक्षा से अच्छी तरह सुसज्जित थे), बिहार के मुसलमानों (पूर्ववर्ती कुलीन और अभी भी सरकारी नौकरियों में बड़ी हिस्सेदारी रखते थे, खासकर अदालतों में, 19वीं सदी के अंत तक बिहारी समाज के अधिकांश वर्गों की तुलना में आधुनिक शिक्षा के मामले में बेहतर थे) और कायस्थों (जो शिक्षा और सरकारी नौकरियों के लिए वरीयता के मामले में मुसलमानों की तरह थे) के बीच रोजगार, आधिपत्य और नियंत्रण के लिए संघर्ष 19वीं सदी के बिहार की एक प्रमुख विशेषता थी। कलकत्ता में शिक्षा प्राप्त करने वाले शिक्षित बिहारियों के सर्वेक्षण से पता चलता है कि उनमें से अधिकांश कायस्थ और मुस्लिम परिवारों से थे। बिहारी समाज में सामाजिक रूप से प्रभावी ब्राह्मण, भूमिहार, राजपूत और अन्य उच्च जातियों की संख्या अधिक नहीं थी। बिहार के मुस्लिम बुद्धिजीवियों ने ही 'बिहार बिहारियों के लिए' का नारा दिया था, जिसे बाद में उभरते हिंदी समर्थक बिहारी हिंदू बुद्धिजीवियों ने अपनाया और स्वीकार किया।

बिहार में हिंदी आंदोलन की चर्चा अक्सर संयुक्त प्रांत और अवध के संदर्भ में की जाती है, जिसमें आज मोटे तौर पर उत्तर प्रदेश शामिल है। जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने भारत संदर्भित अपने भाषाई

सर्वेक्षण में बिहार में बोली जाने वाली भाषाओं (जिसके लिए वे एक-दूसरे के साथ घनिष्ठ संबंधों के आधार पर छत्र शब्द बिहारी का उपयोग करते हैं) को उन भाषाओं के साथ समूहीकृत किया है जिन्हें उन्होंने पूर्वी समूह यानी बंगाली, उड़िया और असमिया के रूप में वर्गीकृत किया है। लेकिन उन्होंने उल्लेख किया है कि बिहार के लोग पारिवारिक संबंधों, अनुष्ठान, परंपराओं और रीति-रिवाजों के मामले में बंगाली लोगों की तुलना में उत्तर प्रदेश के लोगों के अधिक करीब हैं।

निष्कर्षः उपर्युक्त आधिकारिक पत्रों, आवेदनों और अंग्रेजी समाचार-पत्रों के लेखों और संपादकीयों से एक बात बहुत स्पष्ट है कि वे रोजगार और शिक्षा के आधार पर बिहारियों और बंगालियों के बीच दरार को उस समय के बुद्धिजीवियों ने स्पष्टता से सामने रखा। वे यह दर्शाना चाहते थे कि बिहार में बंगालियों का प्रभुत्व बिहार के लोगों के विकास और अस्तित्व के लिए हानिकारक है। समाचार-पत्रों और आधिकारिक पत्रों में उपरोक्त बयानों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ब्रिटिश सरकार किसी भी समुदाय को बहुत अधिक शक्ति, नियंत्रण या आधिपत्य हासिल करने के खिलाफ थी, क्योंकि यह औपनिवेशिक शासन के लिए संभावित खतरा बन सकता था। बिहार में पहले मुसलमानों और कायस्थों और फिर बंगालियों के आधिपत्य को खत्म करने के लिए हिंदी के प्रचार-प्रसार को अंग्रेजों ने मौन समर्थन दिया, जिन्होंने संयुक्त प्रांत में ऐसा करने से बहुत पहले बिहार की अदालतों और स्कूलों में हिंदी को लागू किया।

संदर्भः

1. जार्ज अब्राह्म ग्रियर्सन, 1904, लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया, खंड-5
2. बंगाल जनरल (शिक्षा) विभाग की कार्यवाही अगस्त, 1872, पृ. 71-98
3. पटेल हितेन, 1879, द इंग्लिशमैन, 27 नवंबर, (2011: 61) से उद्धृत समाचार पत्र का अंश (Hiten Patel (2011). Communalism and the Intelligentsia in Bihar, 1870-1930: Shaping Caste, Community and Nationhood. Delhi: Orient Blackswan)
4. पटेल हितेन, 1879, द इंग्लिशमैन, 27 नवंबर, (2011: 61) से उद्धृत समाचार पत्र का अंश
5. बंगाल सामान्य शिक्षा विभाग: पूर्ववर्ती, मार्च, 1872, संख्या 63, हितेन पटेल (2011:63) से उद्धृत।
6. आदित्य प्रसाद झा, बिहार का राजनीतिक इतिहास, पृ. 219
7. आदित्य प्रसाद झा, बिहार का राजनीतिक इतिहास, पृ. 220

❑❑

मारवाड़ी भाषा के लोकगीतों में नारी संवेदना

—रेखा शेखावत

सार

मानव जीवन की खट्टी–मीठी अनुभूतियों से लोक का जुड़ाव सदैव बना रहता है। मनुष्य अपने सुख–दुख की संवेदनाओं को गीत–संगीत में पिरोकर आत्मविभोर बना रहता है। मारवाड़ी राजस्थान के विस्तृत क्षेत्र की भाषा है। मारवाड़ी लोकगीतों में सदियों की परंपरा को जीवंत कर देने वाले ऐसे भाव मौजूद हैं, जो आज तक सुनने वालों में संजीदगी भर रहे हैं। लोक में जन्म से मृत्यु तक लेकर भिन्न–भिन्न भावों से गीतों का गायन होता है। यहाँ हम मारवाड़ी भाषा में नारी जीवन से जुड़े विविध पक्षों को लेकर गाये जाने वाले गीतों में नारी हृदय की अनुभूतियों को जानने का प्रयास करेंगे। यह केवल मारवाड़ी समाज और संस्कृति से रू–ब–रू होना नहीं है बल्कि संपूर्ण आधी आबादी के यथार्थ जीवनानुभवों का प्रस्तुतिकरण है। मारवाड़ी भाषा का साहित्य बहुत समृद्ध है। मारवाड़ी भाषा में लोकगीतों का विशेष महत्व है। लोक दृष्टि के अध्ययन से लगता है कि जब लिखित साधनों से स्त्री को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता से बेदखल कर दिया गया तो उसने मौखिक साधनों का सहारा लेकर स्वयं को मुखर किया। स्त्री जीवन के ऐसे अनछुए पहलू जिनमें उनकी कथा–व्यथा सदियों से गीत बनकर गूँज रही है। संपूर्ण लोक में स्त्रियाँ तमाम बंधनों से परे बेख़ौफ़ होकर अपनी दमित इच्छाओं को लोकगीतों में प्रस्तुत करती हुई कालजयी आनंद लोक का निर्माण करती हैं।

बीज शब्दः *मारवाड़ी लोकगीत, स्त्री संवेदना, संस्कृति, मूमल, मांडराग, बगडावत, ढ़ोला– मारू, घुड़ला, काजलिया।*

मानव–मन हर्षोल्लास के क्षणों को गीतों के माध्यम से व्यक्त करता है। मानव के विशेष सामाजिक दायित्व होते हैं। समाज में रहकर मानव सहयोग करना और अपने मनोभावों को बाँटना सीखता है। लोक जीवन से जुड़े बहुत से सोरठे, धर्म, नीति, भक्ति और ज्ञान सहित

जीवन की सटीक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। मारवाड़ी लोक में ढ़ोला-मारू रा दूहा के संदर्भ में प्रसिद्ध है-

"सोरठियो दूहो भलो, भलि मरवण री बात।
जोबन छाई धण भली, तारा छाई रात।"[1]

अर्थात् सोरठे से दोहे में सौंदर्य अधिक होता है और स्त्रियों के संबंध में कही गई यह उक्ति सही है कि यौवन से परिपूर्ण स्त्री का सौंदर्य अद्वितीय होता है जैसे तारों से आच्छादित रात्रि सौंदर्यमयी होती है। मारवाड़ी लोकगीतों की परंपरा भी उतनी ही पुरानी लगती है जितनी कि यहाँ की बालू मिट्टी, जो ना जाने कितनी ही संस्कृतियों को अपने हृदय में समेटे हुए है। नारी के साज-शृंगार को, यौवन को, सौंदर्य और नख से शिखा तक उसके अद्भुत-मोहक रूप का वर्णन गीतों में कवियों एवं चारण-भाटों द्वारा गाया जाता रहा है। गीत जीवन के आत्मिक क्षणों में गढ़े-मढ़े जाते हैं। घर के चूल्हे-चौके से लेकर, बच्चे के जन्म, छठी, विवाह सहित सभी संस्कार एवं अनुष्ठान पर गीतों के बिना पूर्ण नहीं होते। स्त्रियों का जीवन बचपन से ही संघर्ष की परिभाषा समझ जाता है। खेतों में गीत गाती हुई स्त्रियाँ बीज डालने से लेकर फसल काटने और अनाज लाने तक घर-भर की उम्मीद के गीत गाती हैं। उस फसल से जुड़े सपने बुनती हुई गुनगुनाती हैं। लोकगीत मानव-मन के बुरे भावों का शमन करते हैं। जहाँ लोकगीत हैं, वहाँ धैर्य भी बना रहता है। लोकगीत लोकमंगल का रूप हैं। मनुष्य ही नहीं जीव-जिनावर भी लोकगीतों के प्रमुख पात्र हैं- कोयलडी, चिडकली, पपैया, मोरिया, डेडरिया (मेंढक), कूकडा (मुर्गा), सूवटिया (तोता), कागला (कौआ) और कुरजा आदि नहीं हो तो मारवाड़ी लोकगीत अधूरे और फीके लगने लगते हैं। इसी तरह लोकगीतों के क्षेत्र में मांड राग मारवाड़ी की प्रमुख विशेषता है। मांड राग विरह को मूर्त रूप प्रदान करने की दृष्टि से अनुपम है। इस राग में मूमल, बगड़ावत, ढोला, काछवा आदि लोकगीत भाव विभोर करने वाले हैं।

लोकगीतों की परंपरा कितनी प्राचीन है? कोई नहीं जानता। किसने सबसे पहले कौन सा गीत गाया या लिखा, कहना निश्चित नहीं है। मनुष्य का मन गाये या गुनगुनाये बिना नहीं रह सकता। लोकगीतों की सामाजिक व्याख्या करने वाले श्री कृष्ण दास कहते हैं कि "ये गीत धरती के गीत हैं, जीवन के गीत हैं, संघर्ष और विजय के गीत हैं, इनके रूप बदलते रहे हैं, बदलते जाएँगे। परंतु इनके स्वर नहीं बदल सकते, इनके संदेश शाश्वत और सनातन हैं क्योंकि उनके संदेशों में भारतीय मानवता के अबाध अटूट विकास क्रम का सजीव इतिहास प्रतिध्वनित होता है।"[2]

मारवाड़ी भाषा के लोकगीत हमारे जीवन में इंद्रधनुषी रंग भरते नजर आते हैं। इसी रूप में छोटे बालक के लिए लोरी, झूंझणा (खिलौना), हिंडोला के गीत, विवाहित स्त्रियों के लिए काजल, टीकी, झूला, ओळू (याद) और सपने का गीत गाये जाते हैं। पीहर की याद में बीरा (भाई), तीज-त्योहारों के गीतों सहित लोक देवी-देवताओं जैसे कालीमाता, मावडियाँ जी, शीतला माता, जीण

माता, रामदेवजी, भैरूजी और भोमिया जी के गीत गाये जाते हैं। इनमें मूमल, गणगौर और ढोला-मारू के गीत लोगों के हृदय में गूँजते रहते हैं। लोकगीतों का मौसम भी रंग-बिरंगा होता है, जैसे सियाळे (शीत) के गीत, उन्नाळे (ग्रीष्म) के गीत, बिरखा (वर्षा) एवं बसंत के गीत, होली, झूला, मेला आदि गीत गाये जाते हैं। वस्त्राभूषणों में लहरिया, चुनड़ी, काजल, टीकी, ओढ़ना, पोमचा, लहंगा, इंडुली सहित बाजूबंद, नवलखहार, पायल, राखड़ी (सिर पर बाँधने का गहना) और चूड़ियों आदि पर लोकगीतों की छटा बिखरती रहती है। गीतों की संवेदनशीलता से मारवाड़ी लोक में आनंद की ऊर्जा निरंतर उपजती रहती है। हमारा लोक बहुत अद्‌भुत है, जहाँ पौ फटने से पहले स्त्रियाँ चक्की से अनाज पीसना, पशुओं का काम करना, बिलौना करना (दही मथना), पानी भरकर लाना आदि अनेक कार्य करती हैं। इतना कार्य करने पर भी स्त्रियों को श्रम की थकान नहीं होती क्योंकि वे बहुत सरसता के साथ लोकगीतों में डूब जाती हैं। बच्चें के जन्म से लेकर जीवन के सभी सामाजिक कार्य लोकगीतों की धुन के साथ पूर्ण होते हैं। कवि सूर्यमल्ल मिसण कहते हैं कि बालक को जन्म के साथ साहसिकता की घुटी देती हुई माँ कहती है-

"इळा ना देणी आपरी, रण-खेतां भिड़ जाए।
पूत सिखावै पालणै, मरण-बड़ाई माय॥"[3]

अर्थात् जन्म के साथ यह धुन सोए हुए बालक के कानों में पैठ जाती है कि अपनी भूमि किसी को नहीं देनी है चाहे रणभूमि में प्राणों की बाजी लगानी पड़े। नवजात पुत्र को माता मातृभूमि की रक्षा करने के लिए अपने प्राण उत्सर्ग करने की सीख दे रही है। यही कारण रहा है कि युद्ध और व्यापार के क्षेत्र में सदैव मारवाड़ियों ने कीर्तिमान स्थापित किए हैं।

राजस्थानी के एक लोकगीत में महिलाएँ अपने पुत्र की मंगल कामना हेतु बाला जी हनुमान जी से विनती करती हैं। इसके बदले में वे उनके मंदिर में अपने पुत्र का झडूला (एक प्रकार का मुंडन संस्कार जिसमें बालक के बाल काट कर संबंधित देवता को चढ़ाए जाते हैं) देने की बात कहती है-

"कूण चिणायो, ओ बालाजी, थारो देवरो जी ?
कूण दिरायी गज-नीम ?
बाबा बजरंगी रो बंगलो वर्षो....
जातण आवै थारे कुलबहू॥"[4]

अर्थात् हे बजरंग बली आपका देवरा किसने बनवाया है ? इसकी नींव किसने लगायी ? ये बाबा बजरंग बली का मंदिर है। सभी कुल वधू आदि आपके यहाँ अपने बच्चों का मुंडन संस्कार करने आती हैं।

उत्सव एवं पर्व स्थानीय होते हैं। उनसे संबंधित लोकगीतों में स्थानीय समाज की संरचना बन जाती है। तीज-त्योहार मारवाड़ क्षेत्र में व्यापक रूप से मनाया जाता है। तीज की सवारी जयपुर में

निकाली जाती है। सावन की तीज को छोटी तीज माना जाता है लेकिन पूरे राजस्थान में इस दिन स्त्रियाँ अपने सुहाग के लिए शिव–पार्वती की आराधना करती है एवं व्रत के गीत गाती हैं। इस समय घुड़ला गीत गाया जाता है। जयपुर क्षेत्र में गाया जाने वाला यह गीत इस प्रकार है–

"घुड़लो घूमै छै जी घूमै छै
"घुड़ले रे संध्या सूत
घूड़लो घूमै छै जी घूमै छै।"[5]

अर्थात् घूड़लो एक छोटी मटकी होती है उसमें छेद करके एक दीपक जलाकर रखा जाता है। गणगौर के पर्व से पहले महिलाएँ इसे सिर पर रखकर नृत्य करती हुई कहती हैं कि यह गुड़ला घूम रहा है। यही गीत मारवाड़ क्षेत्र में गाया जाता है, शब्दों में कुछ बदलाव देखने को मिलता है–

"म्हाँरै घुड़ले रे सामा आव
म्है घुड़ले री तीजणिया, ओ
वीरा, थे घुड़ला असवार
घुड़लो माँगै रोक रूपैयो
दिवलो माँगै तेल
घुड़ले ने दे हात रोक रूपैयो
दिवले ने देसां तेल।"[6]

भावार्थ है कि हे भाई हमारे घुड़ले के सामने आओ। हम तीज का व्रत करके घुड़ला लेकर आयी हैं। हे मेरे भाई आपसे घुड़ला नकद रुपये माँग रहा है और दीपक के लिए तेल भी माँग रहा है। तब भाई कहता है कि घुड़ले को हम नकद रुपये देंगे और दीपक को तेल देंगे। यह घुड़ला नारी मुक्ति का उत्सव भी माना जाता है। घुड़ला खान नामक मुगल सूबेदार ने स्त्रियों को कैद कर लिया था जोधपुर राजा के पुत्र राव सातल ने घुड़ला खान को मारकर सभी महिलाओं को मुक्ति दिलायी और घुड़ला खान का सिर काटकर जोधपुर लाया गया। उसी सिर के प्रतीक रूप में अब तक मटकी का घुड़ला घुमाने की परंपरा है।

लोकगीतों पर वहाँ के क्षेत्र की बोली एवं लोक संस्कृति की झलक दिखाई देती है। मारवाड़ में लोक परंपरा है की लड़कियों को विवाह के पहले सावन में ससुराल नहीं रखा जाता। वे अपने मायके में रहती हैं। यहाँ सावन से संबंधित गीतों में अपनी माँ और भाई के प्रति पीहर बुलाने हेतु निवेदन करती हैं–

"लाग्यो लाग्यो माँ सावणियो रो मास
सावणिये रो में मास, तीज तिव्हाराँ, माबावड़ीजे
ओर सहेली, मा पीवरियेनेअे जाय।"[7]

यहाँ बेटी अपनी माँ को संदेशा भिजवाती है कि हे माँ, श्रावण मास लग गया है। तीज–त्योहार पर सभी सखियाँ अपने पीहर जा रही हैं। इस मारवाड़ी गीत की संरचना इससे संबद्ध क्षेत्र की भाषा के अनुरूप है। स्त्रियाँ पानी भरने जाती हैं तो पनिहारी लोकगीत सामूहिक रूप से वहाँ इस प्रकार गया जाता है–

"काळीअे काळायण अूमटी अे पणिहारी जी अे लो
मोटोड़ी छाँटाँ रो बरसै मेह वा लाजो।"[8]

अर्थात् काली बदली उमड़–घुमड़ कर आ गई है। पणिहारिने बदली से कहती हैं कि तुम मोटी बूंदों के साथ अच्छी वर्षा लेकर आओ।

मारवाड़ क्षेत्र में रोजगार के साधन कम होने से यहाँ के लोगों को दिसावर अर्थात् बाहर जाना पड़ता था। प्रवास के दौरान विरह में पत्नी या प्रेमिका द्वारा गाये–गये गीत बहुत ही गहन पीड़ा को अभिव्यक्त करते हैं। प्रवास–गीत गाती हुई स्त्री कहती है–

"उदियापुर से बीज मंगावो, मारु जी
निमलड़ी ववाधो पाल तलाव की, जी म्हांरा राज
माखनिया की पाल बाँध धो मारू जी
निमड़ली सींच धो काचा दूध से, जी म्हारा राज।"[9]

भावार्थः पत्नी, पति से कहती है कि आप नीम का बीज उदयपुर से मंगवाओ और तालाब के किनारे नीम का पौधा लगा दो। माखनिया (वंशलोचन का पत्थर) की मिट्टी की मेड़ उस नीम के पास लगा दो। मैं उस नीम के पौधे की कच्चे दूध से सिंचाई करूँगी।

कृषि करने वाले एक संयुक्त परिवार के बारे में इस गीत में बताया गया है। स्त्री अपने पति से उदयपुर से बीज मंगवा कर नीम बोने की प्रार्थना कर रही है। वह नीम उनके दांपत्य प्रेम का प्रतीक है। परदेश जाते वक्त उसकी पत्नी बालिग थी अब वह पूर्ण यौवन को प्राप्त हो गई है। इसलिए प्रवास गमन कर रहे अपने पति को बहाने से रोकना चाहती है।

कृषि प्रधान समाज के संयुक्त परिवार के महत्व को प्रस्तुत किया गया है। जिसकी बड़ी जिम्मेदारी बहू की होती है। मारवाड़ी लोक में सास–बहू में जब झगड़ा होता है तो वहाँ भी गीतों के माध्यम से अपनी पीड़ा की अभिव्यक्ति स्त्रियाँ बहुत शालीन भाषा में करती हैं–

"राम जी अूगात दैपरभात
मात जसोदा जी दाँतड माँगियो
राम जी, माँग्यो है बेर दोय च्यार
बहूअे हठीलीन सुनै य नसांभलै।"[10]

सास–बहू के झगड़े में सास नाराज होकर बहू को घर से निकाल देती है। लोक की अपनी कथा है माँ के कहने पर वह अपनी गर्भवती पत्नी को सुनसान बीहड़ में छोड़ आता है। जब पुत्र जन्म लेता है तो वापस पति अपनी पत्नी को घर लेकर आता है, अगर पुत्री जन्म लेती तो शायद वह वापस आने का अधिकार भी खो बैठती।

सामाजिक विविधता की कथा कहने वाले गीतों सहित धार्मिकता से संबंधित लोकगीतों में मुख्य रूप से लोक देवी–देवताओं से संबंधित गीत आते हैं। लोक पौराणिक रूप एवं मिथकों से चलता है। यहाँ मारवाड़ी लोक में स्त्रियों द्वारा गाया जाने वाला शीतला माता का गीत देख सकते हैं–

"बाड़ विचाले पिपली जी
जाँरी सीली छाँय
बला स्यूँ सेडल माताअे
जी तेल बालो खेलती जी।"[11]

एक स्त्री अपने बच्चों की चेचक को ठीक करने के लिए पूजा करती है। इस क्षेत्र में शीतला माता को चेचक की देवी माना जाता है। यहाँ 'बाड़' शब्द स्थानीयता का द्योतक है। 'बाड़' अर्थात् काँटेदार हदबंदी।

इसी तरह लोक देवता भैरव जी का गीत गया जाता है–

"भैरुँजी, ऊँचे से धोरे थारो देवरो
भैरूँजी धजारे फरूकै असमान
सेवगांरी, ओ बाबा भली करो।"[12]

यहाँ भक्त कह रहे हैं कि ऊँचे टीले पर आपका मंदिर है। आपकी पताका आकाश तक ऊँची है जो फहरा रही है। बाबा आप अपने सेवकों का भला करना। हमारी संस्कृति में स्त्रियों का लोक अद्भुत और निराला है। मारवाड़ी भाषा में लोकगीतों के माध्यम से यौनिक–लैंगिकता और प्रेमाभिव्यक्ति को प्रकट करने वाले गीतों में अपनी संवेदनाओं को उकेरता स्त्री हृदय गा उठता है। पिता जब वर खोजने जाते हैं तो मन ही मन वह अपनी इच्छा जाहिर करती है कि उसका पति कैसा हो? ससुराल कैसा मिले, पति कितना प्रेम करेगा आदि सभी लोकगीतों के संदर्भ में इन सभी इच्छाओं को स्त्री यौनिकता में शामिल किया जाता है। अपने होने वाले पति की अभिव्यक्ति देती वह गाती है–

"ना बाबोजी, अब सरकार वर हेरो
ना कानू वर हेरो, हो राम
पण आप किसन वर हेरो, हो राम
भरण गयी जल जमना रो पाणी"[13]

ये स्त्रियों के लोक ने अपने मन बहलाने का उपाय बना रखा है बाकी आज भी हमारे पितृसत्तात्मक समाज में लड़की की सहमति लेना अधिकांशतः सही नहीं माना जाता। अपने संभावित पति को लेकर उसके हृदय में द्वंद्व बना रहता है–

"मेड़ी बैठ्यो मद पीवै अे, लीली असवार
खाँसी बाँध पगड़ी अे, मधरी चालै चाल।"[14]

स्त्री कल्पना कर रही है कि उसका पति घुड़सवारी करने वाला होगा मेड़ी अर्थात् घर के ऊँचे कमरे में बैठकर मदिरा पान कर रहा होगा। सिर पर पगड़ी बांधे मदमस्त चाल में धीमें–धीमें चलता होगा। समाज के तमाम सामाजिक और नैतिक बंधनों ने जैसे–जैसे स्त्री–यौनिकता को दबाया लोकगीतों में उनकी अभिव्यक्ति मुखर हुई है। विवाह के समय गाये जाने वाले गीतों में ससुराल और होने वाले पति की काल्पनिक छवि लोकगीतों में प्रकट होती है। विवाह पश्चात् जब पति अपनी पत्नी के गाँव जाता है तो पत्नी उसके आगमन पर स्वागत करती है। पति के लिए हृदय में चलने वाले प्रेम में वह गाने लगती है–

"बनड़ी उभी गोखड़ियाँ–
दादाजी, मोय परणाय
म्हारा अे जोड़ी के सारे जी
म्हारो बेगो लगन लिखाय जी
म्हारो वेगो सावो अे कराया।"[15]

बनड़ी अर्थात् जिस लड़की की शादी की चर्चा चल रही है, वह छत के (गोखड़ियाँ) झरोखे से छुपकर सभी बातें सुन रही है और मन में सोच रही है कि मेरी जोड़ी का वर है, दादा जी अब मेरी शादी कर दो। मेरा लगन जल्दी लिखवा दो। यथार्थ रूप में देखे तो मारवाड़ क्षेत्र में लड़कियाँ समाज के दबाव या नैतिक मर्यादाओं के कारण अपना विवाह करने के लिए नहीं कहती है लेकिन हृदय में ये भाव हमेशा रहते हैं कि शादी जैसा मुख्य संस्कार समझौता नहीं होता। समाज में पति द्वारा पत्नी के साथ मार–पीट भी होती है, उनका शोषण किया जाता है। सभी स्त्रियाँ विरोध नहीं करती हैं, लेकिन ये सभी मुद्दे गीतों में मुखरित होते हैं। सखी को अपनी आप बीती कहते हुए एक स्त्री कहती है कि मेरे पति ने आली अर्थात् गीली (कामड़ी) लकड़ी तोड़कर मेरी कमर में दो–चार (सड़ककायी) मारी।

"हे आली तोड़ी कामड़ी, लूँदारियोलै
सड़कायी दोय'र चार, जा जोमर वोलै।"[16]

अपनी पीड़ा को गीतों में गाती हुई वह स्त्री अपनी माँ व भाई को याद करती हुई रोती हुई कह रही है कि मेरे पैर जल रहे हैं और मैं रास्ते में चल रही हूँ। पैरों को जलने से बचाने के लिए मैंने आँकड़े

के पत्ते बाँध रखे हैं। बारिश का कुछ नहीं पता कब आयेगी। मरुस्थल का सूखापन भी उनके जीवन के आनंद को कम नहीं कर पाता उस पीड़ा में भी स्त्रियाँ गीतों का साथ ढूँढ लेती है–

"पगां तो बळती, वी राहूँ फिरूँ
बाँधांतो अकड़ले रा पान। मेहाँ झड़ माँडियो"[17]

जब अविवाहित लड़कियाँ ससुराल के ऐसे गीत सुनती हैं तो उसके प्रेमिल भाव खंड–खंड हो जाते हैं। ये सब घटित होने के बाद भी अपने दूल्हे के लिए वह दीवानी होकर चकरी के बीच डोर की तरह घूमती रहती है। वह अपने दूल्हे के लिए ताल–तलैया बनवाती है ताकि साथ में स्नान कर सके। बाग लगवाती है ताकि मिलन की कोई जुगत बन जाए। मारवाड़ी भाषा में इन अनूठे भावों को गीतों की लड़ियों में पिरोती हुई बाला कहती है–

"बने जी री खातर फिरूँरै दीवानी, ज्यों चकरी बिच डोर
हर असमान में, असमान में।"[18]

स्त्री अपने साथी से प्रेम की अपेक्षा करती है। उसे गले का हार और हाथी दाँत का चूड़ा नहीं चाहिए। उसे अपने साजन का साथ चाहिए, वही हृदय में बसा हुआ है–

"म्हेतो नहीं माँगा चन्द्रहार, नहीं दांत्यो चूड़लो
म्हेतो मांगा साजनिया रो साथ वे म्हारे चित चढ़े।"[19]

मारवाड़ी भाषा के लोकगीतों में राजस्थान की ही नहीं बल्कि भारतीय संस्कृति की सौंधी खुशबू छिटक रही है।

सामाजिक परंपराओं की स्थिति सदैव एक समान नहीं रहती वैसे ही स्त्री–चित में भी बदलाव आता रहता है। पत्नी जब श्रृंगार करती है तो पति को समर्पित करती हुई अपने अंग–प्रत्यंग की शोभा में उसके रूप को बसाकर गाती है–

"थांनै काजळयो बणा लूँ, थांनै नैणां में रमालूं
बन्ना पलकां में बंदकर राखूंली।
बन्ना पलकां में नींद कइयां आवली
म्हारी पलकां पालणियां झुलावली।"[20]

भावार्थ: एक स्त्री अपने पति से प्रेम करने की इच्छा प्रकट करती हुई कहती है कि मैं आपको काजल बनाकर अपनी आँखों में रमा कर रखूँगी और पलकों में बंद करके रखूँगी। मेरी पलकों में आपको नींद नही आयेगी तब मैं अपनी पलकों के पालने से आपको झूला झुलाऊँगी।

हमारी लोकसंस्कृति सजातीय विवाह को ही मान्यता देती है। यह भी पितृसत्तात्मक समाज की सामंतवादी सोच से इतर नहीं है। विवाह पूर्व प्रेम–व्यवस्था विरोधी है लेकिन लोकगीतों में

सामाजिक बंधनों से परे उन सभी भाव-संवेदनाओं को अभिव्यक्ति दी गई है। लोक में शकुन विचार, झाड़-फूँक, गंडे-ताबीज, डायन-विचार, नजर लगने से संबंधी और कामण या जादू-टोने-टोटके को लेकर बहुत से गीत मारवाड़ी भाषा में स्त्रियों द्वारा गए हैं-

"उड़ उड़ रे
म्हारा, काळा रे कागला
कद म्हारा पीव जी घर आवे
कद म्हारा पीव्जी घर आवे , आवे र आवे
कद म्हारा पिव्जी घर आवे।"[21]

भावार्थ: जब कौआ मुंडेर पर बोलता है तो पत्नी शगुन मनाती है कि उसके प्रवासी प्रियतम शीघ्र ही लौटकर आयेंगे। वह गाती है कि हमारी छत की मुंडेर पर बोल रहे काले कौवे जल्दी उड़ जा। मुझे जल्दी से बता कि मेरे प्रियतम घर कब आ जायेंगे, इसी भाव को यहाँ व्यक्त करता मारवाड़ की मिठास घोलता यह गीत है। इसी तरह बहुत से गीत मारवाड़ी भाषा में लिखे गए हैं जो जन-जीवन में उजास की राह प्रशस्त करते रहे हैं।

निष्कर्ष: रूप से कह सकते हैं कि प्रत्येक भाषा मारवाड़ी भाषा के गीत स्त्री लोक की मनोदशा का पूर्ण चित्रण करते हैं। मारवाड़ी भाषा की मिठास लोकगीतों के निरालेपन में चार चाँद लगा देती है। प्राचीन समय से ही ऊँटों की लंबी कतारें जो लंबी दूरी तय करती थीं। सदियों से पानी के लिए संघर्ष करता यहाँ का रसीला-रंगीला प्रदेश अपनी रंग-बिरंगी संस्कृति के लिए विश्व प्रसिद्ध है। शुष्क प्रदेश होते हुए भी यहाँ की भाषा में एक अनूठा रस संचित है जो यहाँ के जीवन में कल-कल, छल-छल करती सौम्य धारा बिखेरता रहता है। मारवाड़ी भाषा और साहित्य में लोकपक्ष प्राथमिकता पर रहा है। लोक जुड़ाव के कारण ही मारवाड़ी भाषा समृद्ध हुई है। स्त्रियों की संवेदनाएँ संपूर्ण साँस्कृतिक स्वरूप का प्रकटीकरण होती हैं। अपने अंतस की अभिव्यक्ति वे गीतों के माध्यम से करती हैं। एक गीत में पति से जब पत्नी कहती है कि उसे नीम की निंबोरी कड़वी लगती है, इसलिए मिश्री का बाग लगा दो क्योंकि मारवाड़ी भाषा की तरह मिश्री भी मीठी होती है। स्त्रियों द्वारा गढ़ी जाने वाली काल्पनिक कथाएँ लोकगीतों में प्रकट होती रही हैं। लड़का-लड़की में असमानता को लेकर, कन्या-भ्रूण को गर्भ में आने से जन्म देने तक, लड़कियों के युवती होने से लेकर ससुराल जाने तक की सभी मनोदशाओं का चित्रण मारवाड़ी लोकगीतों में किया गया है। स्त्री जीवन की संवेदनाओं का अंकन एक स्त्री ही भली-भाँति कर सकती है। जिस हृदय ने पीड़ा को भोगा है वही सही मायने में उसे गा सकता है। जब वह लोकगीतों में गति पाता है तब संपूर्ण लोक की नीरसता को दूर कर, सरसता की पावन मरुस्थलीय नदी बनकर जन-जीवन में हरित-प्रेम प्रसारित करता रहता है। मारवाड़ी भाषा के गीत किसी क्षेत्र विशेष की स्त्रियों की संवेदनाएँ मात्र नहीं हैं बल्कि ये भारतीय नारी के हृदय की उद्दाम जिजीविषा है।

संदर्भः

1. स्वामी नरोत्तमदास, (संपादक), (संवत्–2019), ढोला मारू रा दूहा, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, पृ. 6
2. श्री कृष्णदास, 'लोकगीतों की सामाजिक व्याख्या', (1956), साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, पृ. 28
3. मीसण सूर्यमल्ल, (1988), वीरसतसई, संपादक– नरोत्तमदास स्वामी, नरेंद्र भानावत, लक्ष्मीकमल, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, पृ. 33
4. सूर्यकरण पारीक, नरोत्तमदास स्वामी और राम सिंह (संकलित), 'राजस्थानी के लोकगीत', (2019), राजस्थानी ग्रंथागार प्रकाशन, जोधपुर, गीत संख्या–4
5. वही, गीत–21
6. वही, पृ. 22
7. वही, पृ. 27
8. वही, पृ. 114
9. वही, पृ. 120
10. वही, पृ. 178
11. वही, पृ. 7
12. वही, पृ. 5
13. पारीक सूर्यकरण, नरोत्तम स्वामी और रामसिंह संपादक –'राजस्थान के लोकगीत' राजस्थानी ग्रंथागार प्रकाशन, जोधपुर, (2019), द्वितीय संस्करण, 61, गीत संख्या–11
14. वही, 69, गीत संख्या–16
15. वही, 136–137, गीत संख्या–74
16. वही, 136–137, गीत संख्या–74
17. वही, 89, गीत संख्या–33
18. वही, 145, गीत संख्या–84

19. कविता कोश

http://kavitakosh.org/kk/%E0%A4%AC%E0%A4%A8%E0%A5%8D%E0%A4%A8%E0%A5%80_%E0%A4%95%E0%A5%87_%E0%A4%A8%E0%A4%B9%E0%A4%BE%E0%A4%A8%E0%A5%87_ %E0%A4%95%E0%A4%BE_%E0%A4%97%E0%A5%80%E0%A4%A4__%E0%A4%B0%E0%A4%BE%E0%A4%9C%E0%A4%B8%E0%A5%8D%E0%A4%A5%E0%A4%BE%E0%A4%A8%E0%A5%80, 28-02-2024

20. कविता कोश

http://kavitakosh.org/kk/%E0%A4%AC%E0%A4%A8%E0%A4%BE_%E0%A4%95%E0%A5%87_%E0%A4%97%E0%A5%80%E0%A4%A4_/_12_/_%E0%A4%B0%E0%A4%BE%E0%A4%9C%E0%A4%B8%E0%A5%8D%E0%A4%A5%E0%A4%BE%E0%A4%A8%E0%A5%80, 28-2-2024

21. कविता कोश

https://kavitakosh.org/kk/%E0%A4%89%E0%A4%A1%E0%A4%BC_%E0%A4%89%E0%A4%A1%E0%A4%BC_%E0%A4%B0%E0%A5%87_%E0%A4%AE%E0%A5%8D%E0%A4%B9%E0%A4%BE%E0%A4%B0%E0%A4%BE_%E0%A4%95%E0%A4%BE%E0%A4%B3%E0%A4%BE_%E0%A4%B0%E0%A5%87_%E0%A4%95%E0%A4%BE%E0%A4%97%E0%A4%B2%E0%A4%BE_/_%E0%A4%B0%E0%A4%BE%E0%A4%9C%E0%A4%B8%E0%A5%8D%E0%A4%A5%E0%A4%BE%E0%A4%A8%E0%A5%80, 28-02-2024

❑❑

शैलीविज्ञान और अनुवाद : संबद्धता का निकष

—हरीश कुमार सेठी

भाषा और साहित्य–जगत के क्षेत्र में भाषा के विविध प्रयोगों को दृष्टि में रखते हुए अध्ययन–विश्लेषण और 'विवेचन के संदर्भ में भाषा–चिंतकों ने ज्ञान के शैलीविज्ञान जैसे विषय के उद्भव और विकास की स्थिति बनाई। ज्ञान के क्षेत्र में इस शैलीविज्ञान विषय को भाषाविज्ञान की अनुप्रायोगिक विधा के रूप में देखा गया जिसके आधार पर भाषा और साहित्य के अध्ययन एवं शोध के गवाक्ष खुले पाठ के संदर्भ में सही–सही मत निर्मित करने अथवा पाठ के सार्थक मूल्यांकन में मदद मिलनी शुरू हुई। भाषा के शैलीविज्ञान परक अध्ययन से कृति में व्यंजित अभिव्यक्ति पक्ष के आधार पर उसमें व्यंजित भाव–संवेदना अथवा कथ्य तक पहुँचने का प्रयास किया जाता है। शैली, भावों–विचारों और संवेदनाओं को व्यक्त करने का माध्यम है तो कथ्य उसका स्वरूप। इसलिए कथ्य और अभिव्यक्ति, एक ही वस्तु के दो पक्ष हैं। साहित्य, अनुभूतिजन्य संरचना की परिणति है जिसमें सर्जक सर्जनात्मक और कलात्मक प्रयोग करता है। इन्हीं सर्जनात्मक और कलात्मक प्रयोगों का अध्ययन शैलीविज्ञान के अंतर्गत किया जाता है। साहित्य का आस्वादन अथवा साहित्यिक सौंदर्य बोध हमें साहित्य की संरचना, संघटना और प्रकार्य के अध्ययन–अनुभूति से होता है। इसलिए इसकी सैद्धांतिक मान्यताएँ भाषापरक स्वीकार की जाती हैं, भाषा का आधार लिए हुए होती हैं। भाषा को सैद्धांतिक मान्यताएँ स्वीकार करने के कारण शैलीविज्ञान, किसी भी साहित्यिक रचना को स्वायत्त 'शाब्दिक कला' मानता है और 'साहित्य क्या कहता है', या उस कृति से पाठक के मन पर क्या प्रभाव पड़ता है अथवा पड़ेगा संबंधी पक्ष उसके अंतर्गत अध्ययन का विषय होता है। भाषा और साहित्य के इस जुड़ाव की आधारभूमि पर खड़ा शैलीविज्ञान अंतरशास्त्रीय अध्ययन की वह अमूर्त संकल्पना सिद्ध हुई जिसकी व्याप्ति 'अनुवाद' तक है।

शैलीविज्ञान और अनुवाद, दोनों ही भाषाविज्ञान की आनुप्रायोगिक विधाएँ हैं। भाषाविज्ञान, किसी भी भाषा की ध्वनि, रूप, वाक्य और अर्थ आदि विभिन्न घटकों का अध्ययन एवं विश्लेषण के लिए सिद्धांत प्रदान करता है। भाषाविज्ञान के द्वारा प्रस्तुत ये सिद्धांत सार्वभौमिक होते हैं। इनके आधार पर किया गया भाषावैज्ञानिक विश्लेषण, भाषा के विभिन्न संरचनात्मक तत्वों और प्रक्रियाओं का निर्धारण करता है। इसलिए भाषाविज्ञान को 'सैद्धांतिक भाषाविज्ञान' भी कहा जाता है। वहीं,

भाषा-प्रयोक्ताओं की जरूरतों को पूरा करने के लिए भाषाविज्ञान के इन सिद्धांतों का अनुप्रयोग करके 'अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान', भाषायी समस्याओं का पता लगाता है और उनका समाधान खोजता है। 'अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान' में भाषाविज्ञान से प्राप्त सिद्धांतों का उपयोग भाषा शिक्षण, अनुवाद, कोश निर्माण, उच्चारण विज्ञान (व्यक्ति का उच्चारण ठीक करने), शैली विज्ञान (शैली का विवेचन करने) आदि अन्य विषयों में किया जाता है। इसलिए अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान में शैलीविज्ञान, अनुवाद विज्ञान, कोश विज्ञान आदि विषयों का समावेश हो जाता है। यहाँ विचारणीय प्रश्न अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान की इन शाखाओं में से विवेच्य विषय अर्थात् शैलीविज्ञान और अनुवाद के बीच परस्पर संबंध को लेकर उभरता है।

शैलीविज्ञान और अनुवादः परस्पर संबंध

शैली, भाषा से संबंधित है और अनुवाद भी मूलतः एक भाषिक प्रक्रिया है। इसलिए दोनों परस्पर संबंधित हैं शैलीविज्ञान का संबंध भाषा के सूक्ष्म और वैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर उसे समझकर साहित्य के मर्म को अनुभूत करने, उसका सही मूल्यांकन करने से है। वहीं, अनुवाद एक भाषा में किसी विशिष्ट अभिव्यक्ति-शैली के आवरण में व्यक्त भाव-संवेदना को दूसरी भाषा में प्रस्तुत करना है। अनुवादक भाषा के बाह्य रूप (जो तथ्यों पर आधारित होता है) और आंतरिक रूप (जो सर्जनात्मक होता है और आंतरिक संरचना पर आधारित होता है) के समन्वित अध्ययन-विश्लेषण के आधार पर कथ्य के साथ-साथ शैली के स्तर पर समतुल्यता स्थापना का जो प्रयास करता है, वह उसे शैलीविज्ञान से जोड़ देता है। अनुवाद की प्रक्रिया से गुजरते हुए अनुवादक सर्वप्रथम स्रोत भाषा पाठ का भाषिक विश्लेषण करता है उसी प्रकार शैलीवैज्ञानिक अध्ययन के अंतर्गत स्रोत भाषा पाठ का एक प्रकार से विभिन्न संरचनात्मक तत्वों और प्रक्रियाओं के अनुरूप निर्धारण किया जाता है।

अनुवाद में शैलीविज्ञान की विशिष्ट भूमिका है। अनुवाद में समतुल्यता के सिद्धांत के अंतर्गत अर्थ के साथ-साथ शैली को भी महत्व दिया जाता है। अनुवाद सैद्धांतिकी में समतुल्यता का आयाम अनुवाद में मूल पाठ के अर्थ को बरकरार रखने के साथ-साथ मूल की शैली के अनुरूप शैली को बनाए रखने से संबंधित है। अनुवाद प्रक्रिया में शैली का भी अपना महत्व है। इस प्रयास के क्रम में लक्ष्य भाषा के संदर्भ में अनुभूत होने वाली शैली पक्ष से संबंधित समस्याओं को भली प्रकार से समझने में अनुवादक को शैलीविज्ञान संबंधी जानकारी का होना नितांत आवश्यक है। मूल पाठ की भाषा के शैलीवैज्ञानिक विश्लेषण से हमें बारीक से बारीक वे सूचनाएँ-जानकारियाँ मिलती हैं जिनका अनुवाद कर्म में दूरगामी प्रभाव होता है। शैलीवैज्ञानिक विश्लेषण, अनुवाद में होने वाली भयंकर भूलों से भी बचाता है। मूल भाषा की शैली के समकक्ष लक्ष्य भाषा शैली का प्रयोग करने की समस्या के समाधान में शैलीविज्ञान के अनुप्रयोग से सहायता मिल सकती है।

भाषा की ध्वनि, रूप, वाक्य और अर्थ आदि विभिन्न घटकों का अध्ययन एवं विश्लेषण के लिए सिद्धांत प्रदान करने वाले भाषाविज्ञान के अंतर्गत 'वाक्य' को भाषा की महत्तम इकाई स्वीकार

किया जाता है। वहीं, शैलीविज्ञान में वाक्य के ऊपर का विषय भी विश्लेषण की प्रविधि के रूप में स्वीकार किया जाता है। कारण, यह मूलतः पूरी कृति के आलोक में विश्लेषण की प्रविधि है। यहाँ अनुवाद और शैलीविज्ञान का स्पष्ट रूप से संबंध उभरकर सामने आता है। अनुवाद की आधुनिक अवधारणा में शब्दों-भावों के स्थान पर 'विमर्श से विमर्श में अंतरण' की बात की जाती है। यही विमर्श ही मूलतः भाषा को प्रोक्ति के स्तर तक ले जाता है और अनुवाद का शैलीविज्ञान से संबंधित स्थापित करता है। स्थिति यह है कि अनुवाद के संदर्भ में शैलीविज्ञान अपनी विशिष्ट भूमिका निभाता है; स्रोत भाषा और लक्ष्य भाषा दोनों के परिप्रेक्ष्य में इसकी प्रासंगिकता निर्विवाद है।

शैलीविज्ञान और अनुवादक

व्यावहारिक गतिविधि होने के कारण अनुवाद मूलतः व्यक्ति-सापेक्ष कर्म है। मूल पाठ का लेखक, अपने लेखन-कर्म में भाव-संवेदना और कलात्मक अभिव्यक्ति के माध्यम से सौंदर्यानुभूति को व्यंजित करने के लिए, उद्देश्य और प्रसंग के अनुसार, भाषा के ऐसे रूपों का प्रयोग करता है जो विविध आयाम लिए हुए होती है; सामान्य से अलग प्रयोग वाली भाषा होती है। इस प्रकार की भाषा प्रयोग करते समय संदर्भ के अनुसार विशेष ध्वनियों, शब्दों, रूपों अथवा वाक्य विन्यास का प्रयोग, कथ्य अथवा संदेश की विशिष्ट ढंग से प्रस्तुति जैसे पक्ष विशिष्ट शैली का रूप धारण कर लेते हैं। भाषा में शैलीगत वैशिष्ट्य विषय, विधा और व्यक्ति के स्तर पर नजर आता है। कहने का अभिप्राय यह है कि विषय, विधा और व्यक्ति के अनुसार शैली बदलती रहती है। भावक द्वारा अनुभूत होने वाली यह सौंदर्यनुभूति रचित साहित्य में निहित होती है- उसके बाहर उसकी सत्ता नहीं होती है।

अनुवाद, मूल में व्यक्त भाव (अर्थ) और अभिव्यक्ति सौंदर्य (शैली) को लक्ष्य भाषा में लाने का श्रम-साध्य प्रयास करता है। इस उपक्रम में अनुवादक को मूल पाठ का गंभीरतापूर्वक विरेचन-विवेचन और विश्लेषण करना होता है। पाठ की गहन संरचना तक पहुँचने के लिए उसे औपचारिक अथवा अनौपचारिक रूप से शैलीवैज्ञानिक अध्ययन जैसी अमूर्त संकल्पना का अवलंब ग्रहण करना ही पड़ता है। इसकी सहायता से वह अनूद्य पाठ का गहन-गंभीर विवेचन और विश्लेषण करने की प्रक्रिया में पाठ का अपने मानसिक स्तर पर विरेचन करते हुए अनुवाद प्रक्रिया से संबंधित विभिन्न चरणों से गुजरता है। लेकिन, स्रोत भाषा के शैलीपरक पक्ष की अनदेखी करके अनुवाद प्रक्रिया का निर्बाध संपन्न हो पाना असंभव है। इस संबंध में प्रो. जगदीश शर्मा ने सही ही कहा है कि 'भाषाविज्ञान हो अथवा साहित्यिक आलोचना संबंधी शोध, जब तक पाठ का विभिन्न दृष्टियों से विवेचन नहीं होता उसके विषय में ठीक-ठीक मत निर्मित करना कठिन अवश्य होता है। अनुवाद के संदर्भ में यह विवेचन न केवल मूल पाठ अथवा स्रोत पाठ का अवग्रहण करने में मददगार होता है अपितु लक्ष्य भाषा में नए पाठ के सृजन के साथ-साथ संदेश के अंतरण, आशय के पुनर्गठन और नव-निर्मित पाठ की समाज-संस्कृति सापेक्षता स्थापित करने में भी महत्वपूर्ण आधारभूमि निर्मित करता है।'[1] इसलिए शैलीविज्ञान के अंतर्गत कृति के जिन तत्वों के आधार पर अध्ययन-विश्लेषण किया जाता है, अनुवादक को उन तत्वों का सम्यक बोध होना अनिवार्य रूप से अपेक्षित होता है।

अनुवादक से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अनुवाद में न केवल मूल के अर्थ तत्व को बनाए रखे बल्कि साथ ही मूल की शैली को बनाए रखे या मूल की शैली के अनुरूप शैली रखे। अगर उसे शैली पक्ष के विश्लेषण एवं स्पष्टीकरण के रूप में शैलीवैज्ञानिक बोध हो तो उसे अपने अनुवाद कर्म में के दौरान उपजने–उभरने वाली चुनौतियों को भी प्रकार से समझने और भ्राँतियों का निराकरण करने में मदद मिलती है। इसलिए अनुवादक को शैलीविज्ञान की जानकारी होना नितांत आवश्यक है। इस संबंध डॉ. सुरेश कुमार के ये विचार विशेष तौर पर उल्लेखनीय हैं कि 'अनुवाद कार्य में मूल भाषा के पाठ का जिस शैली से संबंध है, उसकी संवादी शैली लक्ष्य भाषा में कौन–सी होगी, जिसमें संदर्भ तथा प्रभाव की समानता बनी रहे, यह जानने के लिए शैलीविज्ञान सहायक है। शैलीवैज्ञानिक विश्लेषण से हमें जो छोटी–छोटी जानकारियाँ मिलती हैं उनका दूरगामी प्रभाव होता है। वे हमें कई बार ऐसी भूलों से बचाती हैं जो संप्रेषण को काफी प्रभावित करती हैं।"[2] यहाँ रूसी अनुवाद चिंतक अंतोन पोपोविच के नाम का विशेष तौर पर उल्लेख करना उपयुक्त होगा, जिन्होंने अनुवाद के प्रत्येक तथ्य को– भले ही वह भाषापरक हो अथवा विषयपरक– को शैलीगत प्रक्रिया के रूप में देखने का पक्ष लेते हुए कहा है कि 'अनुवादक के कार्य का केंद्र होता है मूल रचना के लिए पर्याप्त शैलीगत पर्यायवाची शब्द या अभिव्यक्ति की खोज।'[3]

वास्तविकता यह है कि अनूदित पाठ का स्रोत भाषा के पाठ के अनुरूप सृजन करने में शैलीविज्ञान बड़े काम का सिद्ध होता है। शैलीवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य, मूल रचना और उसमें निहित संसार पर ही केंद्रित होता है। इसे ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि स्रोत भाषा की गहन संरचना (स्ट्रक्चर) और गठन (टेक्सचर) तक पहुँचने के साथ–साथ उसके शैली–भेदों के आलोक में भास्वर प्राप्त होने वाली अंतर्निहित साहित्यिकता या व्यंजित संवेदना को भली प्रकार से आत्मसात करते हुए लक्ष्य भाषा में प्रस्तुत करने शैलीविज्ञान विशेष भूमिका निभाता है; बेहतर अनुवाद कर्म में यह महत्वपूर्ण कार्य करता है।

शैलीविज्ञान : मूल और अनूदित पाठ के विश्लेषण–मूल्यांकन का आवश्यक साधन

शैलीविज्ञान, मूल और अनूदित पाठ के विश्लेषण–मूल्यांकन का आवश्यक साधन सिद्ध होता है। लेकिन, किसी भी रचना को शैली की दृष्टि से परखने के लिए कुछ कसौटियों की आवश्यकता होती है। साहित्यिक रचना के उन साहित्यिक गुणों के संधान की दृष्टि से शैलीविज्ञान की अपनी उपादेयता है, जो परंपरागत साहित्य–समीक्षा में संभव नहीं हो पाती। शैलीविज्ञान, वर्ण, शब्द, वाक्य आदि साहित्य के भाषिक मूर्त रूपों का विवेचन–विश्लेषण के द्वारा रचना के भाषिक अध्ययन करते हुए उसके मूल अर्थ को उजागर करने के साथ–साथ उसके कलात्मक मूल्य के आकलन में सहायक की भूमिका निभाता है। लेकिन मूल पाठ और अनूदित पाठ के विश्लेषण–मूल्यांकन के आवश्यक साधन–रूप में शैलीविज्ञान के स्तर पर भिन्नता पाई जाती है। वास्तविकता यह है कि साहित्यिक रचना की शैली और अनूदित रचना की शैली के मानदंड और उनके मूल्यांकन की कसौटियों में कहीं भी समानता नहीं है।

सृजन स्वतंत्र रचना कर्म है, साहित्य के आकाश में खुले पंखों से उड़ान भरना है, जिसमें कहीं कोई बंधन नजर नहीं देखा जा सकता। यह उन्मुक्तता विषय-वस्तु के साथ-साथ उसकी प्रस्तुति की माध्यम भाषा के लिए गठित शिल्प के स्तर तक व्याप्त होती है। रचनाकार के द्वारा गठित शिल्प का क्षेत्र व्यापक होता है। सृजन कर्म की इस उन्मुक्त उड़ान भरने की प्रक्रिया में वह भाषा प्रयोग करते समय संदर्भ के अनुसार विशेष ध्वनियों, शब्दों, रूपों अथवा वाक्य विन्यास का प्रयोग, कथ्य अथवा संदेश की प्रस्तुति की विशिष्ट शैली आदि का रूप धारण कर लेती है। भाषा में यह शैलीगत वैशिष्ट्य विषय, विधा और व्यक्ति के स्तर पर नजर आता है। कहने का अभिप्राय यह है कि विषय, विधा और व्यक्ति के अनुसार शैली बदलती रहती है। मौलिक सृजन-कर्म के द्वारा विषय को प्रतिपादित करने की यह प्रविधि रचनाकार के निजी वैशिष्ट्य की द्योतक होती है, उसमें उसके व्यक्तित्व की छाप नजर आती है। रचना में व्यंजित यह छाप ही जन-मानस की गहराई में उतरकर रचनाकार की पहचान का आधार बन जाती है। शैली के आलोक में साहित्य को समझने और परखने की दृष्टि के आधार पर किसी भी साहित्यिक कृति के माध्यम से व्यंजित अर्थों का विवेचन, विश्लेषण-परीक्षण करके उसकी भाषा परक साहित्यिकता का उद्घाटन संभव हो पाता है। इससे रचित साहित्य के मूल्य और गुणों की जानकारी मिल पाती है। ऐसे में सर्जक के साहित्यिक योगदान की दृष्टि से और साहित्य-संसार में उसके स्थान को निर्धारित करने के लिए उसकी शैली का मूल्यांकन मददगार रहता है। इसलिए, शैली का मूल्यांकन परीक्षण साहित्य-सर्जक के योगदान की दृष्टि से महत्वपूर्ण सिद्ध होता है।

लेकिन, अनूदित रचना के संदर्भ में अनुवाद सैद्धांतिकी, शैली के मूल्यांकन परीक्षण का भिन्न मानदंड प्रस्तुत करती है। अनुवाद में अनुवादक मूल पाठ के कथ्य और अभिव्यक्ति से बँधा हुआ होता है, उसे मूल के प्रति निष्ठावान बने रहना होता है। उसे स्रोत भाषा के सभी पक्षों को लक्ष्य भाषा में उतारने का प्रयास करना होता है। उसके इस प्रयास में विषय-वस्तु के साथ-साथ मूल रचना की शैली की विशेषताओं को लक्ष्य भाषा में सुरक्षित प्रस्तुत करना भी शामिल है। लेकिन, अनुवाद में मूल भाषा की शैली के समकक्ष शैली का प्रयोग करना आसान नहीं होता है; इसमें अनुवादक को कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अनुवाद की सफलता अथवा विफलता को इसी कसौटी पर परखा जाता है कि अनूदित रचना मूल का कितना स्पष्ट या अस्पष्ट प्रतिबिंब प्रस्तुत कर रही है। इसलिए, स्वाभाविक है कि मूल के प्रति अनुवादक की यह निष्ठा दोनों स्तरों कथ्य और अभिव्यक्ति पर होती है। अनूदित रचना में मूल कृति की शैली की उपेक्षा वास्तव में रचना के प्रभाव के साथ अन्याय हो जाता है। चूँकि शैलीवैज्ञानिक अध्ययन का संदर्भ स्रोत भाषा पाठ और उसमें अंतर्निहित संसार से होता है, इसलिए अनुवाद करते समय इन्हें शैलीविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में जानने-समझने की जरूरत पड़ती है।

वैसे, कुल मिलाकर यह स्वीकार किया जा सकता है कि शैलीवैज्ञानिक अध्ययन अनूदित (और मूल भी) पाठ के विवरणात्मक विश्लेषण और मूल्यांकन का आवश्यक साधन-उपकरण है। यह समतुल्य और समप्रभावी पाठ प्रस्तुत करने में अनुवादक की सहायता करता है। किसी भी पाठ के

शैलीवैज्ञानिक अध्ययन से पाठ के सूक्ष्म, गहन एवं व्यापक अर्थों के उद्घाटन से अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध, संपन्न परिवर्धित एवं परिष्कृत रूप में पाठ संबंधी बोध हो पाना संभव हो पाता है। स्वाभाविक है कि इससे रचना के संदर्भ में सार्वभौमिक (राष्ट्रीय और वैश्विक) दृष्टि का विकास हो पाता है, जो उसे 'राष्ट्रीय साहित्य' तथा उससे भी बढ़कर 'विश्व साहित्य' की श्रेणी तक पहुँचा सकता है।

अनुवाद के प्रकार और शैली का संदर्भ

अनुवाद में 'शैली' अर्थ-वैविध्य लिए हुए नजर आती है और आम तौर पर दो अर्थों की ओर संकेत करती है। इनमें से पहला मूलतः शब्दानुवाद, भावानुवाद, छायानुवाद, व्याख्यानुवाद, सारानुवाद और अनुकूलन (रूपांतरण) जैसे अनुवाद के विविध भेदों-प्रकारों से संबंधित है; एवं दूसरा 'अभिव्यक्ति की पद्धति' से। इस तरह, अनुवाद के प्रसंग में शैली को अनुवाद के प्रकार का पर्याय भी मान लिया जाता है और अभिव्यक्ति की शैली भी। लेकिन, अनुवाद सैद्धांतिकी में इस प्रकार की द्वर्थकता की स्थिति से बचना चाहिए और विषय-अनुशासन के समग्र विकास को ध्यान में रखते हुए दोनों के बीच अंतर की स्पष्ट रेखा खींची जानी चाहिए। फिलहाल, इस पर और अधिक चर्चा करने के स्थान पर अभिव्यक्ति की पद्धति के संदर्भ में शैली के प्रसंग पर विचार को जारी रखना उपयुक्त प्रतीत होता है।

अनुवाद अनेक प्रकार से, भिन्न-भिन्न शैलियों में किया जा सकता है। शैली के स्तर पर यह भिन्नता मूल कृति, उसके विषय से संबंधित वस्तु (कथ्य) और अनुवाद के उद्देश्य के अलावा अनुवादक की व्यक्तिगत अभिरुचि और रुझान आदि पक्षों पर निर्भर करती है। व्यक्ति-सापेक्ष व्यावहारिक गतिविधि होने के कारण अनुवाद की शैली के संदर्भ में स्वीकार्य तथ्य यह है कि अन्य बातें समान रहने पर, अनुवादक का व्यक्तिगत शैली सौंदर्य और सर्जना-शक्ति, उसकी अनुवाद-साधना को श्रेष्ठ एवं किसी के अनुवाद कर्म को सामान्य बना देती है। वास्तविकता यह है कि उसी शैली को अनुवाद की सर्वोत्तम शैली कहा जा सकता है जिसमें मूल भाषा में संबद्ध विधा की शैली, मूल कृति की शैली, लक्ष्य भाषा में उस विधा की शैली, संभावित पाठकों के लिए उपयुक्त शैली तथा अनुवादक की अपनी शैली का सुंदर समन्वय हो।

अगर हम मूल की विषय-वस्तु अथवा विधा के आलोक में शैली के प्रश्न पर विचार करें तो यह कहा जा सकता है कि चूँकि विभिन्न प्रकार की विशिष्ट शैलियों के जरिए अभिव्यंजना के कारण किसी भी तरह के लेखन (सृजनात्मक एवं ज्ञानात्मक साहित्य लेखन) और विशेष तौर पर साहित्यिक रचनाओं में भावाभिव्यंजना की जाती है, इसलिए शैली के स्तर पर उनमें विशिष्टता पाई जाती है। ज्ञानात्मक साहित्य विषय-केंद्रित होता है और सृजनात्मक साहित्य कहानी, कविता, नाटक आदि विधा-केंद्रित। उनके अनुवाद के संदर्भ में शैली की लक्ष्य भाषा में प्रस्तुति का प्रश्न भी उठता है। आम तौर पर यह माना जाता है कि शैली का संबंध सृजनात्मक साहित्य से इतर साहित्य (अर्थात् ज्ञानात्मक साहित्य) से नहीं है, जबकि यह सही नहीं है। ज्ञान-विज्ञान या प्रौद्योगिकी साहित्य, प्रशासनिक

साहित्य या विधि साहित्य आदि में भी शैली का स्थान कम महत्वपूर्ण नहीं है। हालाँकि ज्ञानात्मक साहित्य की शैली सामान्यत: सपाट होती है, किंतु इतिहास और राजनीति विज्ञान जैसे कतिपय विषयों के पाठ शैलीगत सौंदर्य से भी युक्त हो सकते हैं। इसलिए अनुवादक को इनका अनुवाद करते समय एक सीमा तक शैली के संदर्भ में विशेष तौर पर ध्यान रखना पड़ता है। वैसे, इसमें कोई संदेह नहीं कि सृजनात्मक साहित्य की तुलना में ज्ञानात्मक साहित्य के अनुवाद में मूल की शैली को प्रतिस्थापित करना सरल है।

शैलीविज्ञान के अंतर्गत साहित्यिक कृति की संरचना (स्ट्रक्चर) और गठन (टेक्सचर) पर प्रकाश डालने के साथ-साथ अभिव्यक्ति के सौंदर्यपरक साधनों का विश्लेषण करते हुए उसमें अंतर्निहित साहित्यिकता का उद्घाटन किया जाता है। इसलिए इसे मूलत: 'सृजनात्मक साहित्य' के विवेचन एवं विश्लेषण से जोड़कर देखा जाता है। सृजनात्मक साहित्य विभिन्न विधाओं में लिखा जाता है। विधाओं के धरातल पर साहित्य के विभिन्न भेदों-उपभेदों के कारण उनके अनुवाद के शैलीपरक भेद का प्रश्न भी उठता है। कहानी-कविता हो, या फिर नाटक निबंध आदि, इनकी शैली की भिन्नता अनुवाद के संदर्भ में समनुरूप शैली भेद की अपेक्षा रखते हैं। अगर हम काव्यानुवाद के संदर्भ में अलंकार, छंद की बात करें या फिर लोकोक्तियाँ, मुहावरे, आँचलिकता या साँस्कृतिक आयामों के स्तर पर देखें तो मूल पाठ में इनका व्यवहार साहित्यानुवाद की शैलीपरक चुनौतियों को मुखरित करने का कारण बनता है। स्रोत सामग्री में व्यक्त भाव के साथ-साथ उसमें प्रयुक्त एक विशिष्ट प्रकार के 'अंदाज-ए-बयान' या अभिव्यक्ति सौंदर्य की व्यंजना की अनुभूति को लक्ष्य भाषा में अंतरित करना असाध्य वीणा को साधने जैसा है। ऐसे में अनुवादक के समक्ष विचारणीय प्रश्न यह होता है कि क्या अनुवाद में स्रोत भाषा के कथ्य को अंतरित किया जाए या फिर उसमें मूल की शैली का अंतरण/अनुवाद करना भी आवश्क है? चुनौती यह भी होती है कि मूल लेखक की शैली और उसके स्वरूप की लक्ष्य भाषा शैली में किस प्रकार पुनप्रस्तुति हो? वास्तव में शैली का प्रश्न बहु-आयामी है, जो गंभीर मंथन की अपेक्षा रखता है।

यहाँ मूलभूत प्रश्न यह उठता है कि क्या अनुवाद में मूल की शैली की पूर्ण अनुकृति तैयार करना संभव है। क्या मूल की शैली को लक्ष्य भाषा में हू-ब-हू प्रस्तुत किया जा सकता है? उसका अनुकरण किया जा सकता है? इन प्रश्नों पर विचार करते समय हमें जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात ध्यान में रखनी होगी, वह यह है कि शैली का अनुकरण नहीं किया जा सकता, यह अनुकरणातीत है। कहा जाता है कि पाश्चात्य कवि कीट्स ने मिल्टन की 'भव्य शैली' का अनुकरण करने का प्रयास किया, किंतु वे इसमें सफल नहीं हुए। एक अन्य उदाहरण शेक्सपीयर का भी दिया जा सकता है, जिन्होंने मार्लो की शैली में रचना करने का प्रयास किया था। लेकिन, इस प्रक्रिया में शेक्सपीयर एक अलग शैली का निष्पादन कर बैठे। अगर हम भारतीय संदर्भ में ही देखें तो कहा जा सकता है कि कतिपय लेखकों ने कथा-सम्राट प्रेमचंद की शैली का अनुकरण करने का प्रयास किया था, किंतु उनमें से किसी को भी सफलता नहीं मिल पाई थी।

वस्तुतः शैली, रचनाकार की अपनी विशेष होती है। इसलिए वह व्यक्ति–सापेक्ष है। जब किसी एक ही भाषा के रचनाकार की शैली का यदि उसी भाषा के अन्य रचनाकार के द्वारा अनुकरण करने का प्रयास किया जाए तो वह भी सफल नहीं हो पाता है। फिर अनुवाद तो किसी दूसरी भाषा से संबंधित होता है। इसमें जहाँ अनुवादक को भाषिक और सामाजिक–साँस्कृतिक तत्वों आदि की चुनौतियों का सामना करना पड़ता है, वहीं मूल पाठ की अभिव्यक्ति को सौंदर्य प्रदान करने वाले उपकरणों का लक्ष्य भाषा में अनुकरण उसके समक्ष समस्या को विकराल बना देता है। ऐसी स्थिति में क्या यह मान लेना चाहिए कि अनुवाद में मूल में अभिव्यंजित रचनाकार की शैली का अनुवाद में अनुकरण नहीं किया जा सकता?

अनुवाद के संदर्भ में हमारा पूर्व–अनुभव बोध बताता है कि आरंभ में जिस प्रकार अनुवाद के बारे में नकारात्मक धारणा बनी रही थी, किंतु समय ने इसके महत्व को स्थापित किया, इसे सर्वस्वीकार्य बनाया। बल्कि, आज तो स्थिति यह हो चुकी है कि समूचा विश्व अनुवाद की अपरिहार्य आवश्यकता करता है। इसी आधार पर हमें अनुवाद में शैली के अनुकरण के प्रश्न पर भी खुले मन से चिंतन करने की आवश्यकता है। वास्तविकता यह है कि कतिपय अनुवाद चिंतकों ने इस पर गंभीरतापूर्वक विचार किया है। इस संदर्भ में श्री आनंद प्रकाश खेमाणी का कहना सही है कि 'अनुवाद में काफी कुछ मूल शैली के निकट रहा जा सकता है।"[4]

किंतु इसे अनुवाद–कर्म की विडंबना ही कहा जाएगा कि यदि मूल रचना की भाषा शैली का अनुकरण करते हुए उसका लक्ष्य भाषा में यथावत अथवा उसके बहुत निकट रहने का प्रयास किया जाए तो अनूदित पाठ के माध्यम से बचना चाहिए। ऐसे में अनूदित पाठ को सहज, सुबोध और सजीव बनाने के लिए अनुवादक के लिए मूल से भिन्न और लक्ष्य भाषा की प्रकृति के अनुरूप शैली में अनुवाद करना ही उपयुक्त होगा।

वस्तुतः मूल कृति, विषय, अनूदित पाठ के पाठक, दर्शक अथवा श्रोता, अनुवाद–कर्म के प्रयोजन के साथ–साथ अनुवादक की व्यक्तिगत रुचि आदि पर निर्भरता के आलोक में यह स्वीकार किया जा सकता है कि अनुवाद की अनेकानेक शैलियाँ होती हैं और हो सकती हैं। सिद्धांततः अनुवादक की वह शैली सर्वोत्तम स्वीकार की जा सकती है जिसमें मूल भाषा पाठ से संबंधित विधा की शैली अथवा मूल कृति की शैली, लक्ष्य भाषा में उस विधा की शैली और उस भाषा के संभावित पाठकों आदि के लिए उपयुक्त शैली के साथ–साथ अनुवादक की अपनी शैली का सुंदर समन्वय परिलक्षित किया जा सके।

अनुवाद-प्रक्रिया में शैली: सामान्य सिद्धांत और स्थिति

अनुवाद के संदर्भ में शैली के बारे में सामान्य सिद्धांत यह अपेक्षा रखता है कि अनूदित पाठ में अभिव्यक्ति की शैली, मूल कृति की शैली की अनुगामिनी होनी चाहिए। इस अनुगमन के लिए

अनुवादक को चाहिए कि वह मूल में अंतर्निहित शैली को यथा साध्य अनुवाद में भी प्रस्तुत करने का प्रयास करे। हालाँकि अनुवाद कर्म की मूलभूत प्रकृति और कतिपय सीमाओं के कारण अनुवादक के लिए ऐसा करना न तो हमेशा सरल होता है और न ही बहुत अधिक संभव हो पाता है। उसका कारण यह है कि प्रत्येक भाषा की प्रकृति का कुछ अपना निजी वैशिष्ट्य होता है, जो अन्य भाषाओं से उसकी पृथकता का आधार निर्मित करता है। ऐसे में स्वाभाविक है कि जिस भाषा में जो वैशिष्ट्य है ही नहीं तो उसमें स्रोत भाषा के वैशिष्ट्य का अनुगमन अनुवादक किस प्रकार कर सकता है? उन विशिष्ट अभिलक्षणों को वह अनुवाद की भाषा में भला किस प्रकार ला सकता है? इस सत्य कथन को स्वीकार करने के बावजूद, स्वीकार्य तथ्य यही है कि अनुवादक को मूल कृति का अनुगमन करने का प्रयास तो करना ही चाहिए सीधे न सही, किसी और ढँग से सही। मगर अनुगमन का प्रयास किए बिना अनुवाद कर्म अधूरा ही रह जाएगा, वह सार्थक नहीं होगा।

कविता-कहानी या नाटक आदि साहित्य की विभिन्न विधाओं में रचित साहित्य का अनुवाद हो या फिर ज्ञानात्मक साहित्य का अनुवाद यह वास्तव में किन्हीं दो भाषाओं के बीच संपन्न होने वाली गतिविधि है। लेकिन, अपनी प्रकृति और गठन में कोई भी दो भाषाएँ पूरी तरह से एक समान नहीं होती हैं; उनके बीच कुछ न कुछ अंतर रहता ही है। अक्सर यह स्वीकार किया जाता है कि प्रत्येक भाषा में कुछ ऐसे तत्व अवश्य होते हैं जिन्हें दूसरी भाषा में अंतरित करने की प्रक्रिया में उसका मूल सौंदर्य आहत होता है। भाषाओं की यह स्थिति और उनमें व्याप्त अंतर की यह सार्वभौमिकता किसी भी अनुवादक के समक्ष चुनौतियाँ खड़ी करते हैं, सीमाएँ बन जाते हैं और उसे अननुवाद्यता की स्थिति तक पहुँचा देते हैं। अनुवादक को इनका सामना करते हुए, स्रोत भाषा के अर्थ (कथ्य) को लक्ष्य भाषा के यथा संभव निकट बनाए रखना पड़ता है; उससे दो भाषाओं के बीच कथ्य (अर्थ) के साथ-साथ शैली के स्तर पर निकटतम समतुल्यता (Equivalence) स्थापित करने का प्रयास किया जाना अपेक्षित होता है। अर्थ एवं शैली का समन्वित और समतुल्य संप्रेषण ही अनूदित रचना को गरिमा प्रदान करता है। इस तरह, अनुवादक अर्थ और शैली की समतुल्यता की तलाश और प्रतिस्थापना करते हुए और लक्ष्य भाषा की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए अनुवाद कर्म करता है, अनूदित पाठ को मूलवत प्रभावशाली बनाता है। इससे ही उसके द्वारा अनूदित पाठ अर्थ और शैली-दोनों स्तरों पर मूलनिष्ठ बन पाता है। किसी भी अनुवादक के लिए सामाजिक-साँस्कृतिक परिवेश, मूल अर्थ और शैली के रूप में साहित्य की सृजनात्मकता को अनूदित पाठ में अवतरित करना चुनौतीपूर्ण कार्य होता है। साहित्य के अनुवादक से स्रोत भाषा पाठ के साहित्यिक वैशिष्ट्य की लक्ष्य भाषा में अधिक से अधिक निर्वहण की अपेक्षा रहती है। उसे साहित्य की विभिन्न विधाओं की विशिष्टताओं को अनुवाद में बनाए रखना होता है। अनूदित पाठ की काफी हद तक मूल के साथ अनुरूपता के साथ-साथ उसमें सृजनात्मकता एवं लालित्य का समावेश साहित्यानुवाद की कसौटी है। इसलिए पाश्चात्य अनुवाद चिंतक एल. डब्लयू. टैंकोक ने फ्रांसीसी-अंग्रेजी अनुवादों की शैलीपरक समस्याओं पर विचार करते हुए 'Some Problems of Style in Translation From English' शीर्षक निबंध में अनुवादक के कार्य के दो

पक्ष स्वीकार किए हैं और कहा है कि पहले तो उसे मूल के अर्थ का ठीक-ठीक अनुवाद करना होता है और दूसरा उसे मूल की शैलीगत विशेषताओं को भी अनुवाद में उतारना है- 'His task is two-fold : First he must translate, that is to say communicate the exact meaning of his French text and secondly he has to give his English reader some impression of the flavour of that text, for no literary work is tasteless, lika a glass of distilled water' ।[5] इसी तरह से पाश्चात्य अनुवाद चिंतक सी, रोबिन ने भी 'The Lingustics of Translation' शीर्षक अपने निबंध में अनुवाद को उस प्रक्रिया के रूप में देखा है जिसके द्वारा लिखित अथवा मौखिक शब्द को एक भाषा से दूसरी भाषा में इस प्रकार अंतरित किया जाए कि उसका वही अर्थ निकले जो मूल भाषा में था। उनका कहना है कि इस तरह अनुवाद में दो तत्व निहित हैं: एक तो अर्थ या कथ्य का और दूसरा दोनों भाषाओं में उस अर्थ या कथ्य की अभिव्यक्ति-शैली का- 'Translation is a process by which a spoken or written utterance takes place in one language which is intended and presumed to convey the same meaning as a previously existing utterance in another language. It thus involves two distinct factors, a meaning or reference to some slice of reality, and the difference between two language in referring to that reality.'[6]

अनुवाद में सर्जनात्मकता और ललित्य के समावेश संबंधी इस कसौटी पर खरा उतरते हुए अनुवादक मूल के कथ्य को तो दूसरी भाषा में यथासंभव बनाए रखने का सार्थक प्रयास कर लेता है, किंतु शैली को भी बनाए रखना असंभव अथवा चुनौतीपूर्ण अवश्य है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्या शैली का अनुवाद संभव है?

हम जानते हैं कि जिस प्रकार, प्रत्येक व्यक्ति का स्वभाव स्वयं में विशिष्ट होता है तथा अन्य व्यक्तियों से भिन्न होता है, उसी प्रकार किसी भी भाषा-विशेष में समानता के बावजूद उसके लिए व्यक्त किए जाने वाले भाव की प्रस्तुति में प्रत्येक रचनाकार की शैली के स्तर पर भिन्नता नजर आती है। अनुवादक को अनुवाद करते समय एक भाषा की आत्मा अर्थात् 'अर्थ' और उसके शरीर यानी 'शैली' को दूसरी भाषा में प्रस्तुत करने जैसा दुष्कर कार्य करना होता है। उसे मूल के लेखक के मंतव्य को केवल आत्मसात ही नहीं करना पड़ता, बल्कि अपनी प्रतिभा-क्षमता के बल पर मूल की शैलीगत विशेषताओं को भी रूपांतरित करना होता है। इसके लिए अनुवादक, मूल भाव को अक्षुण्ण बनाए रखने के साथ-साथ मूल शैली को भी यथासाध्य अक्षुण्ण बनाए रखने का प्रयास करता है। लालाराम भिलवारे का कहना सही है कि 'श्रेष्ठ भाषांतरकार (अनुवादक) के लिए केवल यही पर्याप्त नहीं कि वह मूल लेखक के विचार तथा भावनाओं को व्यक्त करे बल्कि उसे लेखक की शैली, वाक्य रचना विधान का भी रूपांतर करना चाहिए।'[7] इस आधार पर, सैद्धांतिक दृष्टि से देखें तो अनुवाद में स्रोत भाषा की कृति के शैलीपरक वैशिष्ट्य को लक्ष्य भाषा पाठ में भी सुरक्षित रखते हुए मूल का अनुसरण करना चाहिए; मूल पाठ की शैली अपनाई जानी चाहिए। यहाँ न्यूमैन जैसे चिंतक के इस विचार का उल्लेख करना अनुचित न होगा कि 'मूल ग्रंथ की प्रत्येक विशेषता चाहे वह कितनी ही विदेशी अथवा

अटपटी क्यों न प्रतीत हो बड़ी सावधानी से ज्यों-त्यों अनुवाद में ले लेनी चाहिए जिससे पाठक को यह ध्यान बना रहे कि वह अनुवाद पढ़ रहा है, मूल ग्रंथ नहीं।[8]

उपर्युक्त चर्चा इस ओर संकेत करती है कि अनुवाद में अर्थ एवं शैली का समान रूप से महत्व है। दोनों में से किसी एक के प्रति लापरवाही अनुवाद को न्यून या हीन बनाती है। इसमें अर्थ का महत्व आत्मा के समान और शैली का महत्व शरीर के समान है। हम आत्मा के बिना शरीर के अस्तित्व की कल्पना नहीं कर सकते और सुचारु तथा सशक्त शरीर के बिना स्वस्थ आत्मा का निवास संभव नहीं हो सकता। जिस प्रकार सुदृढ़ शरीर में स्वस्थ आत्मा का निवास व्यक्तित्व को ऊँचाई प्रदान करता है उसी प्रकार अर्थ एवं शैली का समतुल्य संप्रेषण अनुवाद को गरिमा प्रदान करता है।[9]

यही कारण है कि मूल पाठ के अर्थ-भाव और शैली की विशेषताओं को अनुवाद करते समय दूसरी भाषा में यथासाध्य सुरक्षित रखने का प्रयास किया जाता है। अनुवादक को जहाँ अर्थ के स्तर पर मूलवत प्रति-अर्थ की प्रस्तुति करनी होती है, वहीं शैली को भी मूल के समान प्रभावशाली बनाए रखने की जरूरत होती है। यानी, अर्थ की दूसरी भाषा में मूलवत प्रतिस्थापना के साथ-साथ शैली को भी मूल के समान प्रभावशाली ढँग से प्रस्तुत करना अपेक्षित होता है। तभी अनूदित पाठ, अर्थ और शैली के धरातल पर मूलनिष्ठता की कसौटी पर खरा उतरेगा। लेकिन, मूलनिष्ठता को बनाए रखते हुए एक भाषा में कही गई बात को दूसरी भाषा में समान रूप से (समतुल्य) प्रस्तुत करना कठिन होता है क्योंकि दो भाषाओं की संरचना, प्रकृति, व्याकरण, शब्द संयोजक पर्याय, सामाजिक-साँस्कृतिक तत्व, और शैलीगत अंतर आदि कठिनाई पैदा करते हैं। इन संदर्भों में अनुवादक का गहन-गंभीर आलोचनात्मक चिंतन उसे इस संकट से उबारने में सहायक होता है।

अनुवाद सैद्धांतिकी यह बताती है कि यदि अनुवादक मूल की शैली का अनुकरण करने में सफल नहीं हो पाता है तो वह मूल की दूसरी भाषा में विकृत प्रस्तुति कहलाएगी। कारण, स्रोत भाषा में जो कुछ और जिस शैली में कहा गया है, उसे लक्ष्य भाषा में किंतु भिन्न शैली में कहने से मूल-सा (समतुल्य) भाव और प्रभाव नहीं आ पाएगा। इसलिए मूल रचना की शैली का लक्ष्य भाषा में संप्रेषण महत्वपूर्ण हो जाता है। इस संदर्भ में पाश्चात्य अनुवाद-चिंतक यूजीन ए. नाइडा का यह विचार ध्यान में रखना होगा कि अनुवाद का आशय स्रोत भाषा के संदेश का अर्थ और शैली के धरातल पर लक्ष्य भाषा में निकटतम सहज समतुल्यों द्वारा पुनसृजन करना है। 'Translating consists in producing in the receptor language, the closest natural equivalent to the message of the source language, first in meaning and secondly in style.'[10] अर्थ के साथ-साथ शैली को महत्वपूर्ण मानते हुए नाइडा यह भी स्वीकार करते हैं कि अर्थ को अनिवार्य रूप से प्राथमिकता देनी चाहिए.... हालाँकि विषय-वस्तु की तुलना में शैली गौण है, लेकिन फिर भी महत्वपूर्ण है- though style is secondary to content, it is nevertheless important.'[11]

Natural elostst equivalent (निकटतम सहज समतुल्य) की अवधारणा प्रस्तुत करके नाइडा यह बताते हैं कि अनुवाद मूल के निकट तो हो सकता है, परंतु उसमें मूल की सभी बारीकियाँ नहीं आ सकतीं। यही कारण है कि 'अर्थ' (अर्थात् विषय-वस्तु) और 'शैली', दोनों में से अर्थ की प्रधानता को स्वीकार किया जाता है और विषय-वस्तु की तुलना में शैली को गौण माना जाता है। लेकिन, इतना तो स्पष्ट ही है कि नाइडा ने अपने अनुवाद विषयक चिंतन में इस पक्ष पर विशेष बल दिया है कि समतुल्यता का पहला आधार 'अर्थ' होता है, लेकिन उसके लिए समतुल्यता का निर्धारण शैली के स्तर पर ही होता है। वस्तुतः अनुवाद प्रक्रिया में शैली का महत्वपूर्ण स्थान है।

अन्य भाषा की ज्ञान संपदा को लक्ष्य भाषा में अंतरित करने की प्रक्रिया में साहित्येतर अनुवाद (अर्थात् ज्ञानात्मक साहित्य के अनुवाद) में, मूल की शैलीपरक विशिष्टता को तो किसी सीमा तक बनाए रख पाना संभव हो जाता है, किंतु साहित्यानुवाद और विशेष तौर पर काव्यानुवाद में शैली का अनुवाद, एक महत्वपूर्ण किंतु चुनौतीपूर्ण कार्य है। कारण, ज्ञानात्मक साहित्य तथ्य-प्रधान होता है और सर्जनात्मक साहित्य शैली प्रधान। हालाँकि इसका अर्थ यह नहीं है कि शैली-प्रधान रचनाओं में तथ्य का नितांत अभाव होता है या तथ्य-प्रधान रचनाओं में शैली का। वास्तव में दोनों प्रकार की रचनाओं में शैली और तथ्य विद्यमान तो होते हैं, किंतु एक में तथ्य मुखरता लिए हुए होता है और शैली गौण तो दूसरे में शैली की प्रधानता होती है और तथ्य गौण रूप से उपस्थित होता है। वैसे मुख्य अंतर यही रहता है कि कलात्मक अभिव्यक्तिपरकता को दूसरी भाषा में लाना टेढ़ी खीर है। यहाँ हमें अनुवाद की अवधारणा को व्यक्त करने वाले ए.एच. स्मिथ के ये शब्द विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करते हैं कि अनुवाद करना यथासंभव अधिक से अधिक भाव की रक्षा करते हुए उसे दूसरी भाषा में बदल देना है क्योंकि अनुवाद में थोड़ा-बहुत मूल प्रभाव तो नष्ट हो ही जाता है। जिस भाषा में वस्तुपरक (अथवा वैज्ञानिक अनुभव) की अभिव्यक्ति होती है, उसमें यह प्रभाव सबसे कम नष्ट होता है और जिसमें जितनी आत्मपरक (अथवा कलात्मक) अनुभव की अभिव्यक्ति होती, उसमें यह उतना ही अधिक नष्ट होता है- 'To translate is to change into another language, retaining as much of the sense as one can, for some of the original effect is almost always lost, the least will be lost in the translation of language which represents more or less objective (or scientific experience), the most in translating language which represent experience of a more subjective (or artistic) kind."[12]

अब तक की गई चर्चा यह स्पष्ट संकेत करती है कि अनुवाद की प्रक्रिया, कोरी यांत्रिक प्रक्रिया नहीं है; उसके सौंदर्यशास्त्रीय एवं कलात्मक अभिव्यक्तिपरक पक्ष भी हैं। इसलिए अनुवादक को अनुवाद की प्रक्रिया के दौरान स्रोत भाषा पाठ के विश्लेषण में स्रोत भाषा-भाषियों की और लक्ष्य भाषा में अंतरण की प्रक्रिया में लक्ष्य भाषा-भाषियों की सौंदर्यपरक एवं कलात्मक अवधारणाओं को ध्यान में रखते हुए अनुवाद-कर्म करना पड़ता है। इस संदर्भ में भाषावैज्ञानिक दृष्टि से कहा जाए तो

अनुवादक को अर्थविज्ञान एवं प्रतीक विज्ञान का बोध एवं लक्ष्य भाषा के साथ उसका समन्वय करना होता है। सिर्फ इतना ही नहीं, अनुवादक को अपने इस पुनीत कर्म के दौरान सौंदर्यशास्त्र, शैलीविज्ञान एवं समाज भाषाविज्ञान के साथ सार्थक समन्वय स्थापित करने की दिशा में भी प्रयास करने की आवश्यकता होती है।

संदर्भः

1. शर्मा जगदीश, अक्टूबर-दिसंबर-2021, अनुवाद पत्रिका, (शैलीविज्ञान और अनुवाद), अंत 189, भारतीय अनुवाद परिषद, नई दिल्ली, पृ. 44
2. कुमार सुरेश, शैलीविज्ञान और प्रेमचंद की भाषा, पृ. 15-16
3. प्रब्लेमइ खुदोझिस्तविन्नावा पिरिवोदा (साहित्यिक अनुवाद की समस्याएँ), अंतोन पोपोविच, मास्को, 1979, पृ. 95 (Translation and Interpreting : Reader and Workbook) (अनुवाद एवं भाषांतरण : पाठ और अभ्यास) (अनुवाद और तुलनात्मक साहित्य - अभय मौर्य), संपा. प्रो. रवींद्र गर्गेश और प्रो. कृष्ण कुमार गोस्वामी, ओरिएंट लांगमैन, हैदराबाद, 2007, पृ. 175 से उद्धत)
4. अनुवाद कला : कुछ विचार, संपा. आनंद प्रकाश खेमाणी एवं वेद प्रकाश, पृ. 65
5. Aspects of Translation, A.H. Smith (Ed.), London, 1958, P. 29
6. Aspects of Translation, A.H. Smith (Ed.), London, 1958, P. 29
7. भिलवारे लालाराम, (अनुवाद के सिद्धांत), अनुवाद पत्रिका, अंक 2-3, भारतीय अनुवाद परिषद, नई दिल्ली, अंक 2-3, पृ. 88
8. भिलवारे लालाराम, (अनुवाद के सिद्धांत), अनुवाद पत्रिका, अंक 2-3, भारतीय अनुवाद परिषद, नई दिल्ली, अंक 2-3, पृ. 88
9. चव्हाण अर्जुन, अनुवाद चिंतन, पृ. 45

❑❑

मैथिलीशरण गुप्त के काव्य का शैलीगत वैशिष्ट्य

—सुमैय्या

सार

काव्य-सौष्ठव के दोनों पक्षों की दृष्टि से गुप्त जी का काव्य समृद्ध एवं प्रौढ़ है। उनके काव्य में भाव-पक्ष जितना सशक्त है, उतनी ही दक्षता के साथ उन्होंने शिल्प का विधान किया है। उनके काव्य की भाषा प्राय: सीधी-सादी और प्रसाद गुण से संपन्न है। वे काव्य-भाषा के रूप में खड़ी बोली के आरंभिक दौर के कवि हैं। इसलिए उनकी काव्य-भाषा गद्य की व्याकरणिक विशेषताओं को लिए हुए है। जिसमें उत्तरोत्तर विकास हुआ है। कवि की आरंभिक रचना 'रंग में भंग' से लेकर अंतिम कृति 'विष्णु-प्रिया' तक उनकी भाषा निरंतर उत्कर्षोन्मुख रही है। गुप्त जी स्वभाव से साधारण एवं प्रकृति प्रेमी रहे हैं। इसलिए उनका काव्य भी अनावश्यक चमत्कार प्रदर्शन से अछूता रहा है। उन्होंने भावाभिव्ययक्ति के सहज रूप को ही अपनाया है। अत: स्वाभाविक ही उनकी रचनाओं में प्राय: अभिधात्मक शैली ही दिखाई देती है। कवि ने मुहावरें, लोकोक्तियों एवं सूक्तियों का सटीक प्रयोग किया है। जिसने उनकी शैली को और अधिक सशक्त बनाया है। भाव, भाषा-शैली, काव्य-गुण, अलंकार, छंद आदि पर उनका असाधारण एवं संप्रेषणीयता ने गुप्त जी की शैली को विशिष्टता प्रदान की है।

बीज शब्द: *भाषा शैली, काव्य गुण, अलंकार, छंद, प्रबंधात्मक शैली, विवरणात्मक शैली, उपदेशात्मक शैली, नाट्यात्मक शैली, गीति शैली, भावात्मक शैली, अभिव्यंजक शैली, मिश्र शैली।*

मैथिलीशरण गुप्त आधुनिक हिंदी काव्य जगत में राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक चेतना के प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं। उनका संपूर्ण रचना संसार तद्युगीन राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक विकास चेतना के प्रत्येक चरण से प्रभाव ग्रहण करते हुए भारतीय राष्ट्रवाद को अपना योगदान देता रहा। उनकी रचनाओं में अभिव्यक्त विविध पक्षों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि भारतीय राष्ट्रवाद

को स्वरूप प्रदान करने एवं उनके विकास में गुप्त जी का साहित्य अत्यंत महत्वपूर्ण है। गुप्त जी ने अपने काव्य रचनाओं के माध्यम से भारत के गौरवशाली अतीत एवं भारतीय संस्कृति के पक्षों को सामने रखकर भारतीय जन-मानस में भारतीयता के प्रति श्रद्धा भाव जगाने एवं हीनता की भावना को दूर करने का महत्वपूर्ण कार्य किया। उनका संपूर्ण काव्य राष्ट्रीय भावना से मंडित है। उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से संपूर्ण राष्ट्र का प्रतिनिधित्व किया। भारतेंदु और उनके सहयोगी साहित्यकारों द्वारा राष्ट्रीयता की जो लहर उद्भूत हुई वह द्विवेदी युग में आकर और प्रखर तथा पुष्ट हुई। गुप्त जी इस काव्य धारा के अग्रणी कवि कहे जाते हैं।

काव्य का क्षेत्र बहुत विस्तृत है, जिसमें जीवन के सभी पक्षों का अंकन होता है। उसमें हृदय के आंतरिक एवं बाह्य पक्षों का उद्घाटन होता है। जो कवि अपनी अंतरात्मा की आवाज सुनकर सृजन के लिए प्रेरित होता है उसे ही सच्चा कवि माना जाता है। कवि उन्हीं भावनाओं को व्यक्त करता है, जो साश्वत होती है। ये भावनाएँ सार्वभौमिक, सार्वदेशिक एवं सर्वकालिक होती हैं। कवि संवेदना के माध्यम से इन्हें आत्मसात कर अपना बनाता है, फिर कविता में अभिव्यक्त करता है। भावों को सर्वग्राह्य बनाने के लिए कवि भाषा, बिंब, प्रतीक, छंद, अलंकार इत्यादि का सहारा लेता है। इनका कलात्मक प्रयोग ही शिल्प-विधान कहलाता है। कविता में जब भावों के साथ शिल्प पक्ष स्वाभाविक एवं सहज रूप में आता है तो कवि की कविताई सार्थक बन पड़ती है। काव्य में इन दोनों ही पक्षों, यथा भाव पक्ष एवं शिल्प पक्ष-का समान महत्व होता है। भाव पक्ष काव्य का मूल है तो शिल्प पक्ष उनको अभिव्यक्त करने का माध्यम। उच्च भावों को जितने अच्छे एवं सुंदर ढँग से अभिव्यक्त किया जाएगा उतना ही वह पाठकों एवं श्रोताओं के लिए ग्राह्य होंगे। इसलिए भावों की उदात्ता के साथ की शिल्प का भी उचित प्रयोग कविता की आवश्यकता है। केदारनाथ अग्रवाल ने कथ्य एवं शिल्प के सार्थक एवं नैसर्गिक समन्वय को ही कविता के लिए उचित माना है। उनका मानना है कि "प्रत्येक कविता का एक मापदंड खोजा जा सकता है। वह इसलिए कि जो कथ्य उस कविता में व्यक्त हुआ है, वह कथ्य किस हद तक भरपूर समर्थ शिल्प के साथ व्यक्त हुआ है। यदि वह कथ्य वैसे समर्थ शिल्प के साथ उस कविता में नहीं व्यक्त हुआ तो यह कहना पड़ेगा कि वह कविता अच्छी कविता नहीं।"[1] काव्य शिल्प के संबंध में अपना मत प्रस्तुत करते हुए डॉ. प्रकाशचन्द्र भट्ट लिखते हैं- "कविता में शिल्प का विशेष महत्व होता है। शिल्प का संबंध पूरी तरह कला से है। भाव, अनुभूति, संवेदना, विचार आदि का शिल्पगान कर कविता का शृंगार करता है। काव्य को कला और शिल्प की कसौटी पर परख कर उसकी श्रेष्ठता की जाँच की जाती है। शिल्प के माध्यम से कवि अपनी अभिव्यक्ति को प्रखर बनाता है और कविता को एक रूप देता है।"[2] डॉ. हरिचरण शर्मा का कथन भी अवलोकनीय है- "शिल्प से तात्पर्य काव्य के अभिव्यक्ति पक्ष से है। कवि का अनुभव जब बाहर आने के लिए छटपटाता है तो उसकी पहली और सर्वोपरि आवश्यकता भाषा होती है। भाषा वह शक्ति है जो कवि के अनुभूत को शब्दों का परिधान पहनाती है। भाषा अभिव्यक्ति की प्राणशक्ति है तो प्रतीक कवि की अनुभूतियों को

संक्षेप में कहने के लिए अपनाए गए संकेत हैं। रहे अलंकार, वे अभिव्यंजना को अधिकाधिक संवेघ बनाकर काव्योत्कर्ष तक पहुँचाने वाले माध्यम हैं। बिंब-सृजन के मूल में कवि कल्पना का विशेष हाथ रहता है। कवि की प्राथमिक शक्ति कल्पना है कल्पना का प्रमुख कार्य बिंब-सृजन है। बिंब-सृजन के सहारे कवि रसानुभूति कराता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि कवि यदि अपनी अनुभूतियों को दूसरे तक सजीव रूप में प्रस्तुत करना चाहता है तो उसकी कविता बिंबों में बंधकर आती है। इस प्रकार निश्चय ही अनुभूति और अभिव्यक्ति का उचित समीकरण काव्य की अभिधा को सार्थक प्रदान करता है।"[3]

शैली अभिव्यक्ति की भंगिमा का नाम है। उसमें रचनाकार का निजी व्यक्तित्व दिखाई पड़ता है। अनुभूत विषय-वस्तु की अभिव्यक्ति को सुंदर एवं प्रभावपूर्ण बनाने वाले तरीके को शैली के रूप में अभिहित किया जाता है। व्यवहारिक जीवन में शैली अत्यंत महत्वपूर्ण है। हमारे दैनिक व्यवहार, बोलचाल, पारिवारिक जीवन, अपरिचितों व परिचितों से वार्तालाप, अध्ययन, अध्यापन्न सार्वजनिक क्षेत्र कुल मिलाकर मानवीय जीवन के समग्र क्षेत्रों में शैली उपादेय है। हम अपनी विनम्रता के द्वारा ही दूसरों को सहज ही आकर्षित करते हैं और भाषा माधुर्य एवं वाकपटुता से व्यक्तिगत एवं सामाजिक हितों का संपादन कर पाते हैं, अतएवं जीवन के सभी क्षेत्रों में शैली का महत्व है। डॉ. भोलानाथ तिवारी शैली का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखते हैं- "शैली भाषिक अभिव्यक्ति का वह विशिष्ट ढँग है जो प्रयोक्ता के व्यक्तित्व तथा विषय से संबद्ध होता है तथा जो विचलन, चयन, संयोजन, समनांतरता एवं अप्रस्तुत विधान आदि सामान्य अभिव्यक्ति के लिए असुलभ उपकरणों पर आधृत होता है।"[4] डॉ. रवींद्रनाथ श्रीवास्तव लिखते हैं- "शैली एक ओर भाषा तथा साहित्य को जोड़ने वाली संकल्पना है, जिसके संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि शैली सहेतुक भाषिक अभिव्यक्ति है, और दूसरी ओर साहित्य और कला को जोड़ने वाली संकल्पना है, जिसके संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि- शैली कलात्मक सौंदर्य की अभिव्यक्ति भाषिक संरचना है।"[5] वास्तव में किसी भी साहित्य की अभिव्यक्ति के स्वरूप को शैली कहा जाता है। कवि जिन उपादानों से शब्दों द्वारा अपने मन के भावों को व्यक्त करता है उन सभी का सामूहिक रूप एक विशिष्ट रूप धारण करता है तो वह शैली कहलाती है। अभिव्यक्ति कौशल ही शैली है चाहे वह सरल ढँग की हो या आलंकारिक। संक्षेप में भावों के व्यक्त होने पर रचना का जो स्थिर रूप होता है उसी को शैली कहते हैं।

मैथिलीशरण गुप्त मुख्यत: प्रबंधकार हैं और प्रबंधकार होते हुए भी वे गीतकार एवं नाट्यकार भी हैं। अपनी संवेदनाओं को व्यक्त करने के लिए उन्होंने अपने काव्यों में एक रचना शैली का नहीं, बल्कि विविध शैलियों का आधार लिया है। अत: गुप्त जी ने विभिन्न काव्य-रूपों में अपनी रचनाएँ की हैं यथा- प्रबंधात्मक शैली, विवरणात्मक या वर्णनात्मक, उपदेशात्मक, भावात्मक, नाट्यात्मक, गीति, आत्माभिव्यंजक, सूक्ति, प्रतीकात्मक, मिश्र आदि शैलियों का प्रयोग कर अपने रचनाक्रम को सफल बनाया है।

(1) प्रबंधात्मक शैली

भारतीय आचार्यों ने काव्य को मुख्य रूप से दो कोटियों में विभाजित किया है- प्रबंध और मुक्तक। प्रबंध में पूर्वापर-संबंध होने के कारण एक भाव-शृंखला रहती है। सभी छंद एक-दूसरे से परस्पर जुड़े रहते हैं। प्रबंध काव्य के भीतर महाकाव्य और खंडकाव्य दोनों ही आ जाते हैं। महाकाव्य में जीवन को समग्ररूप में चित्रित करने का प्रयत्न रहता है। अत: खंडकाव्य उसके एक पटल को प्रकाशित करता है। अत: खंडकाव्य में जीवन की एक घटना या परिस्थिति चित्रित की जाती है।"[6] कवि विषय तथा सुविधानुसार काव्य शैलियों को अपनाता है। इसमें बहुत कुछ योग तदयुगीन परिस्थिति एवं युग चेतना का भी रहता है। जैसे भारतेंदु मंडल के कवियों ने प्राय: मुक्तक शैली का ही प्रयोग किया जबकि द्विवेदी मंडल के कवियों ने प्रबंध शैली को प्रतिष्ठित किया। मुक्तक भी लिखे जाते रहे, लेकिन वे गौण हो गए। वे भी बहुत कुछ इतिवृत्तात्मक एवं प्रबंधात्मक की प्रवृत्ति से प्रभावित हो गए।[7]

मैथिलीशरण गुप्त द्विवेदी जी के सिद्धांतों को काव्य में प्रयुक्त करने वाले प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं। शैलियों के निर्वाचन में वे प्रयुक्त करने वाले प्रतिनिधि कवि हैं। शैलियों के निर्वाचन में गुप्त जी ने विविधता दिखाई है, लेकिन प्रधानता प्रबंधात्मक इतिवृत्तमय शैली की ही है। उनके अधिकांश प्रसिद्ध काव्य इसी शैली में लिखे गए हैं। प्रबंध शैली के दो प्रकार हैं- एक खंड प्रबंध जो खंडकाव्य कहलाता है; दूसरा महाप्रबंध, जो महाकाव्य कहलाता है। गुप्त जी ने दोनों ही शैलियों को अपनाकर उत्कृष्ट काव्यों का सृजन किया है। 'रंग में भंग', 'जयद्रथ-वध', 'नहुष', 'सिद्धराज', 'त्रिपथगा', 'हिडिंबा', 'पंचवटी' आदि काव्य खंडकाव्य शैली में लिखे गए हैं। 'साकेत' तथा 'जयभारत' महा-प्रबंध अथवा महाकाव्य की श्रेणी में रखे जाते हैं।

प्रबंध में प्रमुख कथा काव्य के आदि से अंत तक क्रमबद्ध रूप में चलती है। कथा का क्रम बीच में कहीं टूटता नहीं है। गौण कथाएँ बीच-बीच में सहायक बनकर आती हैं। इसमें कवि विभिन्न घटनाओं के आधार पर चरित्र सृष्टि करता है तथा साथ ही कथा को आगे बढ़ाता है। गुप्त जी ने चरित्र प्रधान काव्य बहुतायात में लिखे हैं। जिनके लिए प्रबंध शैली ही उपयुक्त है। 'साकेत' काव्य में समग्र रामकथा के सृजन के लिए महा-प्रबंध शैली को अपनाया है तो वहीं उसकी एक घटना अथवा एक अंग को प्रस्तुत करने के लिए 'पंचवटी' में लघु प्रबंध शैली को।

"स्वामि-सहित सीता ने नंदन माना सघन-गहन कानन भी,
उर्मिला बधू ने किया उन्हीं के हितार्थ निज उपवन भी!
अपनी अतुलित कुल में प्रकट हुआ था कलंक जो काला,
वह उस कुल-बाला ने अश्रु-सलिल से समस्त धो डाला।

भूल अवधि-सुध प्रिय से कहती जगती हुई कभी-आओ!
किंतु कभी सोती तो उठती वह चौंक बोलकर 'जाओ!'"[8]
(साकेत)

(2) विवरणात्मक या वर्णनात्मक शैली

विवरण शैली से आशय है- किसी घटना, वस्तु, व्यक्ति स्थान अथवा विषय-वस्तु का यथावत हू-ब-हू प्रस्तुति। इस शैली में वक्ता या लेखक द्‌वारा वर्णित घटना या विषय की प्रस्तुति ही प्रमुख होती है, वह जो देखता या सुनता है वैसा ही वर्णन करता है। गुप्त जी ने यह शैली अपनायी। इसका प्रयोग कवि ने उदबोधन के लिए किया है। अत: उन्होंने वर्णन शैली को अनेक रूपों में व्यक्त किया है जैसे- प्रसंग वर्णन, प्रकृति वर्णन, रूप वर्णन, शब्द चित्र वर्णन आदि। उन्होंने अपनी इस पद्‌धति को भावबोधक, शील निरूपक तथा जीवनादर्श निदर्शक बनाया है। 'भारत-भारती' तथा 'हिंदू' काव्य का प्रणयन इसी शैली में हुआ है। यथा-

"उन पूर्वजों की कीर्ति का वर्णन अतीव अपार है,
गाते नहीं उनके हमीं गुण गा रहा संसार है।
वे धर्म पर करते निछावर तृण-समान शरीर थे,
उनसे वही गंभीर थे, वर वीर थे, ध्रुव धीर थे॥"[9]

(3) उपदेशात्मक शैली

जिसमें कुछ उपदेश निहित हो वह उपदेशात्मक शैली कहलाती है। गुप्त जी ने इस शैली का प्रयोग राष्ट्रीय जागरण और सांस्कृतिक जागरण के प्रसार के लिए किया। उपदेशात्मक शैली के दो रूप होते हैं- (क) साधारण शैली (ख) अलंकृत शैली। जहाँ कवि अपने सहज भावों से उपदेश प्रस्तुत करते हैं वह साधारण शैली के अंतर्गत आती है और जहाँ विशेष साहित्यिक अभिव्यक्ति के माध्यम से उपदेश दिए जाते हैं वहाँ अलंकृत शैली होती है। गुप्त जी में सरस अभिव्यक्ति की क्षमता तो थी ही और कविता के लिए वे इसे एक आवश्यक तत्व स्वीकार करते थे किंतु, 'कला के लिए कला' के समर्थक वे कभी नहीं रहे। वास्तविक कला कभी उद्‌देश्यहीन नहीं हो सकती। बेशक कला मनोरंजन करती है और उसमें अभिव्यक्ति का कौशल भी देखा जा सकता है, लेकिन वह कला जो हमारी मार्ग-दर्शक न बन सके, हमें रास्ता न दिखा सके, हमें हमारे मूल्य के प्रति सचेत न कर सके यह निरर्थक है। गुप्त जी कहते हैं-

"केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए,
उसमें उचित उपदेश का भी कर्म होना चाहिए।"[10]

(4) नाट्यात्मक शैली

नाट्यात्मक-शैली को ही संवाद शैली कहा जाता है। संवाद नाटकों का प्राण होता है। काव्य में भी इस शैली का विशेष महत्व है। रचनाकार संवादों में नाटकीयता लाने के लिए नाट्यशैली का प्रयोग करता है। मैथिलीशरण गुप्त ने अपने काव्यों में नाटकीयता का प्रयोग किया है। वर्ण्य विषय को अति रोचक बनाने के लिए स्थान-स्थान पर अभिनयात्मक पद्धति व्यवहृत की है। गुप्त जी ने 'पंचवटी', 'यशोधरा', 'साकेत', 'विष्णुप्रिया' और 'अनघ' आदि काव्यों में इस पद्धति का अनुसरण किया है। साकेत में राम-रावण, उर्मिला-लक्ष्मण, भरत-कैकयी आदि के संवाद और 'जयभारत' काव्य में कुंती और कर्ण के संवाद का मार्मिक चित्रण है। 'साकेत' काव्य में राम-रावण संवाद प्रयुत्तर कौशल का उत्कृष्ट रूप दिखाई देता है-

"गरजा राक्षस-ठहर, ठहर तापस, मैं आया,
जी कर तेरा शोक-मात्र लक्ष्मण ने पाया!
रावण: पंचानन के गुहा-द्वार पर रक्षा किसकी ?
मैं तो हूँ विख्यात दशानन, सुध कर इसकी!"
"हंस बोले प्रभु-"तभी द्विगुण पशुता है तुझमें,
राम :ह्रतूने ही आखेट-रंग उपजाया मुझमें!"[11]

(5) गीति शैली

"कवि की वैयक्तिक भावधारा और अनुभूति को उसके अनुरूप लयात्मक अभिव्यक्ति देने के विधान को गीतिकाव्य कहते हैं।"[15] कवि मैथिलीशरण गुप्त ने उत्कृष्ट गीतों और पदों की रचना की है। उनके वैयक्तिक भाव-भूमि पर आधारित अनेक प्रभावी गीत मिलते हैं। जिसमें राग-विराग, आशा-निराशा, विरह-मिलन आदि से संबंधित गीत हमें 'साकेत', 'यशोधरा', और 'विष्णु प्रिया' आदि काव्यों में देखने को मिल जाते हैं। इसके उदाहरण प्रस्तुत हैं-

"अब जो प्रियतम को पाऊँ!
तो इच्छा है, उन चरणों की रज मैं आप रमाऊँ!
आप अवधि बन सकूँ कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ,
मैं अपने को आप मिटाकर, जाकर उनको लाऊँ।"[12]

(6) भावात्मक शैली

भावात्मक शैली में वस्तु तथ्य से भिन्न भाव-सत्य की अभिव्यक्ति होती है। भौतिक सृष्टि में मन अनुकूल- प्रतिकूल परिस्थितियों का इंद्रजाल है, परंतु साहित्यकार उनमें कुछ विशिष्ट क्षणों की मन: स्थिति, वातावरण, भावना, कल्पना, सुख-दुख आदि को लेकर अनेक भावों को एकत्रित करता

है। यह शैली काव्य में भावगत प्रवाह का सृजन करती है। इसके वर्ण्य विषय में एक प्रकार की भावात्मकता आ जाती है। इस शैली में पात्रों के मन की भावनाओं को व्यक्त किया जाता है।

मैथिलीशरण गुप्त राष्ट्रीय-जागरण के कवि माने जाते हैं। उनके काव्य में मानवीय राग ओतप्रोत है। उन्होंने विषय निरूपण और वृत्त वर्णन दोनों में भावात्मक शैली का ही प्रयोग किया है। कवि ने वृत्त वर्णन के साथ-साथ प्रत्युत प्रिय को प्रस्थानोघत देखकर प्रिया की मानसिक प्रतिक्रिया केवल अनुभावों के द्वारा व्यंजित की है। उदाहरण द्रष्टव्य है-

"विष्णुप्रिया स्तब्ध हुई सुनकर पहले।
भ्रांत-सी उन्हीं की ओर कुछ क्षण देखा की।
काँपी फिर और गिरी पैरों पर उनके,
बिगड़ लता-सी गति-रोधकर लिपटी।
रोई वह किंतु बोल पाई नहीं कुछ भी,
आँसू वह निकले, वचन नहीं निकले।"[13]

(7) आत्माभिव्यंजक शैली

अपने विचारों को अभिव्यक्त करना मन की बात या अनुभव को प्रकट करना ही आत्माभिव्यंजक शैली कहलाती है। कवि गुप्तजी ने 'मंगलघट', 'झंकार', 'साकेत' और 'द्वापर' आदि काव्यों में आत्माभिव्यंजक शैली का प्रयोग किया है। 'साकेत' काव्य के 'नवम सर्ग' में उर्मिला का आत्मोद्गार इसी पद्धति का उदाहरण है। कवि ने अपने विचारों और अनुभवों को इसी शैली में व्यवहृत किया है। उदाहरण प्रस्तुत हैं-

"उषा-सी आई थी जग में, संध्या-सी क्या समाऊँ!
श्रांत पवन-से वे आवें, मैं सुरभि-समान समाऊँ!
मेरा रोदन मचल रहा है, कहता है, कुछ गाऊँ!
उधर गान कहता है, रोना आवे तो मैं आऊँ!
इधर अनल है और उधर जल, हाय! किधर मैं जाऊँ?
प्रबल वाष्प, फट जाए न यह घट, कह तो हाहा खाऊँ?"[14]

(8) सूक्ति शैली

जिसमें जीवन के व्यवहारिक पक्ष से संबंधित किसी सिद्धांत, नीति अथवा अनुभव सिद्ध तथ्य की पुष्टि की जाती है, वह सूक्ति शैली कहलाती है। डॉ. रामस्वरूप शास्त्री 'रसिकेश' के शब्दों में- "शब्द चमत्कार या अर्थ चमत्कार आदि से उत्पन्न उक्ति को सूक्ति कहते हैं...सूक्ति जहाँ चमत्कार के कारण कर्णहर होती है, वहाँ अर्थ चमत्कार आदि के कारण मस्तिष्क को भी प्रभावित करती है।"[15] मैथिलीशरण गुप्त ने कहीं-कहीं मुक्तक पद्यों की रचना की है, जिसमें वचन-वक्रता, अलंकार-योजना, नीति-कथन आदि के द्वारा चमत्कृत बनाया है। उन्होंने मुक्तक रचनाएँ सूक्ति के रूप में रची हैं।

गुप्तजी ने सूक्ति शैली का प्रयोग मुख्यत: 'साकेत', 'यशोधरा' और 'विष्णु प्रिया' आदि प्रबंध काव्यों में किया है। इसके उदाहरण प्रस्तुत हैं–

"अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।"[16]
"अबला के भय से भाग गए वे उससे भी निर्बल निकले,
नारी निकले तो असती है, नर यति कहाकर चल निकले।"[17]

(9) प्रतीकात्मक शैली

इस शैली के दो रूप होते हैं– कलात्मक तथा भावात्मक। कलात्मक रूप में कला संबंधी प्रतीकों का प्रयोग किया जाता है। वहाँ पर प्रतीक विधान का उद्देश्य केवल कलात्मक सौंदर्य उत्पन्न करना होता है। भावात्मक रूप में प्रतीक भी प्रेम, घृणा, क्रोध आदि विविध भावों को व्यक्त करने वाले होते हैं। मैथिलीशरण गुप्त ने प्रतीकों के माध्यम से मनुष्य की सूक्ष्म प्रवृत्तियों का चित्रण किया है। उन्होंने अपने काव्यों में मानसिक संघर्ष को व्यक्त करने के लिए प्रतीक शैली की सहायता ली है। उर्मिला का विरह वर्णन प्रतीकात्मक शैली का उदाहरण है। यथा–

"लिखकर लोहित लेख, डूब गया है दिन अहा!
व्योम–सिंधु सखि देख, तारक–बुदबुद दे रहा!
दीपक–संग शलभ भी जला न सखि, जीत सत्व से तम को,
क्या देखना दिखाना क्या करना है प्रकाश का हमको?"[18]

(10) मिश्र शैली

यह काव्य रचना की वह शैली है जिसमें कवि नाटक, गीति, गद्य–पद्य, प्रबंध, प्रतीक आदि शैलियों में किन्हीं दो या दो से अधिक शैलियों को अपना कर काव्य रचना करता है। गुप्त जी ने यशोधरा काव्य की रचना मिश्रित शैली में की है।

निष्कर्ष: उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि गुप्त जी ने काव्य विषय की विविधता के अनुसार अनेक शैलियों का प्रयोग कुशलता से किया है। वे मुख्यत: प्रबंधकार माने जाते हैं, किन्तु जिस भी शैली को उन्होंने अपनाया है उसमें वे सफल सिद्ध हुए हैं। प्राय: सभी शैलियों में उनका व्यक्तित्व स्पष्ट झलकता है। काव्य–सौष्ठव के दोनों पक्षों की दृष्टि से गुप्त जी का काव्य समृद्ध एवं प्रौढ़ है। उनके काव्य में भाव–पक्ष जितना सशक्त है, उतनी की दक्षता के साथ उन्होंने शिल्प का विधान किया है। उनके काव्य की भाषा प्राय: सीधी–सादी और प्रसाद गुण से संपन्न है। वे काव्य–भाषा के रूप में खड़ी बोली के आरंभिक दौर के कवि हैं। इसलिए उनकी काव्य–भाषा गद्य की व्याकरणिक विशेषताओं को लिए हुए है। जिसमें उत्तरोत्तर विकास हुआ है। कवि की आरंभिक रचना 'रंग में भंग' से लेकर अंतिम कृति 'विष्णु–प्रिया' तक उनकी भाषा निरंतर उत्कर्षोन्मुख रही है।

गुप्त जी स्वभाव से साधारण एवं प्रकृति प्रेमी रहे हैं। इसलिए उनका काव्य भी अनावश्यक चमत्कार प्रदर्शन से अछूता रहा है। उन्होंने भावाभिव्ययक्ति के सहज रूप को ही अपनाया है। अतः स्वाभाविक ही उनकी रचनाओं में प्रायः अभिधात्मक शैली ही दिखाई देती है। कवि ने मुहावरें, लोकोक्तियों एवं सूक्तियों का सटीक प्रयोग किया है। जिसने उनकी शैली को और अधिक सशक्त बनाया है। भाव, भाषा-शैली, काव्य-गुण, अलंकार, छंद आदि पर उनका असाधारण एवं संप्रेषणीयता ने गुप्त जी की शैली को विशिष्टता प्रदान की है।

संदर्भः

1. अग्रवाल, केदारनाथ, प्रथम संस्करण-2010, विवेक-विवेचन, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, पृ. 123
2. भट्ट, प्रकाशचन्द्र, म. प्र. सन् 1974, नागार्जुन-जीवन और साहित्य, सेवासदन प्रकाशन, रामपुरा, पृ. 113
3. शर्मा, हरिचरण, नए प्रतिनिधि कवि, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, प्रथम संस्करण, सन् 1979, पृ. 38
6. तिवारी, भोलानाथ, शैलीगत, शब्दकार, दिल्ली प्रकाशन सन् 1977, पृ. 21
7. श्रीवास्तव, रवींद्रनाथ, संस्करण-1980, संरचनात्मक शैलीविज्ञा, आलेख प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 29
8. अवस्थी, मोहन, प्रथम संस्करण 1962, आधुनिक हिंदी काव्य-शिल्प, हिंदी परिषद प्रकाशन, विश्वविद्यालय, प्रयाग, पृ. 87
9. गुप्त, गणपतिचन्द्र, बारहवाँ संस्करण- 2018, हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, द्वितीय खंड, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 43
10. गुप्त, मैथिलीशरण, संस्करण- सम्वत 2048, साकेत (नवम सर्ग), साहित्य सदन, झाँसी, वि. पृ. 133
11. गुप्त, मैथिलीशरण, चालीसवाँ संस्करण-2002, भारत-भारती, साहित्य सदन, झाँसी, पृ. 15
12. वही, पृ. 181
13. गुप्त, मैथिलीशरण, साकेत (द्वादश सर्ग), पृ. 240
14. गुप्त, मैथिलीशरण, साकेत (नवम सर्ग), पृ. 169
15. गुप्त, मैथिलीशरण, संस्करण तृतीयावृत्ति 2027, विष्णुप्रिया, साहित्य सदन, झांसी, पृ. 09
16. गुप्त, मैथिलीशरण, साकेत (नवम सर्ग), पृ. 169
17. शास्त्री, रामस्वरूप 'रसिकेश', हिंदी में नीति काव्य का विकास, पृ. 18
18. गुप्त, मैथिलीशरण, संस्करण चतुर्थावृत्ति 1997, यशोधरा, साहित्य सदन, झाँसी,ह्रपृ. 15
19. गुप्त, मैथिलीशरण, विष्णुप्रिया, पृ. 33
20. गुप्त, मैथिलीशरण, साकेत (नवम सर्ग), पृ. 142

❑❑

हिंदी और ओड़िआ भाषा के मध्य अंतर–संबंध (उपन्यास के संदर्भ में)

—सागरिका महांति

सार

माँ जिस तरह अपने आँचल में संतानों को समेटकर रखती है, उसी तरह भाषा विविध संस्कृति, संप्रदाय एवं समाज को एक–दूसरे के नजदीक लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। आज के वैश्वीकरण के दौर में विविध संस्कृति, खान–पान, रहन–सहन के तौर–तरीके में दूसरी संस्कृतियाँ, रहन–सहन सम्मिश्रण हो रहा है, ऐसे में भाषा कैसे अछूत रह सकती है। भारत बहुभाषी देश होने के कारण यहाँ प्रयुक्त भाषाओं के मध्य अंतर संबंध स्थापन होना स्वाभाविक है। क्योंकि हिंदी और ओड़िआ एक ही भाषा परिवार से हैं, अतः साहित्य और भाषा के कई स्तरों पर इनमें समानताएँ हैं एवं प्रयोग की दृष्टि से विविधताएँ भी हैं। भारतीय साहित्य की संकल्पना के संदर्भ में इसका अध्ययन अत्यंत आवश्यक है एवं प्रस्तुत शोध आलेख इस दिशा में एक शोध परक प्रयास है।

बीज शब्दः *अंतर संबंध, भाषाई प्रभाव, व्याकरणिक व्यतिरेक, शब्द भंडार, उपन्यास, अनुवाद, भौगोलिक परिवेश, सांस्कृतिक एकता*

प्रस्तावनाः संसार में मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ प्राणी होने का एक मुख्य तत्व है उसकी 'भाषा'। भाषा के कारण ही पशु और मनुष्य के बीच सम्यक भेद किया जा सकता है। भाषा ही वह प्रथम सीढ़ी है जिसे अतिक्रम कर मनुष्य 'मनुष्यत्व' को प्राप्त करता है एवं वह मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा करके उसका पालन हेतु प्रयास करता है। कोई भी मनुष्येतर प्राणी ऐसा करने में असमर्थ है। मनुष्य अपने आसपास के परिवेश एवं समाज से ही भाषा सीखता है एवं यह भी सत्य है कि भाषा के सहयोग से ही समाज का निर्माण होता है। भाषा के संदर्भ में जहाँ तक समाज का प्रश्न है तो यह अवश्य कहा जा सकता है कि वे दोनों एक–दूसरे के परिपूरक हैं। भाषा के बिना समाज और

समाज के बिना भाषा की कल्पना नहीं की जा सकती। क्योंकि भाषा का व्यवहार समाज में व्यक्ति के द्‌वारा होता है और प्रत्येक व्यक्ति समुदाय का अलग-अलग समाज होता है तो उनकी भाषा भी अलग-अलग होती है।

भारत विविध संस्कृति, संप्रदाय एवं धर्मों का देश है एवं इनमें समन्वय स्थापन का काम करती है भाषा। भाषा एवं साहित्य ही वह सेतु है जिसके माध्यम से 'विविधता में एकता' स्थापित हुई है। इनके अध्ययन से ही अलग-अलग समाज के बीच पारस्परिक भावात्मक अभिव्यक्ति आसान हो जाती है एवं सांस्कृतिक, सामाजिक, भौगोलिक आदि परिवेश की समानताएँ और भिन्नताएँ स्पष्ट होती हैं। ऐसी स्थिति में विविध भाषा एवं संस्कृति एक-दूसरे को प्रभावित करना स्वाभाविक है। उनके मध्य स्थापित अंतर संबंध से राष्ट्रीय एकता अखंड बनी रहती है। वर्तमान में जहाँ वैश्विकरण के चलते समग्र विश्व निकट आने लगा है, वहीं हिंदी भाषा व साहित्य को केंद्र में रखकर भारत के विविध क्षेत्रीय भाषा व साहित्य का अध्ययन करके भारतीय संस्कृति की ऐतिह्य एवं गौरव को पुन: प्रतिष्ठा करना मानवीयता के संदर्भ में अत्यंत आवश्यक बन गया है।

हिंदी और उड़िया भाषा के मध्य अंतर संबंध: भारतीय प्राचीन भाषाओं में से हिंदी और उड़िया दोनों ही प्रमुख भाषा हैं। दरअसल भारतीय संस्कृति के निर्माण और विकास में मध्य प्रदेश (हिंदी) और ओड़िशा (उड़िया) की भूमिका महत्वपूर्ण है। "ओड़िशा ने मध्य प्रदेश की सभ्यता, संस्कृति और दार्शनिक चिंतन को संरक्षण दिया और अपनी विशिष्ट जातीय संस्कृति से उसका संबद्‌र्धन करते हुए एक अखंड भारतीय संस्कृति का निर्माण भी किया। एशिया की विभिन्न संस्कृतियों और सभ्यता के मिलन से जिस समन्वयात्मक संस्कृति को आत्मसात कर जिस जातीय संस्कृति का विकास हुआ, उसको वाणी देने वाली भाषा उड़िया ही है।"[1] हिंदी भाषा मध्य भारत एवं उत्तर भारत तथा पश्चिमी भारत में स्थित हिंदी प्रदेशों में बोली जाती है जबकि उड़िया भाषा प्राचीन 'ओड्र राष्ट्र' जो वर्तमान के ओड़िशा प्रदेश की भाषा है। भरत मुनि के 'नाट्‌यशास्त्र' में 'ओड्र भाषा' का उल्लेख मिलता है। ओड़िशा एक मात्र ऐसा प्रदेश है, जिसकी सीमाएँ हिंदी भाषा से घिरी हुई हैं, इसके उत्तर में भोजपुरी भाषा का क्षेत्र है, दक्षिण में द्रविड़ भाषा तेलुगु का क्षेत्र है, पश्चिम में मालवी एवं छतीसगढ़ी का क्षेत्र है। अत: उड़िया भाषा पर हिंदी का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है।

हिंदी और उड़िया दोनों ही भारतीय आर्य भाषा परिवार के हैं। जहाँ तक इनकी उत्पत्ति की बात की जाए तो, हिंदी भाषा की उत्पत्ति शौरशेनी और अर्द्‌ध मागधी अपभ्रंश से हुई है एवं उड़िया भाषा की उत्पत्ति मागधी अपभ्रंश से हुई है। "डॉ. ग्रियर्सन हिंदी को भीतरी उपशाखा तथा उड़िया को पूर्वी समुदाय की भाषा के रूप में वर्गीकृत किया है।"[2] "डॉ. सुनीति चटर्जी ने हिंदी को मध्य देशीय तथा उड़िया को प्राच्य समूह में रखा।"[3] तुलनात्मक रूप से अध्ययन किया जाए तो दोनों भाषा की लिपि में भी काफी समानता दिखाई देती है। देवनागरी लिपि की तरह उड़िया लिपि का जन्म भी ब्राह्मी लिपि से ही हुआ है, अंतर बस इतना है कि देवनागरी की शिरोरेखा उड़िया में वर्तुलाकार हो जाती है।

इसका मुख्य कारण यह है कि उड़िया भाषा को पहले के समय में ताड़ के पत्र पर लिखा जाता था एवं लिखते वक्त ताड़ पत्र फटने की डर से सीधी रेखा के स्थान पर वर्तुल रेखा दी जाती थी। डॉ. संतोष सूद के अनुसार "दोनों लिपियों में केवल आकृतिगत साम्य ही नहीं वर्णमाला का क्रम, वर्गीकरण, ध्वनिमूलक साम्य भी है। उड़िया में दक्षिण नागरी का प्रयोग भी दिखाई पड़ता है। चाहे अन्य भाषाओं का उड़िया भाषा पर प्रभाव हो तो भी उड़िया और नागरी लिपि में घनिष्ठ संबंध है।"[4] व्याकरण की दृष्टि से भी दोनों भाषाओं में थोड़ी-बहुत समानता दिखाई देती है एवं प्रयोग की दृष्टि से विविधताएँ भी हैं।

वाक्य विन्यासः हिंदी कर्ता + कर्म-उड़िया कर्ता + कर्म + क्रिया = राम विद्यालय जा रहा है। राम विद्यालायकु जाऊछि। (ରାମ ବିଦ୍ୟାଳୟକୁ ଯାଉଛି।)

नकारात्मक शब्द का प्रयोगः हिंदी में नकारात्मक शब्द का प्रयोग क्रिया से पहले होता है = राम विद्यालय नहीं जा रहा है।

उड़िया में नकारात्मक शब्द का प्रयोग क्रिया के बाद होता है= राम विद्यालायकु जाऊ नाहीं। (ବିଦ୍ୟାଳୟକୁ ଯାଉ ନାହିଁ।)

लिंग और संज्ञा- इसमें भी हिंदी और उड़िया में पर्याप्त समानता है, परंतु जिस तरह हिंदी में लिंग के आधार पर क्रिया परिवर्तित होती है, उस तरह उड़िया में नहीं है।

हिंदीः राम नाचता है। राधा नाचती है।

उड़ियाः राम नाचुछि। (ରାମ ନାଚୁଛି) राधा नाचुछि। (ରାଧା ନାଚୁଛି)।

वचनः वचन को लेकर हिंदी उड़िया में कुछ हद तक असमानता दिखाई देती है। हिंदी में जहाँ बहुवचन को सूचित करने वाले एकाधिक शब्दों (ए, एँ, ओ, ओं, या, याँ, गण, वर्ग, वृंद) का प्रयोग किया जाता है, वहीं उड़िया में किसी भी एकवचन शब्द के साथ 'माने' का प्रयोग करके उसे बहुवचन में बदला जाता है और 'अनेक', 'बहुत' आदि बहुवचन सूचित शब्दों का भी व्यवहार किया जाता है।

लड़का - लड़के, पुअ पुअमाने (ପୁଅ – ପୁଅ ମାନେ)

बहन - बहनें, भउणी - भउणीमाने (ଭଉଣୀ – ଭଉଣୀ ମାନେ)

चिड़िया - चिड़ियाँ, पक्षी पक्षीमाने (ପକ୍ଷୀ – ପକ୍ଷୀ ମାନେ)

रात - रातें, राति - अनेक राति (ରାତି – ଅନେକ ରାତି)

किसान - किसान वर्ग, चाषि - चाषिमाने (ଚାଷୀ – ଚାଷୀ ମାନେ)

कारकः हिंदी में कारक चिह्न या विभक्ति शब्द के बाद अलग लिखा जाता है, जबकि उड़िया में इसे शब्द के साथ ही जोड़कर लिखा जाता है। परंतु हिंदी में सर्वनाम के साथ विभक्ति को जोड़कर लिखा जाता है, जो कि उड़िया से प्रभावित है।

हिंदी – यह किताब राम का है।

उड़िया – एइटा रामर बहि। (ଏଇଟା ରାମର ବହି)

हिंदी – पेड़ से पत्ता गिरा।

ओड़िया – गछरू पत्र खसिला। (ଗଛରୁ ପତ୍ର ଖସିଲା)

हिंदी – यह उसका घर है।

उड़िया – एइटा ताहार घर अटे। (ଏଇଟା ତାହାର ଘର ଅଟେ)

शब्द भंडारः हिंदी का शब्द भंडार अरबी और फ़ारसी तथा विदेशी शब्दों से समृद्ध है, जबकि उड़िया शब्द भंडार पर इनका प्रभाव न के बराबर है। इसका मुख्य कारण यह है कि हिंदी भाषी क्षेत्र पर ही विदेशी आक्रांताओं का काफी प्रभाव रहा है, जबकि ओड़िशा तटीय क्षेत्र होने के कारण इनका सीधा प्रभाव इस पर नहीं पड़ा। उड़िया शब्द भंडार पर संस्कृत का गहरा प्रभाव है। "उड़िया भाषा पर फ़ारसी-अरबी का प्रभाव बहुत कम ही पड़ा है। सभी भाषाओं की अपेक्षा यह संस्कृत स्रोत के अधिक निकट है। ध्वनि की दृष्टि से भी यह संस्कृत के अधिक निकट है। संस्कृत का 'राम' शब्द उड़िया में भी 'राम' ही है। इसके कुछ क्रिया पदों में भी प्राचीन संस्कृत अथवा वैदिक संस्कृत के ये रूप बराबर मिलते हैं।"[5] बोल-चाल की उड़िया भाषा में भी संस्कृत के शुद्ध शब्दों का प्रयोग होता है या फिर इतने कम परिवर्तित हुए होते हैं कि आसानी से पहचाने जाते हैं।

हिंदी और उड़िया भाषा की जननी संस्कृत है और ये दोनों एक ही परिवार के होने के कारण इनके शब्द भंडार में पर्याप्त समानता है और ये दोनों एक सीमा तक एक-दूसरे को प्रभावित भी करती हैं। दोनों भाषाओं में तत्सम शब्दों का बहुल प्रयोग हुआ है, परंतु इनके तद्भव रूप में असमानता दिखाई देती है।

तत्सम	**तद्भव (हिंदी)**	**तद्भव (उड़िया)**
अग्नि	आग	निआँ (ନିଆଁ)
द्वार	दरवाजा	दुआर (ଦୁଆର)
सर्प	साँप	साप (ସାପ)
स्वर्ण	सोना	सुना (ସୁନା)

जिस तरह उड़िया में हिंदी के शब्दों का बिना कोई तोड़-मरोड़ अपने ही प्रचलित रूप में व्यवहार होता है, उसी तरह हिंदी में भी उड़िया के कुछ शब्दों का प्रचालन होता आ रहा है।

उड़िया – दरकार (ଦରକାର), छवि (ଛବି), खालि (ଖାଲି), सबुज (ସବୁଜ) इत्यादि शब्दों का प्रयोग हिंदी में भी संदर्भानुसार होता है।

हिंदी – लूंगी, ताला, बाबा, बक–बक, जूता, कदली, काँच, खूँटी, मूल, उचित इत्यादि शब्दों का प्रयोग उड़िया में भी संदर्भानुसार होता है।

हिंदी और उड़िया उपन्यास के मध्य अंतर संबंध: आरंभिक दौर में जब साहित्य का उद्देश्य मनोरंजन मात्र था, तब उपन्यास का कोई विशेष महत्व नहीं था, परंतु क्रमानुसार युग परिवर्तनों से उपन्यास ही लोक–जीवन की संस्कृति को सर्वाधिक संरक्षण देने में समर्थ सिद्ध हुआ और इस कारण प्रत्येक भारतीय भाषाओं में उपन्यास साहित्य ने दूसरी साहित्यिक विधाओं की तुलना में लोकप्रियता हासिल की। मिनाक्षी मुखर्जी के अनुसार आरंभिक भारतीय उपन्यासों में मुख्य तीन प्रकार की प्रवृतियाँ देखने को मिलती हैं। जहाँ एक ओर समाज सुधारक तथा उपदेशात्मक प्रवृत्ति बलबत्तर रही, वहीं दूसरी ओर नैतिकता को प्राधान्यता दी गयी। तीसरी प्रवृत्ति उपन्यासों में तत्कालीन समाज में यथार्थता का चित्रण के रूप में विद्यमान रहा। प्रथम प्रवृत्ति का चित्रण हिंदी उपन्यास 'परीक्षा गुरु' में हम देख सकते हैं। नैतिकता का दर्शन हमें बंगला के बंकिमचंद्र के उपन्यासों में तथा हिंदी के देवकीनंदन खत्री जी के उपन्यासों में होता है। भारतीय साहित्य के इतिहास में तीसरी प्रवृत्ति का सर्वप्रथम चित्रण उड़िया के फकीर मोहन सेनापति जी के उपन्यासों में हुआ है एवं आगे जाकर यह प्रवृत्ति हिंदी साहित्य के उपन्यासकार प्रेमचंद जी के उपन्यासों में फलने–फूलने लगा और इस प्रवृत्ति का निर्वाह आगे भी हुआ। जिस 'यथार्थता' एवं 'लोक जीवन' को उपन्यास की आत्मा मानी जाती है, उसका सूत्रपात उड़िया साहित्य से हुआ है और इसका प्रभाव न केवल हिंदी अपितु दूसरी भारतीय भाषाओं के साहित्य पर भी हुआ है। शम्भुनाथ मिश्र के शब्दों में, "भारत का अपना जातीय उपन्यास भारत की जड़ों से ही उत्पन्न होगा जो कि मूलतः किसान से जुड़ी हुई है। इसीलिए भारतीय उपन्यास की चर्चा करते हुए हम बार–बार 'गोदान' (1936) 'मैला आँचल' (1954) और 'छ माण आठ गूंठ' (1902) (फकीर मोहन सेनापति) की ओर जाते हैं।"[6]

हिंदी और उड़िया उपन्यास का रचना काल लगभग एक सामान है। जहाँ हिंदी का प्रथम उपन्यास 'परीक्षा गुरु' सन् 1882 में प्रकाशित हुआ, वहीं उड़िया का प्रथम उपन्यास 'पद्ममाली' सन् 1888 में और तत्कालीन दोनों भिन्न भाषाई समाज की स्थिति भी एक सी रही है। हाँ, इतना अवश्य है कि हिंदी उपन्यास के पाठकों की तादाद उड़िया के तुलना में काफी अधिक थी एवं प्रकाशन की दृष्टि से भी हिंदी उपन्यास की स्थिति अपेक्षाकृत अच्छी रही। फिर भी दोनों के मध्य स्थापित सामाजिक एवं सांस्कृतिक संबंध सुदृढ़ रहा है और आगे जाकर यह तकनीकी विकास, मुद्रण, उन्नत प्रकाशन तथा अनुवाद के कारण और सुदृढ़ बन पाया है। हिंदी और उड़िया उपन्यासों का अनुवाद अपनी आरंभिक दौर में मंथर गति का रहा और इसका मुख्य कारण यह है कि ओड़िशा में हिंदी पढ़ने वालों की संख्या उस समय न के बराबर ही थी, और हिंदी प्रदेशों में उड़िया भाषा को जानने तथा समझने की स्पृहा

किसी में नहीं थी। स्वतंत्रता के बाद ओड़िशा में हिंदी भाषा का प्रचार-प्रसार सरकारी एवं गैर सरकारी रूप से हुआ। सरकारी नीति के अनुसार समस्त विद्यालयों में हिंदी भाषा की पढ़ाई अनिवार्य रूप से हुई। दूसरी तरफ ओड़िशा के अधिकांश विद्वान उच्च शिक्षा एवं नौकरी के लिए ओड़िशा के बहार गए एवं हिंदी के संस्पर्श में आने लगे। इस तरह ओड़िशा के लोग हिंदी भाषा से परिचित हुए एवं हिंदी साहित्य के प्रति उनकी रुचि भी बढ़ने लगी, जिससे हिंदी के उत्कृष्ट उपन्यासों का उड़िया में अनुवाद हुआ। वहीं दूसरी ओर साहित्य अकादमी ने भारतीय साहित्य को सार्वजनिक करने के उद्देश्य से विभिन्न भारतीय भाषा के उच्च कोटि एवं पुरस्कृत उपन्यासों का हिंदी में अनुवाद करने की महान योजना बनाई, जिससे उड़िया के भी उपन्यास हिंदी में अनुवाद होने लगे। इससे प्रभावित होकर उड़िया भाषी लोग जिन्होंने हिंदी का अध्ययन किया था, वे भी उड़िया उपन्यासों का हिंदी में अनुवाद करके उड़िया साहित्य की प्रतिष्ठा बनाने में सराहनीय कार्य किए।

हिंदी उपन्यासों का उड़िया में अनुवादः हजारी प्रसाद द्विवेदी का 'बाणभट्ट की आत्मकथा' का अनुवाद उपेंद्र दास, वृंदावनलाल वर्मा का 'मृगनयनी' का अनुवाद प. नीलमणि मिश्र, प्रेमचंद के उपन्यास 'गोदान', 'गबन', 'प्रेमाश्रम', का अनुवाद गोलक बिहारी धल, फणीश्वर नाथ 'रेणु' का 'मैला आँचल' का अनुवाद गोलक बिहारी धल, भगवती चरण वर्मा का 'भूले-बिसरे चित्र' का अनुवाद गोलक बिहारी धल, भगवती चरण वर्मा कृत 'चित्रलेखा' का अनुवाद श्रीनिवास उद्गाता ने किया। इस तरह, अज्ञेय, आचार्य चतुरसेन शास्त्री, श्रीलाल शुक्ल और अन्य प्रमुख साहित्यकारों के उपन्यास उड़िया में अनुवाद होने से लेखक एवं पाठक वर्ग दोनों ही उपकृत हुए एवं समय के साथ-साथ वैश्वीकारण के चलते 21वीं सदी में यह कार्य क्षिप्र गति में हो रहा है।

उड़िया उपन्यासों का हिंदी में अनुवादः फकीर मोहन सेनापति का 'छ माण आठ गूँठ' एवं 'लछमा' का अनुवाद युगजीत नवलपुरी, गोपीनाथ महांति का 'अमृतर संतान' का अनुवाद युगजीत नवलपुरी, कान्हू चरण महांति कृत 'का' का अनुवाद चित्त रंजन दास, कालिंदी चरण पाणिग्राही का 'भाटिर मणिष' का अनुवाद सरस्वती पाणिग्राही, उपन्यास 'कणामामुँ' का अनुवाद तारिणी चरण दास, हरेकृष्ण महताब का 'प्रतिभा' का अनुवाद अनसूया प्रसाद पाठक, गोविंद दास का 'अमावस्या का चाँद' का अनुवाद दिनेश माली, जगदीश महांति का 'निज-निज कुरुक्षेत्र' का अनुवाद दिनेश माली ने किया। प्रतिभा राय, सरोजिनी साहू, इति सामंत, बिजयिनी दास, सुस्मिता बागची, पारमिता शतपथी, मनोज दास एवं अन्य प्रमुख साहित्यकारों के उपन्यास हिंदी में अनुदित हो रहे हैं।

दोनों भाषाओं के साहित्य के मध्य सामाजिक-सांस्कृतिक संबंधः उपन्यास समाज एवं जीवन का दर्पण है, अतः उपन्यासकारों के द्वारा इसमें सामाजिक रीति-नियम, परंपरा, रूढ़ियों का स्पष्ट छवि प्रस्तुत की जाती है। हिंदी एवं उड़िया भाषा दोनों ही भिन्न-भिन्न भौगोलिक परिवेश के होते हुए भी इनके समाज एवं सामाजिक व्यवस्था में समानता दिखाई देती है। दोनों क्षेत्र में परंपराओं का निर्वाह बड़ी कट्टरता से किया जाता है। परिवार में आदर्श, पारिवारिक नियम, वंश-बुनियादी की

सागरिका महांति

प्रतिष्ठा आदि का चित्रण हम दोनों भाषाओं के उपन्यासों में सामान रूप से देख सकते हैं। हिंदी उपन्यासों में जहाँ ग्रामीण परिवेश का वास्तव चित्रण देखने को मिलता है, इसकी तुलना में उड़िया उपन्यासों में आदिवासी जीवन एवं परिवेश की यथार्थ छवि देखी जा सकती है। इस दिशा में उड़िया साहित्य जहाँ प्रेमचंद से प्रेरित है, वहीं हिंदी साहित्य गोपीनाथ महांति से प्रेरित है और इन दोनों का मिलित प्रभाव का दर्शन हमें हिंदी एवं उड़िया के आंचलिक उपन्यासों में होता है। ओड़िशा में खान-पान, पहनावा, चाल-चलन, शादी-विवाह, जन्म-मृत्यु पर जिन लौकिक एवं शास्त्रीय नियमों का प्रचलन है, हिंदी प्रदेश में भी इनमें से कुछ रीति-रिवाज मिलते हैं। जातिप्रथा की दर्दनाक तस्वीर हमें हिंदी उपन्यासों में अनायास देखने को मिल जाती है जबकि उड़िया में इससे अपेक्षाकृत कम ही चित्रण हुआ है।

जिस तरह सामाजिक रीति-रिवाजों के मध्य हिंदी एवं उड़िया दोनों क्षेत्र में समानता है, उसी तरह पर्व-त्यौहार में भी कुछ रीति-रिवाज मिलते हैं और कुछ नहीं। हिंदी क्षेत्र में 'तीज' के नाम से जो त्यौहार मनाई जाती हैं, ओड़िशा में वह 'रज' के नाम से पालन किया जाता है। दोनों ही वर्षा ऋतु के प्रारंभ में बड़े हर्षोल्लास के साथ मनाई जाती है। दीवाली के अवसर पर हिंदी प्रदेशों में लक्ष्मी, सरस्वती और गणेश भगवान की पूजा की जाती है, परंतु ओड़िशा में इस दिन मुख्य रूप से श्राद्ध की जाती है, पितृ पक्ष में बुलाए गए पितर जनों को विदाई दी जाती है और दोनों ही क्षेत्रों में दिया जलाने का रिवाज है। ओड़िशा की 'जगन्नाथ संस्कृति' के प्रचार-प्रसार में भी उड़िया उपन्यास साहित्य का अतुलनीय योगदान है। सुरेंद्र महांति के उपन्यास 'नीलशैल', 'निलाद्री विजय' इस दिशा में अपना उल्लेखनीय स्थान रखता है।

नारी जीवन का चित्रण भी दोनों भाषाओं के उपन्यासों में हुआ है। अगर तुलनात्मक स्तर पर बात की जाए तो हिंदी की अपेक्षा उड़िया उपन्यासों में नारी ज्यादा शोषित, निष्पेषित एवं प्रताड़ित हुई है। हिंदी उपन्यासों में नारी की 'सबला' छवि के चित्रण से प्रभावित होकर उड़िया के उपन्यासकारों ने भी बहुत समय के बाद नारी के सशक्त रूप को अपने उपन्यासों में स्थान दिया है। फिर भी कहीं-न-कहीं इनके नारी चरित्र स्वतंत्र जीवन जीने में हो या कोई सामाजिक रीति नियमों का विरोध करने में डरती हुई दिखाई देती है। धीरे-धीरे महिला लेखन के कारण उड़िया उपन्यासों में नारी की 'सबला' रूप का चित्रण होने लगा। इस दिशा में प्रतिभा राय एवं सरोजिनी साहू का नाम सम्मान के साथ लिया जाता है।

निष्कर्ष: निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि हिंदी और उड़िया साहित्य की आंतरिक धारा एक है। "दोनों भाषा भिन्न-भिन्न हैं किंतु दोनों की सांस्कृतिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि एक है। दोनों की पहचान और व्यक्तित्व तथा वैशिष्ट्य अलग-अलग होने पर भी दोनों में काफी समानताएँ हैं। साहित्य की मात्रा और परिणाम में अंतर हो सकता है, प्रकार एवं कोटि का नहीं।"[7] इसका मुख्य कारण यह है कि राजनीतिक दृष्टिकोण से ओड़िशा प्रदेश में विकास की गति धीमी एवं विलंब रहा तथा

दूसरी भारतीय साहित्य की तुलना में उड़िया साहित्य में आधुनिकता का प्रवेश देरी से होने के कारण वह अपेक्षाकृत कम उन्नत है और साहित्यकारों की संख्या भी कम है। किंतु विगत 30-35 सालों से साहित्यकारों की प्रचेष्टा से एवं पाठकों की रुचि में वृद्धि के कारण उच्च कोटि के उड़िया साहित्य का सृजन हो रहा है, जिससे उड़िया साहित्य भंडार के साथ-साथ भारतीय साहित्य भी समृद्धि की ओर निरंतर विकास कर रहा है।

संदर्भः

1. भाटिया, कैलाश चंद्र, 1996, भारतीय भाषाएँ और हिंदी अनुवाद समस्या-समाधान, दिल्लीः वाणी प्रकाशन
2. ग्रियर्सन, जार्ज अब्राहम, भारत का भाषा सर्वेक्षण- अनुवाद खंड-1, (अनु.), तिवारी, उदयनारायण, लखनऊ : प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, 1967, पृ. 235
3. चटर्जी, सुनीति, 1936, द ओरिजिन एंड डेवलपमेंट ऑफ बंगाली लैंग्वेज, कोलकाता : यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ. 6
4. सूद, संतोष, 1936, हिंदी और उड़िया का पारस्परिक संबंध, (सं.) कुमार, विनोद, हिंदी और क्षेत्रीय भाषाओं का पारस्परिक संबंध, दिल्ली : श्री कृष्ण साहित्य सदन, पृ. 33
5. वही, पृ. 33
6. मिश्र, शंभुनाथ, उपन्यास की भारतीयता और हिंदी आलोचना, हिंदी समय http://www.hindisamay.com/content/105391/1
7. त्रिपाठी, रामछबीला, हिंदी और भारतीय भाषा साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन, दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 2027, पृ. 248

❑❑

"महाराष्ट्र की धनगर जनजाति : संस्कार विधियाँ और लोकगीत"

—योगेश कोरटकर

सार

लोकगीत और घुमंतू जनजातियों का गहरा संबंध रहा है। इनके लोकगीतों ने महाराष्ट्र प्रदेश के लोक साहित्य को संपन्न बनाया है। लोकसाहित्य की दृष्टि से घुमंतू जनजाति का मौखिक साहित्य अत्यंत महत्वपूर्ण है। इनके लोकगीतों में समाज का जैसा सजीव, सटीक एवं स्वाभाविक चित्रण देखने को मिलता है, वैसा अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। इनके मौखिक साहित्य में स्थानिय इतिहास, समाज विधियाँ की स्थिति, समाज की दयनियता, रूढीपरंपरा, अंधविश्वास तथा ऐसे अनेक लोकोपयोगी संकेत मिलते हैं। इनके लोकगीतों के माध्यम से इस समाज की आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक अवस्थाओं का पता चलता है। इनके लोकगीतों में विविध संस्कार, त्यौहार, धार्मिक विधियाँ, संस्कृति, रीति-रिवाज तथा अन्य का चित्रण देखने को मिलता है। इनके लोकगीत मराठी, हिंदी, अपनी बोलीभाषा तथा सभी भाषाओं के मिश्रण से बने होते हैं। इन लोकगीतों में जीवन स्पर्शी अनुभव एवं अपनेपन का लगाव होता है, साथ ही देवी-देवता, भक्ति, अंधश्रद्धा, त्यौहार का चित्रण दिखाई देता है। घुमंतू समाज में अनेक जनजाति एवं उनके तत्सम रूप है। इनमें से मुख्य रूप से धनगर जाति का नाम आता है।

हिंदू धर्म के अंतर्गत जो संस्कार विधियाँ संपन्न होती हैं इसके विपरीत धनगर जाति में या घुमंतू जनजातियों में यह संस्कार विधियाँ संपन्न होती हैं। हालाँकि बहुत सारी धनगर एवं अन्य जातियाँ हिंदू धर्म के अंतर्गत तो आती हैं परंतु इनके रहन-सहन, खान-पान, वेशभूषा, अलंकार, तीज उत्सव, संस्कार विधियाँ अन्य हिंदू समाज से अलग हैं। इनकी अपनी एक संस्कृति एवं लोक साहित्य है जो अन्य समाज को अपनी ओर आकर्षित करता है।

बीज शब्दः *लोकगीत, जनजति, साहित्य, आर्थिक, सामाजिक, मौखिक परंपरा, पारंपरिक लोकगीत, लोकभाषा,*

लोकगीत और घुमंतू जनजातियों का गहरा संबंध रहा है। इनके लोकगीतों ने महाराष्ट्र प्रदेश के लोक साहित्य को संपन्न बनाया है। लोकसाहित्य की दृष्टि से घुमंतू जनजाति का मौखिक साहित्य अत्यंत महत्वपूर्ण है। इनके लोकगीतों में समाज का जैसा सजीव, सटीक एवं स्वाभाविक चित्रण देखने को मिलता है, वैसा अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। इनके मौखिक साहित्य में स्थानीय इतिहास, समाज की स्थिति, समाज की दयनियता, रूढ़ीपरंपरा, अंधविश्वास तथा ऐसे अनेक लोकोपयोगी संकेत मिलते हैं। इनके लोकगीतों के माध्यम से इस समाज की आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक अवस्थाओं का पता चलता है। इनके लोकगीतों में विविध संस्कार, त्यौहार, धार्मिक विधियाँ, संस्कृति, रीति-रिवाज तथा अन्य का चित्रण देखने को मिलता है। इनके लोकगीत मराठी, हिंदी, अपनी बोलीभाषा तथा सभी भाषाओं के मिश्रण से बने होते हैं। इन लोकगीतों में जीवन स्पर्शी अनुभव एवं अपनेपन का लगाव होता है, साथ ही देवी-देवता, भक्ति, अंधश्रद्धा, त्यौहार का चित्रण दिखाई देता है। घुमंतू समाज में अनेक जनजाति एवं उनके तत्सम रूप हैं। इनमें से मुख्य रूप से धनगर जाति का नाम आता है।

धनगर जनजाति के लोकगीतों का वर्गीकरण

'लोकगीत' यह धनगर जाति की पहचान है। 'सुंबरान', 'हुईक', 'गजेनृत्य', संस्कार गीत, विधि गीत, त्योहार गीत इनके सबसे महत्वपूर्ण गीत रहे हैं। लोकगीत इस जाति का एक महत्वपूर्ण अंग है। हिंदू धर्म के अनुरुप धनगरों में पर्व, उत्सव एवं संस्कार संपन्न किए जाते हैं। वर्ष के अधिकतर माह वे घुमक्कड़ जीवन व्यतित करते हैं। इसलिए इनके अधिकतर पर्व एवं विवाह वर्षा ऋतु में ही संपन्न होते हैं। दैनंदिन जीवन में श्रम से उत्पन्न होने वाले शारीरिक वेदनाओं को कम करने के लिए वे अनेक श्रमगीत गाते हैं। दीवाली, होली, नवरात्री आदि पर्व पर वे गीतों का गान करते हैं। इनके लोकगीतों में सुंबरान, हुईक, गजेनृत्य महत्वपूर्ण है। यह जाति अपने जीवन में विधि-विधान को विशेष महत्व देती है। इनके विधि के अंतर्गत जितने भी संस्कार, पर्व, उत्सव, हो इन सभी सुअवसरों पर उनके द्वारा अनेक गीतों का गायन होता है।

संस्कार संबंधी लोकगीत

धनगर जाति में हिंदू धर्म की सभी मान्यताएँ एवं संस्कार मिलते हैं। हर जाति एवं समाज में संस्कारों को महत्व दिया जाता है। प्राणों से भी बढ़कर लोग अपने संस्कारों को मानते हैं। यह उससे चाहे भी तो पीठ नहीं फेर सकते। इन संस्कारों के संबंधों में डॉ. सतेंद्र कहते हैं कि, "जन्म के पहले से लेकर मृत्यु के बाद तक इस देश के लोगों का जीवन संस्कारों से संबंधित है। जिसमें गर्भधान, पुसवन, पुत्रजन्म, मुंडन, यज्ञोपवित, विवाह और मृत्यु प्रधान है।"[1] इन संस्कारों को देखने से पता चलता है कि धनगरों में इनमें से कुछ महत्वपूर्ण संस्कार किए जाते हैं। जिसमें जन्म संस्कार, विवाह संस्कार एवं मृत्यु

संस्कार महत्वपूर्ण है। धनगरों में इन तीनों संस्कारों में वैदिक मंत्रों का पठन-पाठन नहीं होता। उसकी जगह लोकगीतों का गायन होता है। यह लोकगीत ही वैदीक मंत्रों का कार्य करते हैं।

जन्म संस्कार संबंधी लोकगीत

सोलह संस्कारों में से यह एक महत्वपूर्ण संस्कार माना जाता है। यह संस्कार स्त्री के गर्भधान से आरंभ होता है। इस संदर्भ में बापुराव देसाई लिखते हैं कि, "मानव जीवन का यह एक आरंभिक संस्कार है। जब से बच्चा गर्भ में आता है, उसके कुछ ही महिनों पश्चात् कोई न कोई अनुष्ठान प्रारंभ हो जाता है। गर्भधान के नौ महिने तक संपूर्ण अवधि जन्म संस्कार के अंतर्गत आती है।"[2] धनगर समाज में भी यह सब विधियाँ संपन्न होती हैं। संतान की प्राप्ति होना यह एक हिंदू धर्म में पुण्य का कार्य माना गया है। यह दांपत्य के जीवन में लौकिक एवं अलौकिकता के लिए आवश्यक माना गया है। इसी कारण समाज में नि:संतानों की सदैव अवहेलना की जाती है। प्रकृति के इस नियम से धनगर जाति भी बंधी हुई है।

धनगर जाति में जन्म संस्कार के अंतर्गत विविध संस्कार किए जाते हैं जैसे गोद भराई, गंगा लांघना, साखर पान, पाँचवी नामकरण, जावळ निकालना (बाल निकालना) आदि संस्कार जन्म संस्कार के अंतर्गत आते हैं। इन सभी संस्कार विधियों पर मंगल गीतों का गायन किया जाता है। यह गीत विशेष रूप से स्त्रियों द्वारा ही गाये जाते हैं। इतना ही नहीं इन गीतों व निर्माण में स्त्रीयों का ही विशेष योगदान रहा है। वे इन गीतों के माध्यम से शिशु की माँ, शिशु के परिवारजनों का भाव तथा उनके उज्ज्वल भविष्य की मनोकामना करती है। आदिम संस्कृति में मंत्रोच्चार के स्थान पर लोकगीतों को महत्व दिया गय है।

गोद भराई (डोहाळे जेवण)

जन्म संस्कार का यह पहला संस्कार है। स्त्री के गर्भधान से लेकर सातवें महिने में यह संस्कार विधि संपन्न की जाती है। इस विधि में गर्भवती स्त्री को नई नवेली दुल्हन की तरह सजाया, सवारा जाता है। उसे साड़ी एवं हरे रंग की चूड़ीयाँ पहनाई जाती हैं। सात सुहागन स्त्रियों द्वारा उसकी गोद भरी जाती है। गोद भराई में सुपारी, खारीक, नारियल, हल्दी, कुंकुम आदि पदार्थ गर्भवती स्त्री की गोद में डाले जाते हैं। उसे जो-जो चीजें पसंद हैं वह सब चीजें उसे उपहार स्वरूप आप्तजन लाते हैं। तत्पश्चात् गर्भवती स्त्री को झूले में बिठाया जाता है। झूले को सब स्त्रियाँ गर्भवती स्त्री को झुलाती हुई गीतों के माध्यम से अपने भाव प्रकट करती हैं।

"मोमीन दादा सोडू दिंडाचा दोरवा
खण पाहिजे हिरवा चोखोळी घालायला
हिरव्या चोरचोळी पिवळ शिवण

माझया नेणतया बाईला जातय ढवाळ जेवन
पिरतीच्या परतभाव कंत टाकतो चूळा
तुला भिसला निरा घोळ उगवले नारायण चंद्राला जड़ जातो
बंध सोडावया जातो गर्भीण नाटीचा।"[3]

संबंधित गीत में गर्भवती स्त्री के लिए उसकी माँ गोदभराई के लिए जितनी भी चीज वस्तुएँ हैं वह सब देते हुए अपने पुत्री के लिए ईश्वर से उसके गर्भ के सुरक्षा की मनोकामना व्यक्त करती है। ऐसे कई सारे गर्भधान के गीत हैं जो धनगर स्त्रियाँ गाती हैं। गर्भधारण संस्कार के बाद पाँचवीं संस्कार विधि (पाची विधि) आती है।

पाँचवी (पाची विधि)

पुत्र के जन्म से लेकर पाँचवें दिन जो विधि संपन्न होती है उसे 'पाँचवीं' विधि कहा जाता है। इस विधि के अंतर्गत प्रसूता स्त्री की शुद्धि एवं स्नान होता है। इस दिन घर की सफाई और लिपाई-पुताई होती है। बालक तथा प्रसूता स्त्री को स्नान तथा नहलाया जाता है। जिस जगह यह स्नान कराया जाता है उस जगह पाँच खारिक, सुपारी, बादाम, नारियल रखकर पूजा की जाती है। रात्री के समय छठी माता का भी पूजन किया जाता है। धनगर जाति की यह धारणा है कि, इस रात छठी माता नवजात शिशु को आशीर्वाद देते हुए उसके जीवन के भविष्य का लेखा-जोखा उसके माथे पर लिखकर जाती है। इसलिए धनगर स्त्रियाँ पूरी रात जागती हुई छठीमाता के गीत गाते हुए बालक के दीर्घ आयु और उत्तम आरोग्य की कामना करती हैं।

"पाचव्या दिवशी मान
आज्ञा दिली तिला परमेश्वरानं
अक्षर टाकती हुकूमा प्रमान
पाटा पुसून झाली सन्मान
हळ्दी कुंकवात भिजले पान
सटवी देवीला दिलाया मान
थाटात मोठ्या करते पुजन
पुजन कराया आजीचा मान
सटीन लिहल नशीब महान॥"[4]

प्रस्तुत गीत में सटवई माता के पूजा का विधान है। सटवई माता भगवान की आज्ञा से बालक के माथे पर उसके जीवन का भविष्य तथा भाग्य लिखती है। इस प्रकार की समाज धनगरों में है। इस कारण सटवई माता की धनगरों में पूजा की जाती है। इस विधि के पश्चात् नामकरण विधि संपन्न होती है।

नामकरण

यह संस्कार बालक के जन्म से बारहवें दिन संपन्न होता है, इस कारण इस विधि को 'बारव' कहते हैं। धनगरों में इस विधि को 'बारव', कहते हैं। परंतु ऐसा कुछ विधि-विधान नहीं है कि यह विधि बारवे दिन ही संपन्न हो बारवे दिन के कुछ अंतराल पर भी यह विधि संपन्न की जाती है। धनगरों में इस विधि का बड़ा ही महत्व है। इस विधि के लिए शिशु के माता-पिता अपने आप्तजनों को आमंत्रित करते हैं। इस विधि में शिशु के मामा एवं बुआ का विशेष महत्व होता है। बुआ शिशु को गोद में लेकर बाकी स्त्रियाँ विविध गीतों का गायन करती हैं। गीतों के माध्यम से धनगरी स्त्रियाँ धनगरी देवी-देवता खंडोबा, बिरोबा, बानाई, धुळोबा, तथा अन्य देवी-देवता राम, सीता, हनुमान, अहिल्या आदि की उपमायें बालक को देती हुई उनका महिमा गाती हैं। प्रस्तुत गीतों में बालक के जन्म की तुलना दशरथ नंदन राम से की गई है। इस गीत में राम के जन्म से लेकर लक्ष्मण को शक्ति लगने से और जीवित होने तक का वर्णन किया गया है।

"पहिल्या दिवशी बोलली भागा
हात जोडूनी चरनाशी लागा
दान चुड्याचे रामाला मागा
झु बाळा झु झु रे झु
दुसऱ्या दिवशी बोलली गंगा
नका बायांनो करु तुम्हीं दंगा
दशरथ राजाला जाऊनी सांगा
गुड्या उभारा पाचिया रंगा
झु बाळा झु झु रे झु॥"[5]

संबंधित गीत से धनगर स्त्री भगवान राम के जन्म और दशरथ राजा के आनंद उत्सव का गुणगान करती है। राम जैसा पुत्र संबंधित बालक बने ऐसी मनोकामना करती है।

इस प्रकार धनगर जाति में जन्म संस्कार विधि संपन्न किया जाता है।

विवाह संस्कार के लोकगीत

धनगरों में भी विवाह को अत्याधिक महत्व दिया जाता है। विवाह संस्कार के संपन्नता के लिए उनकी अपनी मान्यताएँ हैं। वे अत्याधिक हर्षोल्लास के साथ विवाह की विविध विधियाँ संपन्न करते हैं। इन सभी विधियों पर धनगर स्त्रियों द्वारा लोकगीत गाये जाते हैं। वर एवं वधु पक्ष के दोनों ओर गीतों की शृंखला दिखाई देती है। वर पक्ष के अपेक्षा वधु पक्ष की ओर से ज्यादातर गीत गाये जाते हैं। इन गीतों में शृंगार, करुण, हास्य-व्यंग्य आदि रसों की पुष्टि मिलती है। जो साहित्य के दृष्टि से

महत्वपूर्ण है। धनगरों में विवाह संस्कार कई दिनों तक चलते हैं। इस संस्कार विधि के अंतर्गत बहुत सारी विधियाँ आती हैं जो इस प्रकार की हैं। चक्की पूजा, हल्दी पिसना, तेल चढ़ाना, तेल लगाना, नहलाना, वर का स्वागत, परण्या/बारात, रूकवत, उखाने, कन्यादान, विदाई आदि विधियाँ संपन्न होती है। इस प्रकार धनगरों में यह विवाह संस्कार संपन्न होते हैं।

चक्की पूजा

विवाह के लिए 'हल्दी रस्म, बड़ी ही महत्वपूर्ण मानी जाती है। धनगर जाति में विवाह से पूर्व वर-वधु को हल्दी लगाई जाती है। यह हल्दी स्त्रियों द्वारा चक्की के माध्यम से पिसी जाती है। हल्दी पिसने से पूर्व यह स्त्रियाँ सर्वप्रथम चक्की की पूजा करती हैं। इस समय वे विविध विवाह परक गीत गाती हैं। अपने मनोभावों को गीतों के माध्यम से अभिव्यक्ति करती हैं। यह गीत ज्यादातर लंबे समय तक चलते हैं। इन गीतों में श्रद्धा भाव के ओतप्रोत दर्शन होता है।

"जात पुजु ग मावशी
हळद दळ ग मावशी
नवरीली लावायची हळदीच्या दिवशी
जात पुजु ग आत्याबाई
हाळद दळ गं आत्याबाई
हळदीचा मान कुनाचा गं आत्याबाई
जात पुज गं भैनी
नवरी होईल पिवळी
तुझ्याच गं हातानी ॥"[6]

प्रस्तुत गीत में भारतीय संस्कृति तथा 'अतिथि देवो भव' की जो परंपरा है। उन परंपरा के यहाँ दर्शन होते हैं। क्योंकि चक्की पूजा के लिए धनगरों में ऐसा कोई रीति-रिवाज नहीं है कि चक्की पूजा के लिए कोई पुरोहित या आप्तजन हो। यहाँ पर हर किसी को बड़ा आदर से चक्की पूजा के लिए बुलाया जाता है।

हल्दी पीसना

चक्की पूजा के बाद चक्की में हल्दी पिसाई जाती है। हल्दी पिसते समय धनगर स्त्रियाँ विवाह से संबंधित अनेक प्रकार के गीत गाती हैं। यह गीत इतने चित्रात्मक होते हैं कि सुनने वाले को ऐसा प्रतीत होता है कि वह उसे साक्षात देख रहा है। उसे महसूस कर रहा है। इस प्रकार कि ताकत लोकगीतों में होती है। संबंधित लोकगीत इसी प्रकार का है। जिसमें वर-वधू के घरवालों की प्रतिष्ठा के दर्शन होते हैं।

"वर मंदीर सरस माझया जगीरदाराचा
दाराचा माझया जागीरदाराचा
आशी नवऱ्यची कळ
आशी नवऱ्यची कळ
एका रात्रीतुनी आली मालेनाबाई
एका रात्रीतुनी आली मालेनाबाई
आश्या सोनाल्या बाईला
आश्या सोनाल्या बाईला
जेवाया करवल्यानी केली मालेनबाई
जेवाया करवल्यानी केली मालेनबाई
आशी वरमाई वरमाई वळखु कोणत्याताटी
वळखु कोणत्याताटी मालेनबाई
वळखु कोणत्याताटी मालेनबाई
आशी लताबाई माझी आशी लताबाई माझी
हिऱ्याचा चुड़ा हाती मालेनबाई
हिंऱ्याचा चुड़ा हाती मालेनबाई ॥"[7]

संबंधित गीत में दूल्हा-दुल्हन की माता अपने मायके का और अपने घर वालों की प्रतिष्ठा का गुणगान करती हैं।

हल्दी पिसने की रस्म पुरे दिनभर चलती रहती है। धनगरों में हल्दी को 'पवित्र' माना गया है। क्योंकि धनगरों के दैवत 'खंडोबा' को हल्दी बहुत ही प्रिय है। इसलिए यह हल्दी धनगरों में पवित्र है। नाते संबंधों का भी चित्रण कुछ गीतों में आया है। संबंधित गीतों में विवाह के नाते संबंध तथा पूरे विवाह के लिए जो तैयारी की जाती है उसका वर्णन संबंधित गीतों में आया है। जो इस प्रकार है-

"सई बाई गं बाई गं बाई गं बाई सई बाई
तुला सुपारीचा डावु बाई डावु गं डावु बाई डावु
तुला सुपारीचा डावु न नवरा झाला महादेवु गं
सई बाई गं बाई नवरा झाला महादेवु
बाई देवु गं देवु बाई देवु
जात्या विसावला तुका सुपारी बांधली गं
सई बाई गं बाई तुला सुपारी बांधली

बांधली बांधली बांधली
तुला सुपारी बांधली न् नवर्या हळद लावली गं
सई बाई गं बाई नवऱ्या हळद लावली
लागली लागलीऽऽऽ लागली
जात्या विसवर तुला तांदळाचा घाना गं
सई बाई गं बाई तिळ तांदळाचा घाना गं
तिळतांदळाचा घना न नवरा मोतियाचा दाना गं
सई बाई गं बाई नवरा मोतियाचा दाना गं
दाना बाई दाना गं दाना गं बाई दाना
मांडवाच्या दारी न जावा जावाचा रुसवा गं
सई बाई गं बाई जावा जावाचा रुसवा
रुसवाऽऽऽ रुसवो रुसवा
बंधुच पाचळ न जाव मालनी नेसवा गं
सई बाई गं बाई जाव मालनी नेसवा
नेसवाऽऽऽ नेसवाऽऽऽ नेसवा
मांडवाच्या दारी न आहेराचे सोळा ताट गं
सई बाई गं बाई आहेराचे सोळा ताट
ताट बाई ताट गं ताट बाई ताट
बंधुच पातळ न् याचे रुंद-रुंद काठ गं
सई बाई गं बाई याचे रुंद रुंद काठ गं॥"[8]

हल्दी लगाना

हल्दी पिसने के बाद यह हल्दी विवाह के पूर्व वर-वधु को लगाई जाती है। हल्दी लगाते समय वर-वधु के पक्ष के स्त्रियों द्वारा विविध गीत गाये जाते हैं। जिसमें वर तथा वधु के माँ का नाम लेकर हल्दी रस्म का प्रारंभ होता है।

"पिवळा साऱ्या सरगट पिवळा
लताबाई पाहती लेकराचा सोहळा
लेकराचा सोहळा पाहती लेकराचा सोहळा
वरमाई वरमाई आता लागली व्हयला
लागली व्हयाला आता लागली व्हयाला

माहेराच गोत आल कौतीक पाहयाला
कौतिक पाहयाला आला कौतिक पाहयाला
राघु नवरदेव पड़े मारुतिच्या पाया
मारुतिच्या पाया पडे मारुतिच्या पाया ॥"[9]

हल्दी लगाते समय धनरग स्त्रियाँ सर्वप्रथम आद्य दैवत खंडोबा एवं धनगर कन्या बानु का स्मरण करती है। वह गीत के माध्यम से कहती है, मल्हार एवं बानु को हल्दी लगाई गई है। यह हल्दी रस्म देखने के लिए लोगों ने भीड़ जमाई है। इस तरह का वर्णन नीचे दिये गये गीत में आया है।

"मल्हारी हळद लावली गं
दिनकरराव हळद लागली गं
भामा पिकी झाली गं
समद्यान साथ दिली गं
हाळद लावया गर्दी झाली गं ॥"[10]

तेल चढाणा

हल्दी लगाने के बाद की रस्म 'तेल चढ़ाना' है। दुल्हे को हल्दी लगाने के बाद विवाह के दिन उसकी बुआ, मौसी, दादी नानी तेल चढ़ाती हुई निम्न गीत गाती हैं।

"तेलू तेल वना
नाग वेली पाना
आधी तेल चढ़वा खंडेरायाला
मग तेल लावा नवरदेवाला
तेलू तेल वना नाग वेली पाना
आधी तेल चढ़वा गावच्या देवाला
मग हळद लावा नवरदेवाला
तेलू तेल वना
नाग वेली पाना
आधी तेल चढ़वा धुळुदेवाला
मग तेल लावा नवरदेवाला
तेलू तेल वना
नाग वेली पाना
आधी तेल चढ़वा बिरोबा देवाला

मग तेल लावा नवरदेवाला
तेलू तेल वना
नाग वेली पाना
आधी तेल चढ़वा बाबीर देवाला
मग तेल लावा नवरदेवाला
तेलू तेल वना
नाग वेली पाना ॥"[11]

धनगर जाति में जितनी भी जाति देवता हैं। उन सभी देवताओं का नामस्मरण दुल्हे को तेल लगाते वक्त धनगर स्त्री करती हैं। तेल चढ़णा विधि के बाद दुल्हा-दुल्हन को नहलाना, विवाह प्रसंग में दूल्हे का स्वागत, परण्या/बारात, रूकवत, और अंतिम कन्यादान इस प्रकार की विधियाँ विवाह संस्कार के अंतर्गत आती हैं। इन सभी सुअवसरों पर बहुत बड़े पैमाने में गीतों के भरमार होती है परंतु विषय की व्यापकता को देखते हुए कुछ मौलिक गीत यहाँ पर लिए गए हैं।

मृत्यु संस्कार

धनगर समाज के अंतर्गत आनेवाला यह अंतिम संस्कार है। यह एक दुखद संस्कार है। इस कारण इस संस्कार में शोक एवं रुदन ही अधिक दिखाई देता है। धनगरों में गीतों के माध्यम से शोक व्यक्त किया जाता है। वैसे भी मृत्यु संस्कार पर गीत गायन की परंपरा प्राचीन रही है। इस संदर्भ में डॉ. विद्या चौहान लिखती है कि, "रामायण एवं महाभारत में भी मृतात्माओं के प्रति शोकाभिव्यक्ति प्राप्त होती है।"[12] भले ही मृत्यु गीतों की परंपरा प्राचीन रही हो, लेकिन धनगरों में मृत्यु गीतों की अपनी अलग परंपरा रही है। मृत व्यक्ति के चले जाने से होने वाली त्रासदी एवं पीड़ा को यह जाति गीतों के माध्यम से व्यक्त करती है।

संक्षेप में, कहा जा सकता है कि हिंदू धर्म के अंतर्गत जो संस्कार विधियाँ संपन्न होती हैं इसके विपरीत धनगर जाति में य घुमंतू जनजातियों में यह संस्कार विधियाँ संपन्न होती हैं। हालाँकि बहुत सारी धनगर एवं अन्य जातियाँ हिंदू धर्म के अंतर्गत तो आती हैं परंतु इनके रहन-सहन, खान-पान, वेशभूषा, अलंकार, तीज उत्सव, संस्कार विधियाँ अन्य हिंदू समाज से अलग हैं। इनकी अपनी एक संस्कृति एवं लोक साहित्य है जो अन्य समाज को अपनी ओर आकर्षित करता है।

संदर्भः

1. सत्येंद्, लोक साहित्य विज्ञान, पृ. 59
2. देसाई बापूराव, लोक साहित्य, पृ. 52

3. संकलीत गीत, कौसाबाई कोरटकर, ग्राम–विहामांडवा, तह. पैठण

4. संकलीत गीत, सौ. कलाबाई भिसे, ग्राम– शिराढोण, तह. कलम

5. संकलीत गीत, सौ. सोजरबई हजारे, ग्राम–इरला डुबा, तह. माजलगाँव

6. संकलीत गीत, सौ. आसराबाई वाघमोड़े, ग्राम– पिंपळवाडी, तह. पैठण

7. संकलीत गीत, सौ. लताबाई शिंदे ग्राम– पिंपळवाडी, तह. पैठण

8. संकलीत गीत, सौ. कलाबाई भिसे, ग्राम– शिराढोण, तह. कलम

9. संकलीत गीत, सौ. सविता चोरमले, ग्राम– चोरपुरी, तह. गेवराई

10. संकलीत गीत, सौ. लताबाई शिंदे ग्राम– पिंपळवाडी, तह. पैठण

12. चौहान विद्या, लोक साहित्य, पृ. 166

❑❑

असमिया समाज में संबंधसूचक शब्दों के निर्माण और प्रयोग में 'लिंग–भेद'

—प्रांजल कुमार नाथ

सार

असमिया समाज में संबंधसूचक शब्दों की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। ये न केवल सामाजिक पहचान को स्पष्ट करते हैं, बल्कि संपर्क स्थापित करने और पारिवारिक तथा सामाजिक संबंधों को परिभाषित करने में भी सहायक सिद्ध होते हैं। कहा जाता है, रिश्तों की पहचान जाति, वर्ग, उम्र, विवाह और सांस्कृतिक परंपराओं के आधार पर ही होती है। असमिया समाज में संबंधसूचक शब्दों का निर्माण एवं प्रयोग; लिंग–भेद के आधार पर भिन्न–भिन्न होते हैं। कुछ लिंग–निरपेक्ष शब्द भी यहाँ उपलब्ध हैं।

असमिया में संबंधसूचक शब्दों को दो भागों में बाँटा जाता हैं। एक संबंध निर्देशक शब्द और दूसरा है संबोधन के लिए प्रयुक्त शब्द। असमिया में लिंग–भेद को स्पष्ट करने के लिए पुरुषवाचक शब्दों में स्त्रीलिंग प्रत्यय जोड़े जाते हैं, जैसे 'नाती' से 'नातिनी', 'भतीजा' से 'भतीजी' आदि। स्थान, जाति और पेशे के आधार पर भी यहाँ संबोधन बदलते हैं तथा सम्मान और भाव के अनुसार भी। हालाँकि, इन शब्दों का अर्थ; संदर्भ और बोलने के लहजे पर निर्भर करता है।

असमिया भाषा में लिंग भेद और संबंधसूचक शब्द सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक पहचान को दर्शाते हुए समाज की पारंपरिक एवं आधुनिक प्रवृत्तियों को परिलक्षित करते हैं।

बीज शब्दः *असमिया, भाषा, समाज, संबोधन, लिंग, प्रत्यय, संस्कृति, परंपरा।*

प्रांजल कुमार नाथ

किसी भी समाज अथवा भाषा के अध्ययन में 'लिंग-भेद' की अवधारणा अत्यधिक महत्व रखती है। समाज में 'लिंग-भेद' की अवधारणय पुरुषों और महिलाओं के बीच सामाजिक लिंग-अंतर और उनके सामाजिक संरचनाओं के संदर्भ में आपसी संबंध, मेल-मिलाप अथवा व्यवहार को संदर्भित करता है। दूसरी ओर संबंध सूचक शब्द वे हैं, जिनका उपयोग समाज में व्यक्तियों द्वारा एक-दूसरे को संबोधित अथवा अपने रिश्तों को इंगित करने के लिए जिसका प्रयोग किया जाता हो। समाज में व्यक्तियों के बीच संबंध विभिन्न संदर्भों में स्थापित होते हैं, जैसे नस्ल, परिवार, जाति, वर्ग, उम्र, विवाह, जीविका, समाज में प्रचलित लिंग-भेद की अवधारणा अथवा एक ही स्थान पर निवास करने वाले लोगों की सामाजिक, सांस्कृतिक रीति-रिवाज आदि के माध्यमों से। इस रिश्ते के वर्णन में इन शब्दों का प्रयोग समाज अथवा समाज में निवास करने वाले व्यक्तियों के अनुसार अलग-अलग होते हैं। जिसका निर्माण उस समाज के संबंध प्रणाली अथवा रिश्तेदारी प्रणाली के आधार पर ही किया जाता है अथवा यह कहा जा सकता है कि उस समाज में प्रयुक्त संबंधसूचक शब्दों के द्वारा उस देश की संस्कृति भी पहचानी जाती है। असमिया में संबंधसूचक शब्दों को प्रयोग अनुसार दो भागों में बाँटा गया है-

1. संबंध निर्देशक संबंधसूचक शब्द (Terms for reference)
2. संबोधन के लिए प्रयुक्त संबंधसूचक शब्द (Terms for address or vocative)

असमिया समाज में संबंधसूचक शब्द तीन तरीकों से स्थापित होते हैं- जन्म, विवाह और सामाजिक आचार। इसकी संरचना और उपयोग पुरुषों और महिलाओं द्वारा अलग-अलग तरीके से किया जाता है। हिंदी की तरह ही असमिया में जन्मजात माँ-पिता के संपर्क से संबंधित शब्दों में कुछ-कुछ भिन्नता दृष्टिगोचर होती हैं। उदहारण के तौर पर माँ के भाइयों को मामा कहा जाता है, चाहे वे माँ से बड़ा हो या छोटा कोई फर्क नहीं पड़ता। हाँ मगर, कभी-कभी स्थान को दर्शाने के लिए बड़े मामा अथवा छोटे मामा कहकर पुकारे जाते हैं। लेकिन सुनने वाले इससे भी यह निर्णय नहीं ले पाते हैं कि मामा माँ से बड़ा है या फिर छोटा। ठीक इसी प्रकार पिता के दोनों भाइयों को, जो पिता से बड़ा है; उन्हें बरदेउता (ताऊ) और पिता के छोटे भाई को खूरा (चाचा) कहकर पुकारे जाते हैं। इसी क्रम में अगर देखा जाए तो, मामा की पत्नी को मामी और बरदेउता (ताऊ) की पत्नी को बरमाँ (ताई) तथा खूरा (चाचा) के पत्नी को खूरी (चाची) कहा जाता है। पिता और माँ की बहनों के लिए भी अलग-अलग संबंधसूचक शब्दों का यहाँ प्रयोग किया जाता हैं, जैसे- पिता के बड़ी बहन को जेठाई/जेठादेउ (फूफी अथवा बड़ी बुआ) और उनके पति को जेठू अथवा जेठा (फूफा) तथा पापा के छोटी बहन को पेही (बुआ) और उनके पति को पेहा (फूफा) कहते हैं, दूसरी और माँ की बड़ी बहन को जेठाइ (बड़ी मौसी) और छोटी बहनों को माही (छोटी मौसी) कहे जाते हैं। इस प्रकार भाभियों के लिए असमिया में बोउ और देवरानी के लिए कोई-कोई बुवारी अथवा अधिकतर लोग उनके नाम से ही

पुकारते हैं। हाँलाकि पश्चिमी असम के कुछ-कुछ स्थानों में पिता की बहनों को लिए चाहे वे बड़ी हो या फिर पिता से उम्र में छोटी, उन्हें सिर्फ 'पेही' कहकर ही संबोधित किया जाता है। असमिया समाज में पुरुष और महिला दोनों अपने भाई और भाइयों के बच्चों के लिए भतीजा/भतीजी और बहनों के बच्चों के लिए भागिन/भागिनी (भांजा/भांजी) आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं, लेकिन भतीजा/भतीजी अथवा भागिन/भागिनी से अधिक उनके घर के नामों से अथवा अपने अनुसार ही उन्हें संबोधित किये जाते हैं।

असमिया भाषा में विवाह के आधार पर हुए संबंधों के रूपों को दर्शाने के लिए भी अलग-अलग शब्दों का प्रयोग किया गया है। संबोधन के संदर्भ में जेठेरी (पत्नी की बड़ी बहन का पति, साढ़ू) और शालपति (साली के पति, साला) को छोड़के बाकि रूपों में अलग-अलग संबंधसूचक शब्दों का उपयोग होता है।

असमिया भाषा में संबंधसूचक रूपों के संबंध 'निर्देश' (Terms for reference) और 'संबोधन' (Terms for address) अनुसार अलग-अलग होते हैं। पिता-माता के संबंधों के रूप को निर्धारित करने के लिए बड़ों के संदर्भ में खूरा (चाचा), मामा, माही (मौसी), पेही (बुआ) के साथ जब विवाह द्वारा और संपर्क जोड़े जाते हैं तो उस संबंध को दर्शाने अथवा उसे पहचान दिलाने के लिए उल्लेखित संबंधसूचक शब्दों के साथ निम्न प्रकार के रूपों को जोड़कर उसे पुकारे जाते हैं। जैसे मामा-शहूर (पति/पत्नी के मामा), मामी-शाहू (पति/पत्नी के मामी), खूरा-शहूर (पति/पत्नी के भाई), पेही-शाहू (पति/पत्नी के बुआ) आदि। असमिया समाज में पत्नी को पति का और पति को पत्नी का संबंध लेना महत्वपूर्ण नियम है। लेकिन संबोधन में हमेशा मामा-मामी, चाचा-चाची आदि का ही हमेशा प्रयोग होता है, पुकारने के लिए शाहू-शहूर (साँस-ससुर) आदि शब्दों को प्रयोग नहीं के बराबर है। ठीक उसी प्रकार स्वामी, ननद, देउर (देवर), जा (जेठानी), सतिनी (सौतन) आदि शब्द संबंधसूचक शब्द हैं और संबोधन में यानि की पुकारते सिर्फ भाईटी-भंटी (भाई-बहन), बा, दादा, बोउ, नबोउ (दीदी, भैया, भाभी)- इस तरह से ही।

पितृ-मातृ से संबंधित जन्मजात, वंशगत संबंधसूचक कुछ प्रमुख असमिया शब्दों के उदाहरण हैं-

देउतार कका-आइता : आजुकका (पु. लिं.); आजूआइता (स्त्री. लिं.)
(पिता के दादा-दादी : परदादा; परदादी)
माक-देउताकर पिता-माँ: कका (पु. लिं.); आइता (स्त्री. लिं.)
(पिता-माता के पिता-माता : दादा; दादी)
संतानर नाति: आजो नाति (पु. लिं.); आजो नातिनी (स्त्री. लिं.)
(संतान के पोते : पर-पोता; पर-पोती)

इस प्रकार के संबंधसूचक शब्दों में 'लिंग-भेद' निर्धारण के लिए असमिया में कुछ शब्दों को आगे अथवा पीछे जोड़कर उसके स्वरूप को निर्धारित करने का नियम है। उदहारण:

पुलिंग	**स्त्रीलिंग**
नाति तो	नाति जनी
मता मानुह	माइकी मानुह
मानुह टो	मानुह जनी, आदि।

वैवाहिक क्षेत्र में पति-पत्नी की रिश्तों को दर्शानिवाले कुछ संबंधसूचक शब्दों के उदहारण हैं (जो एक-दूसरे को पुकारने में प्रयोग किये जाते हो) हेरी-हेरा (एजी-ओजी), सुनिछाने (सुनोना)। इसके अलावा वर्तमान समय में लोग अपने पत्नी को प्यार से जान, सोन, देहा आदि कहकर भी पुकारते हैं अथवा उनके अपने-अपने नामों से भी। उल्लेखनीय बात यह है कि जिस तरह हिंदी में अपने ससुराल में सासुमाँ-ससुरजी जैसे शब्दों के विपरीत असमिया में दोनों स्थानों पर माँ-पिता अथवा माँ-देउता आदि शब्दों का ही अधिक प्रयोग होता देखा गया है। शाहु-शहुर (साँस-ससुर) शब्द बस संबंधों के निर्देशों के लिए ही प्रयोग किया जाता है। भूमंडलीकरण के जमाने में असमिया हो अथवा हिंदी सभी भाषाओं में माता-पिता को मम्मी-पापा अथवा मम-डेड जैसे अंग्रेजी शब्दों से भी पुकारा गया देखा जाता है। असमिया में भाभियों के लिए बोउ, नबोउ, बउटी; जीजा के लिए भिन्देउ, भिनिही, भीनी; दामाद के लिए जुंवाय; देवरानी के लिए बुवारी आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। विवाह के संपर्क से स्थापित कुछ संबंधसूचक शब्दों के उदहारण प्रस्तुत हैं-

बहु और जमाई के माता-पिता **:** *बियोइ/बियनी* (संबंधन)

पति/पत्नी के दीदी**:** जेशाहू, लेकिन जेशाहू के पति के लिए सिर्फ भिंदेउ/भीनी (जीजा/जीजू) आदि शब्द का ही प्रयोग होता है।

असमिया समाज पुरुषप्रधान समाज है। इसी कारण लिंग-भेद अनुसार पुरुषप्रधान समाज में पुरुष और महिला के संदर्भ में प्रयुक्त शब्दों में पुरुषसूचक मूल शब्द के साथ परसर्ग जोड़कर स्त्री के लिए संबंधसूचक शब्दों को बनाया गया है। जैसे-

पुलिंग सूचक शब्द	**स्त्रीलिंग सूचक शब्द**
नाती (पोता)	नातिनी (पोती)
भतीजा	भतीजी
खूरा (चाचा)	खूरी (चाची)
सखा (बंधू)	सखी (सहेली)
महा/महादेउ (मौसा)	माही (मौसी)

उल्लेखित शब्दों में से माही और महा शब्द विवाह संपर्क पर आधारित है। ध्यान देने की बात यह भी है कि, असमिया समाज में कुछ ऐसे शब्द हैं, जिनका प्रयोग केवल महिलाओं के लिए अथवा

सिर्फ और सिर्फ पुरुषों के लिए ही व्यवहार में आते हैं। बहुविवाह अथवा विधवा विवाह असमिया समाज में नहीं के बराबर है। लेकिन कभी-कभी पत्नी के मृत्यु के बाद अथवा पत्नी की कोई संतान न होने पर कोई लोग दूसरी शादी कर लेते हैं। दूसरी शादी पुरुषों में तो साधारण सी बात है, लेकिन महिलाओं के संदर्भ में ये बहुत बड़ी बात है। पिता के दूसरी पत्नी के लिए यहाँ उपयोग किये जानेवाले संबंधसूचक शब्द हैं 'माहीमाँ' यानि की सौतेली माँ। 'माहीमाँ' शब्द के लिए प्रयोगित पुलिंग का कोई रूप यहाँ प्रचलन नहीं है। ये शब्द केवल महिलाओं के संदर्भ में ही प्रयुक्त है, इसका पुलिंग रूप असमिया में उपलब्ध नहीं है।

जगह के नाम, उपाधियाँ, व्यवसाय आदि में कभी-कभी लिंग सूचक प्रत्यय के उपयोग द्वारा भी पुरुष और महिला दोनों को संबोधित और निर्देशित किया जाता है। उदहारण के लिए-

जगह के नामों में लिंग सूचक प्रत्यय जोड़कर:

जगहों के नाम	**पुलिंग**	**स्त्रीलिंग**
नगाँव	नगआ (-आ)	नगआनी (-आनी)
मरिगाँव	मरिगआ (आ)	मरिगआनी (-आनी)
शिवसागर	शिवसागरीया (-ईआ)	शिवसागरीयानी (-आनी)
नलबारी	नलबरीया (-आ)	नलबरीयानी (-आनी)
बरपेटा	बरपेटिया (-इया)	बापेटियानी (-ई+आनी)

इस प्रकार विभिन्न जगहों के नाम के साथ 'आ', 'ईआ' जोड़कर पुरुषसूचक प्रत्यय और 'आनी' अथवा 'ई+आनी' आदि स्त्री प्रत्यय जोड़कर संबंधसूचक रूप असमिया में बनाये जाते हैं। इन रूपों के उपयोग निर्देशन और संबोधन दोनों ही क्षेत्रों में प्रयोग होते हैं।

Taitle अथवा पदवी के साथ लिंगसूचक प्रत्यय जोड़कर ('नी', 'अनी') भी 'लिंग-भेद' को निर्धारित किये जाते हैं:

पुलिंग	**स्त्रीलिंग**
बरा	बरानी ('नी')
शर्मा	शर्मानी ('नी')
हाजारिका	हाजरिकानी ('नी')

अपनी जाति अथवा आजीविका के साथ स्त्री प्रत्यय जोड़कर बनने वाले कुछ संबंधसूचक शब्दों के उदहारण निम्न प्रकार हैं:

पुलिंग	**स्त्रीलिंग**
कुमार	कुमारनी ('नी')

नापित	नापीतनी ('नी')
डोम	डुमुनी ('उनी')
लालुंग	लालूङनी ('नी')

यहाँ असमिया के आ-कारांत पुलिंगसूचक रूपों में 'नी' और बाकियों में 'उनी' स्त्री प्रत्यय के रूपों के प्रयोग से भी 'लिंग-भेद' निर्धारण किये जाते हैं। महत्वपूर्ण बात है कि आयु, और भाव-अर्थ के अनुसार संबोधन में कुछ संबंधसूचक शब्द सम्मानार्थ और तुच्छार्थ दोनों अर्थों में प्रयोग होते हैं। जैसे-आयु में छोटे होने पर प्यार से भाइटी अथवा भंटी, जगहों के साथ परिचय देकर तुच्छ अथवा रिझाने के अर्थ में नगजा भाइटी, मरिगजानी भंटी तथा उम्र में बड़े होने पर स्त्री को बाइदेउ और पुरुषों को दादा, ककाइदेउ, का, काकाइ, सर छार, काइ कहकर संबंध की पहचान कराये जाने की परंपरा है। हालाँकि ये शब्द बोलने की शैली, भाव आदि के ऊपर ही निर्भर होते हैं, कि बोलने वाला किस अर्थ में इसे प्रयोग कर रहा है। जैसे – दादा, बुधेन बरदेउता, मधुकाइ, रवि काकाई, नापित काइ, शर्मा दा, कुमार काइ, हरि सर आदि। उल्लेखित शब्द सम्मान के अर्थ में भी प्रयोग कर सकते हैं अथवा रिझाने के अर्थ में भी।

निष्कर्ष: असमिया समाज में संबंधसूचक शब्दों के निर्माण एवं प्रयोग लिंग अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं। कुछ लिंग निरपेक्ष संबधसूचक शब्द भी असमिया में पाये जाते हैं। जैसे- संतान, खुलशाली आदि, मगर इन सबका प्रयोग केवल संबंधों को निर्देशित करने के लिए ही अधिक होता है, संबोधन में इसका प्रयोग प्राय: नहीं के बराबर है। 'लिंग-भेद' अनुसार परसर्ग अथवा प्रत्यय आदि जोड़कर असमिया में संबोधनसूचक शब्द बनाने के नियम हैं। जिसे मूलत: लिंग भेदानुसार कभी-कभी निर्देश के अर्थ में और कभी-कभी संबोधन के अर्थ में इसका व्यवहार होता है। अत: कोई संदेह का अवकाश नहीं रह जाता कि असमिया समाज में 'लिंग-भेद' के लिए संबंधसूचक शब्दों की महत्व पर। इस संबंध में यह कहा जा सकता है कि, असमिया समाज में किसी भी संपर्क की पहचान अथवा खोज के लिए संबंधसूचक शब्दों की भूमिका आवश्यक है। अत: कहना उचित होगा कि असमिया समाज में संबंधसूचक शब्द सिर्फ भाषा का हिस्सा नहीं, बल्कि सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक पहचान का अनिवार्य तत्व भी हैं।

संदर्भ:

1. पाठक, कनिमा: असमिया भाषार संबंधवाचक रूप, गौहाटी विश्वविद्यालय के अधीन पी.एस.डी. शोध गवेषणा ग्रंथ, 2021, अप्रकाशित।
2. शैकीया, बरा, लीलावती: असमिया भाषार रूपतत्व, गुवाहाटी, बनलता, 2011, प्रकाशित।
3. शर्मा, अनुराधा : समाज आरू भाषा, समाज भाषाविज्ञान परिचय, प्रथम प्रकाश, गुवाहाटी, बांधव, 2016, प्रकाशित।

❑❑

मणिपुरी भाषा और तकनीकी शब्दावली का विकास

—एलाङबम विजय लक्ष्मी

सार

भारतीय भाषाओं में तकनीकी शब्दावली का विकास आज के समय में एक महत्वपूर्ण और चुनौतीपूर्ण विषय बन चुका है। तकनीकी विकास की तेज गति और वैश्वीकरण ने नई शब्दावली की आवश्यकता को बढ़ाया है, खासकर पूर्वोत्तर भारत की भाषाओं में। यहाँ विविध भाषा परिवारों की मौजूदगी है, जो अपनी-अपनी बोली और शब्दावली विकसित करती हैं। मणिपुरी जैसी भाषाएँ अपनी संस्कृति और स्थानीय अनुभवों के आधार पर तकनीकी शब्दों को अपनाती हैं, जैसे कंप्यूटर, सॉफ्टवेयर आदि। हालाँकि, भाषा में ये परिवर्तन समाज के सांस्कृतिक और सामाजिक इतिहास से जुड़े होते हैं, कई चुनौतियाँ भी हैं, जैसे भाषाओं का विलुप्त होना, युवा पीढ़ी की उदासीनता, और मानकीकरण की कमी। इन समस्याओं का समाधान अनुसंधान, दस्तावेजीकरण और तकनीकी शब्दावली के मानकीकरण से किया जा सकता है।

बीज शब्दः *प्रौद्योगिकी, इंडो-आर्यन, द्रविड़, सायनो-तिब्बती, ऑस्ट्रोएशियाटिक, उपनिवेशवाद, वैश्वीकरण, वोइस कमांड, तकनीकी आविष्कार, स्थानीय नवाचार, भाषाई रचनात्मकता, दस्तावेजीकरण, सांस्कृतिक विरासत।*

भारतीय भाषाओं में तकनीकी शब्दावली का विकास आज के संदर्भ में अत्यंत चिंतनीय विषय बन गया है। कहना चाहिए यह आज के समय की माँग है, क्योंकि आज तकनीकि विकास अत्यधिक तीव्र गति से हो रहा है। विज्ञान और तकनीकि विकास ने हमारे सामने एक ऐसी दुनिया खड़ी कर दी है कि आज कुछ भी असंभव नहीं रह गया है। बटन दबाने या क्लिक करने की देरी है, बस सब काम झट से संपन्न। यही नहीं आज वोइस कमांड यानी मौखिक आदेश से काम संपन्न हो रहे हैं, परंतु यह नहीं भुलाया जा सकता कि प्रौद्योगिकी का भाषा और संस्कृति के साथ एक महत्वपूर्ण संबंध भी है। भारत की भाषाई विविधता विश्व में सबसे अधिक है, यह विविधता

पूर्वोत्तर भारत के संबंध में और ज्यादा देखने को मिलती है। यूँ तो पूर्वोत्तर भारत के राज्य क्षेत्रफल की दृष्टि से असम और अरुणाचल को छोड़कर बहुत व्यापक नहीं है, पर पूर्वोत्तर में अनेक भाषा परिवार के लोग रहते हैं, जैसे इंडो-आर्यन, द्रविड़, सायनो-तिब्बती और ऑस्ट्रोएशियाटिक। भाषा निर्माण की प्रक्रिया में किसी भी समाज और संस्कृति की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। यह उत्तर पूर्वी भारतीय भाषाओं में भी देखी जा सकती है, जहाँ भाषाई विविधता अत्यधिक रूप में मौजूद है। प्रत्येक छोटे समूह की अपनी एक बोली है और एक-दूसरे से बिलकुल पृथक है। नई शिक्षा नीति 2020 के अनुसार अब मातृभाषा में शिक्षा देने का प्रावधान रखा गया है। ऐसे में प्रत्येक भाषा ही नहीं, बोलियों को भी सक्षम बनाने की आवश्यकता पड़ेगी। अत: आज भाषा की तकनीकी प्रगति अति महत्वपूर्ण है।

तकनीकी शब्दावली का विकास कई कारकों से प्रभावित रहा है। तकनीकी शब्दावली के निर्माण के संबंध में यह कहना गलत नहीं होगा कि उपनिवेशवादी स्थिति का प्रभाव सर्वाधिक पड़ा है। ब्रिटिश उपनिवेश काल में प्रशासन और शिक्षा के लिए अंग्रेजी को एक माध्यम के रूप में चुना गया, जिसके परिणामस्वरूप विज्ञान, प्रौद्योगिकी और कानून जैसे क्षेत्रों में अंग्रेजी भाषा के आधार पर नए शब्दों की रचना हुई। 1947 में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद क्षेत्रीय भाषाओं को बढ़ावा देने के लिए अनेक प्रयास किए गए, जिसके परिणामस्वरूप अंग्रेजी और अन्य भाषाओं से नए शब्दों को अनुकूल बनाते हुए तकनीकी शब्दावलियों का निर्माण किया गया। जिनका प्रयोग आज भी हम कर रहे हैं। भूमंडलीकरण, वैश्वीकरण के इस युग में तकनीकी विकास के कारण विभिन्न क्षेत्रों में नई शब्दावली के विकास की आवश्यकता उत्पन्न हो गई है, जिसमें शिक्षा, सूचना प्रौद्योगिकी, स्वास्थ्य और वाणिज्य जैसे विभिन्न क्षेत्र शामिल हैं।

पूर्वोत्तर भारत को अष्ठलक्ष्मी या सात बहनें और एक भाई की भूमि के रूप में जाना जाता है। अरुणाचल प्रदेश, असम, मणिपुर, मेघालय, मिजोरम, नागालैंड, त्रिपुरा और सिक्किम को मिलाकर ये आठ राज्य हैं। वास्तव में पूर्वोत्तर भारत की यह भूमि दुनिया के भाषाई और सांस्कृतिक विविधता का उत्कृष्ट उदाहरण है। यह समृद्ध विविधता मुख्यत: उन स्वदेशी जनजातियों और समुदायों की संख्या के कारण है, जो इस क्षेत्र में निवास करते हैं। यहाँ भाषा की एकरूपता और एकात्मता बहुत बड़ी चुनौती है। पूर्वोत्तर भारत का क्षेत्र कई भाषाओं का घर है, जिनमें मणिपुरी, असमिया, खासी, मिजो और अन्य शामिल हैं। इन भाषाओं में से मणिपुरी भाषा के तकनीकी शब्दावली के विकास को समझने के लिए निम्नलिखित पहलुओं को आधार बनाया जा सकता है:

सांस्कृतिक पहचान:

भाषा निर्माण की प्रक्रिया में संस्कृति की महत्वपूर्ण भूमिका होती है इसलिए भाषाएँ अपने बोलने वालों की अद्‌वितीय सांस्कृतिक पहचान को दर्शाती हैं। अर्थात् किसी समाज और उसकी संस्कृति को समग्रता से पहचानने का माध्यम होती है भाषा। समय के साथ, विशेष रूप से नई

तकनीकी और सामाजिक परिवर्तनों के कारण, भाषा का रूप और शब्दावली में बदलाव आता है। जब नई तकनीकें और अवधारणाएँ जन्म लेती हैं, तो इन्हें व्यक्त करने के लिए नई शब्दावली की आवश्यकता होती है। भाषा अक्सर इन नई अवधारणाओं को खुद में समाहित करने के लिए अपनी शब्दावली को विस्तार देती है। समय के साथ जैसे-जैसे नई तकनीक का विकास होता है, ये भाषाएँ स्वदेशी शब्दों का निर्माण करके या प्रमुख भाषाओं जैसे अंग्रेजी और हिंदी से उधार लेकर अपने अनुकूल शब्दावली का निर्माण करती है।

भाषा निर्माण की प्रक्रिया और संस्कृति के बीच गहरा संबंध है। दरअसल, भाषा न केवल संवाद का एक साधन है, बल्कि यह समाज की सांस्कृतिक पहचान, दृष्टिकोण और विचारधाराओं को भी प्रकट करती है। जब हम किसी समाज या समुदाय की भाषा को समझते हैं, तो हम उसकी संस्कृति, उसकी सोच और उसके जीवन के तरीके को भी समझने में सक्षम होते हैं। इस प्रकार, भाषा एक दर्पण की तरह कार्य करती है, जो उस समाज की सामाजिक, आर्थिक, और सांस्कृतिक संरचना को प्रतिबिंबित करती है। अर्थात् भाषा और संस्कृति एक-दूसरे से गहरे जुड़े होते हैं। भाषा न केवल एक संवाद का साधन है, बल्कि यह संस्कृति, पहचान, और सामाजिक जीवन का भी अभिन्न हिस्सा है। जैसे-जैसे समय और समाज बदलते हैं, भाषा भी अपनी शब्दावली, रूप और प्रयोग में बदलाव लाती है, जो उसके बोलने वालों की समग्र सांस्कृतिक स्थितियों और जरूरतों को दर्शाता है।

स्थानीय नवाचार:

परंपरागत शब्दावली सामाजिक इतिहास के विकास के साथ विकसित होती है और समय के परिवर्तन के साथ-साथ भाषा की प्रकृति के अनुकूल नए-नए शब्दों का विधान भी होता रहता है। अर्थात् जैसे-जैसे समाज में बदलाव आते हैं- चाहे वह सामाजिक, राजनीतिक या तकनीकी बदलाव हों- भाषा अपनी शब्दावली में बदलाव करती है। नए विचार, अवधारणाएँ और आवश्यकता के अनुसार भाषा में नए शब्द जुड़ते जाते हैं। इस प्रकार, भाषा का विकास समाज के परिवर्तनशील इतिहास और सांस्कृतिक प्रगति के साथ जुड़ा रहता है, जो समय के साथ नए शब्दों के जन्म और प्रसार को प्रेरित करता है।

कई तकनीकी आविष्कार स्थानीय रूप से विकसित होते हैं, ऐसे में पहले से विकसित और व्यापक रूप से प्रयोग में लाई जाने वाली शब्दावली को ही प्राय: अनुकूल कर लिया जाता है। उदाहरण के लिए, कृषि के क्षेत्र में, स्थानीय किसान अक्सर नए कृषि प्रथाओं या उपकरणों का वर्णन करने के लिए अंग्रेजी शब्दों को अपनाते दिखाई देते हैं। जैसे ट्रेक्टर, मशीन और कभी हिंदी के प्रचलित शब्द रबी-खरीब फसलों के लिए भी इन्हीं शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

समुदाय की भागीदारी:

कई उत्तर पूर्वी भारतीय समुदायों में, भाषा अस्मिता का, उसकी पहचान का माध्यम है। समुदाय के सदस्य अक्सर भाषा के उपयोग पर चर्चा करते हैं, जिससे तकनीकी शब्दावली का विकास

होता है जो स्थानीय अनुभवों के साथ उभरता है। उदाहरण के लिए मणिपुरी भाषा- मणिपुरी मुख्यत: मणिपुर में बोली जाती है। इसके अलावा निकट राज्य असम, त्रिपुरा और वर्मा यानी म्याँमा में भी बोली जाती है। ऐतिहासिक विकास के साथ विभिन्न क्षेत्रो के लिए निर्धारित शब्दावलियाँ प्रचलित हैं, जिनका प्रयोग किया जाता है जैसे मछुवारे के लिए ङा मी करघे के लिए कोन। इसी शब्द को यानी कोन शब्द ही सिलाईमशीन के लिए भी प्रयोग किया जाता है। सूचना प्रौद्योगिकी या Information Technology के उदय के साथ, मणिपुरी ने ꯀꯝꯄꯌꯨꯇꯔ (computer-कंप्यूटर), ꯏꯟꯇꯔꯅꯦꯠ (internet), और ꯁꯣꯐꯇꯋꯦꯌꯔ (software - सॉफ्टवेयर) जैसे शब्दों को अपनाया है। ये शब्द अक्सर अपनी ध्वन्यात्मकता को बनाए रखते हुए मणिपुरी लिपि अब मीतै मयेक में लिखा जाता है।

स्वास्थ्य या चिकित्सा क्षेत्र में मणिपुर की अपनी चिकित्सा पद्धति की शब्दावलियाँ भी प्रचलित हैं। जैसे वैद्य के लिए ꯃꯥꯏꯕ (माइबा), ꯍꯤꯗꯥꯛ (हिदाक-दवा), ꯂꯩꯅ (लैना - रोग) physiotherapy के लिए ꯃꯔꯤ ꯁꯨꯕ (मरी शूबा) आदि। कई चिकित्सा संबंधी शब्दावली अंग्रेजी या हिंदी से उधार ली गई है, लेकिन इन्हें मणिपुरी ध्वनियों के अनुकूल बनाया गया है। जैसे ꯗꯥꯛꯇꯔ (दाकतर - डॉक्टर), ꯅꯔꯁ (नर्स-नर्स) जैसे शब्दों का प्रयोग होता है।

कृषि प्रथाओं के विकास के साथ प्रयोग में आई शब्दावलियों में हल के लिए लाङगोन खेत की मेढ़ बनाने के दाव के लिए लौरी थाङजौ, सूप के लिए याङकोक, मछुवारे के लिए ङा मी (ꯉꯥ ꯃꯤ), धान उगाने के बीज के लिए फौदी आदि शब्दों का प्रयोग होता है वहीं तकनीकी विकास के साथ सुधारित बीज के लिए हायब्रीत मरू "ꯍꯥꯏꯕ꯭ꯔꯤꯗ ꯃꯔꯨ" पेस्टिसाइड के लिए लौ हिदाक (ꯍꯤꯗꯥꯛ) जैसी शब्दावली के निर्माण की आवश्यकता उत्पन्न हुई है।

तकनीकी शब्दावली के सकारात्मक विकास के बावजूद आज भी कई चुनौतियाँ बनी हुई हैं। इसमें सबसे बड़ी चुनौती भाषाई संकट की चुनौती है। आज छोटे समुदायों की भाषाएँ बहुत बड़ी संकट में हैं। कई उत्तर पूर्वी भारतीय भाषाएँ विलुप्त होने के खतरे का सामना ही नहीं कर रहीं, बल्कि कुछ भाषाएँ तो विलुप्त हो चुकी हैं। सिक्किम के दक्षिणी जिले के माझी नाम के एक गाँव में ठेक बहादुर नाम का व्यक्ति रहता था। वह अकेला रह गया था जो माझी भाषा बोलता था। उसकी मृत्यु के साथ माझी भाषा भी विलुप्त हो गई, खत्म हो गई। एक भाषा के विलुप्त होने के साथ उस समाज, संस्कृति और इतिहास का भी अंत हो जाता है।

दूसरी चुनौती युवा पीढ़ी की अपनी भाषा के प्रति उदासीनता को माना जा सकता है। आज की युवा पीढ़ी की दृष्टि समष्टि पर रहती है। तकनीकी विकास ने उनके सामने विशाल दुनिया का द्वार खोलकर रख दिया है। पूरी दुनिया से परिचित करा दिया है, इसलिए युवा पीढ़ी प्रमुख भाषाओं जैसे अंग्रेजी और हिंदी की ओर बढ़ रही है, वहीं वे अपनी भाषा से दूर हो रही है। ऐसे में वे अंग्रेजी और हिंदी शब्दों का प्रयोग अधिक से अधिक करते हैं। यह बदलाव स्वदेशी शब्दावली और सांस्कृतिक धरोहर के नुकसान का कारण बन सकता है। इस ओर भी ध्यान दिए जाने की जरूरत है।

इनके अलावा मानकीकरण की आवश्यकता भी प्रमुख चुनौती है। किसी शब्द का प्रयोग निश्चित अर्थ और निश्चित रूप में ही हो इसके लिए मानकीकरण बहुत आवश्यक है। तकनीकी शब्दावली में मानकीकरण की कमी शब्दों के प्रयोग में भ्रम पैदा कर सकती है और बनी-बनाई व्यवस्था में बाधा उत्पन्न कर सकती है। शब्दावली में एकरूपता और प्रयोग में समानता के लिए मानकीकरण अत्यंत आवश्यक है।

अनुसंधान और दस्तावेजी की भी आवश्यकता है। क्षेत्रीय भाषाओं में तकनीकी शब्दावली के विकास का व्यवस्थित ढँग से दस्तावेजीकरण भी आवश्यक है और उसे बढ़ावा देने के लिए अधिक अनुसंधान की आवश्यकता है, यह सुनिश्चित करते हुए कि वे तेजी से हो रहे वैश्वीकरण और तकनीकी परिवर्तन के सामने प्रासंगिक बने रहें।

निष्कर्ष: निष्कर्षत: कहा जा सकता है, भारतीय भाषाओं में तकनीकी शब्दावली का विकास, विशेष रूप से उत्तर पूर्वी भाषाओं में, सांस्कृतिक पहचान, तकनीकी प्रगति, और भाषाई रचनात्मकता के बीच जटिल संबंध को दर्शाता है। जैसे-जैसे क्षेत्रीय भाषाएँ नई वास्तविकताओं के अनुकूल होती हैं, वे न केवल भाषाई परिदृश्य को समृद्ध करती हैं, बल्कि सांस्कृतिक विरासत को भी संरक्षित करती हैं। इन शब्दों को बढ़ावा देने और मानकीकरण करना आवश्यक है ताकि भाषाएँ वैश्वीकरण और तकनीकी परिवर्तन के सामने जीवंत और प्रासंगिक बनी रहें। स्थानीय भाषा बोलने वालों और शोधकर्ताओं का समर्थन करना और इन शब्दावलियों का दस्तावेजीकरण करना आवश्यक है, जिससे उनकी भाषाई धरोहर में गर्व और स्वामित्व की भावना बढ़ सके।

संदर्भ:

1. तिवारी, रामलाल, 1998, कार्यपरक हिंदी तथा व्याकरणिक नवचिंतन, कृष्ण प्रकाशन लखनऊ
2. जगन्नाथन, वी.रा, प्रथम संस्करण-1967, हिंदी की आधारभूत शब्दावली, केंद्रीय हिंदी संस्थान आगरा, पुनर्मुद्रण 1981
3. प्रशासनिक शब्दावली (हिंदी-अंग्रेजी) वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, भारत सरकार।
4. मणिपुरी बनान काङलोन, बोर्ड ऑफ सेकेंडरी इडूकेशन, मणिपुर
5. छुकी भूटिया सहायक आचार्य सिक्किम विश्वविद्यालय से प्राप्त जानकारी।

❑❑

जनवादी साहित्य के रचनात्मक मूल्य और त्रिलोचन शास्त्री का काव्य

—नाना साहेब गोरे

सार

जनवादी साहित्य सामान्य जनता की दुख दर्द भरी जिंदगी का यथार्थ चित्रण करने वाला यह साहित्य उसकी गहरी आशा और दृढ़ विश्वास को भी अभिव्यक्ति देता है। उनके सुख-दुख, आशा-निराशा, भाव-भावनाओं तथा जय-पराजय को अभिव्यक्त करता है। उनकी संघर्षशीलता, जुझारूपन को अभिव्यक्त करने वाला यह जनवादी साहित्य समाज में स्वतंत्रता, सामानता, बंधुता एवं न्याय आधारित लोकतांत्रिक समाज की स्थापना में योगदान देता है। जनवादी चेतना एक ऐसी विचारधारा है जो वंचितों, पीड़ितों, उपेक्षितों दलितों तथा सर्वहारा वर्ग का पक्ष लेकर शासक-शोषक, सामंतों तथा पूंजीपतियों के विरुद्ध वैचारिक जन जागृति का वैचारिक क्रांति का आंदोलनात्मक अभियान चलाती है जिसका मुख्य उद्देश्य समाजवादी समाज रचना की स्थापना करना है। त्रिलोचन शास्त्री ने भारतीय परिवेश में अपना वैचारिक सृजन करते हुए पूँजीवाद का विरोध किया तथा सर्वहारा वर्ग की संवेदनाओं का अपनी संपूर्ण क्षमताओं के साथ समर्थन किया है। पूँजीपतियों द्वारा सर्वहारा वर्ग के हो रहे शोषण, उत्पीड़न तथा उनकी क्रूरताओं के प्रति अपना तीव्र विरोध प्रदर्शित किया है।

बीज शब्दः *जनवाद, जनवादी चेतना, मार्क्सवाद, सर्वहारा, पूँजीपति, सामंतशाही, प्रगतिवाद, जनतंत्र*

साहित्य हमेशा से ही सामान्य जनता का पक्षधर रहा है इसलिए आम जनता की संवेदनाओं को उसने उसकी संपूर्ण वास्तविकता तथा प्रमाणिकता के साथ चित्रित तथा वर्णित किया है। समयानुरूप समाज में प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष उठने वाले विचारांदोलनों की तरंगों को वह

वाणी प्रदान करता रहा है। यही कारण है कि समय-समय पर विभिन्न विचारधाराओं से साहित्य प्रभावित होता रहा है। इन्हीं विचारधाराओं में से जनवादी विचारधारा एक प्रमुख विचारधारा है जो किसी भी प्रकार के दबाव तंत्र तथा स्वार्थी तत्वों को पनाह देते हुए व्यवस्थागत सत्य तथा वास्तविकताओं को बगैर किसी लाग लपेट के प्रस्तुति में कोई कसर शेष नहीं छोड़ता। परिणामत: वास्तविकता की प्रखर ऊर्जा से यह साहित्य निरंतर अभावग्रस्तों, वंचितों, पीड़ितों की आशा की किरण बना हुआ है। जनवादी साहित्य वह साहित्य होता है जिसमें जनता के दु:ख-दर्दों, मनोभावों, विचारों तथा उनके संपूर्ण जीवन का सूक्ष्म, वास्तविक तथा परिपूर्ण अंकन होता है। सामान्य जन ही इस साहित्य का केंद्र बिंदु होता है। सस्ते मनोरंजन से दूर जन सामान्य की मुक्ति का सशक्त हथियार बना अपने सामाजिक दायित्व का शत-प्रतिशत अविश्रांत रूप से निर्वहन करता रहता है। जनवादी साहित्यकार अपने समय के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक व्यवस्था में बुनियादी परिवर्तन तथा आम जनता को शोषण से मुक्ति दिलाने के लिए अपने साहित्य का सृजन करता रहता है इसीलिए इस साहित्य में आम जनता के दुख-दर्द, जय-पराजय, भाव-भावनाओं का संजीव अंकन दृष्टिगत होता है।

जनवादी विचारधारा राजनीति तथा साहित्य दोनों में दिखाई देती है परंतु राजनीतिक जनवाद से साहित्यिक जनवाद काफी भिन्न है। हिंदी साहित्य के जेष्ठ कवि कुँवर नारायण जी का मानना है कि साहित्य का जनवाद, राजनीति के जनवाद से काफी पुराना है और अधिक व्यापक भी। इसमें जिस साहित्य का सृजन लोकाश्रय में हुआ है वह साहित्य जनता के सुख-दुखों, भावनाओं, विचारों तथा समस्याओं की अभिव्यक्ति का माध्यम बना है। ऐसे साहित्य को जनवादी साहित्य कहा जा सकता है।

अवधारणात्मक अभिव्यक्ति के लिए जिन जनवाद तथा जनतंत्र शब्दों का प्रयोग किया जाता है। ये दोनों शब्द काफी करीबी शब्द हैं। जनतंत्र एक राजनीतिक व्यवस्था है तो यह व्यवस्था जिस विचारधारा या तत्व पर खड़ी है उसे जनवाद कहा जाता है। मुक्तिबोध का मानना है कि 'जनता के मानसिक परिष्कार, उसके आदर्श और मनोरंजन से लेकर क्रांतिपद की तरफ मोड़ने वाला प्राकृतिक शोभा और प्रेम, शोषण और सत्ता के घमंड को चूर करने वाला स्वतंत्रता और मुक्ति गीतों को अभिव्यक्ति देने वाला ये सभी कोटियाँ जनवादी काव्य की हो सकती हैं, बशर्ते कि वह 'मन' को मानवीय 'जन' को व्यापक जन बना सके और 'जनता' को मुक्तिपथ पर अग्रसर कर सके'।[1] कुछ चिंतकों का मानना है कि जनवादी साहित्य मार्क्स दर्शन से प्रभावित वह क्रांतिकारी साहित्य है जो समाज के शोषण, अन्याय, अत्याचार को नष्ट कर समताधिष्ठित समाज की स्थापना का प्रयत्न करता है। व्यष्टि के स्थान पर समष्टि की स्थापना करने वाला यह साहित्य शोषित, पीड़ित मनुष्य के मन में शोषण, अन्याय और अत्याचार के खिलाफ क्रांति की ज्वाला प्रज्वलित करता है। इसी कारण इस साहित्य को इंक्लाबी साहित्य भी कहा जाता है। सामान्य जनता की दुख दर्द भरी जिंदगी का यथार्थ चित्रण करने वाला यह साहित्य उसकी गहरी आशा और दृढ़ विश्वास को भी अभिव्यक्ति देता है। उनके सुख-दुख, आशा-निराशा, भाव-भावनाओं तथा जय-पराजय को अभिव्यक्त करता है। उनकी

संघर्षशीलता, जुझारूपन को अभिव्यक्त करने वाला यह जनवादी साहित्य समाज में स्वतंत्रता, सामानता, बंधुता एवं न्याय आधारित लोकतांत्रिक समाज की स्थापना में योगदान देता है।

जनवाद तथा जनतंत्र इन दोनों के तत्व, आधार तथा नियम काफी मिलते-जुलते हैं। जनवाद, जनतंत्र तथा जनतांत्रिक व्यवस्था की परिकल्पना से ही जुड़ा है जिसके लिए अंग्रेजी में 'डेमोक्रेसी' शब्द का प्रयोग किया जाता है। हिंदी में इसके लिए कई पर्याय उपलब्ध हैं जैसे लोकशाही, जनवाद, जनतंत्र, लोकतंत्र, प्रजातंत्र, जम्हूरियत आदि। परंतु इन पर्यायों में से जनतंत्र शब्द ही अवधारणात्मक अभिव्यक्ति के लिए अत्यधिक मात्रा में प्रयुक्त किया जाता है। डॉ. नामवर सिंह की भूमिका इसमें सुस्पष्ट है। "हम लोग डेमोक्रेसी के लिए जानवर का प्रयोग कर सकते हैं और जनवादी प्रवृत्ति हो सकती है लेकिन जनवादी साहित्य जब हम कहते हैं तो मुझे प्रगतिशीलता में इससे ज्यादा व्यापकता दिखाई पड़ती है जिसकी सीमा जानवर से आगे बढ़कर समाजवाद तक जाती है जा सकती है।"[2] हिंदी साहित्य के वरिष्ठ चिंतक धीरेंद्र वर्मा जी के मातानुसार "जनवाद के मूल में जन शब्द काफी पुराना है। भारतीय वांग्मय में जनपद जन की प्रतिष्ठा काफी प्राचीन काल से चली आ रही है। जनवादी के लिए हम कह सकते हैं कि यह कला, साहित्य और जीवन के विशिष्ट दृष्टिकोण है, जो जनसामान्य को महत्व देता है।"[3] डॉ. कुँवरपाल सिंह अपने विचरों को व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि, "जनवाद का वास्तविक अर्थ पूँजीपति और सामंतीय व्यवस्था और उसके जीवन मूल्यों का सक्रिय विरोध तथा श्रमिक वर्ग और पीड़ित जन के साथ वास्तविक हमदर्दी जिसमें देशभक्त क्रांतिकारी शक्तियों की एकता और उसके संकल्प का नाम है जनवाद।"[4]

जनवादी चेतना एक ऐसी विचारधारा है जो वंचितों, पीड़ितों, उपेक्षितों, दलितों तथा सर्वहारा वर्ग का पक्ष लेकर शासक-शोषक, सामंतों तथा पूँजीपतियों के विरुद्ध वैचारिक जन जागृति का वैचारिक क्रांति का आंदोलनात्मक अभियान चलाती है जिसका मुख्य उद्देश्य समाजवादी समाज रचना की स्थापना करना है। भरत सिंह के शब्दों में, "जनवादी साहित्य से तात्पर्य सामंती और साम्राज्यवादी शोषण और उसके मूल्य के विरुद्ध संघर्ष करना और समाजवादी विकल्प की दिशा में बढ़ते हुए संघर्षरत मानव के दु:ख-दर्दों, आशा-आकाँक्षाओं, प्रेम-घृणा और कठिनाइयों को अभिव्यक्त करना है।"[5] जनवादी चेतना उन सांस्कृतिक मूल्यों को ध्वस्त करना चाहती है जो इंसानों-इंसानों के बीच खाई निर्माण कर रहे हैं। जनता को शिक्षित करना पतनशील सामंती मूल्यों का ह्रास तथा समाजवादी तथा बुर्जआ संस्कृति के स्थान पर जनवादी संस्कृति की स्थापना करना इस साहित्य का प्रमुख लक्ष्य रहा है। "जनवादी कविता सामान्य जनता की जिंदगी को उसकी संपूर्ण प्रतिनिधिकता तथा समग्रता से प्रस्तुत करती है और अपने इसी व्यापक तथा पुष्ट जनाधार के कारण किसी भी समय तथा किसी भी युग में शासक शोषक वर्ग के समक्ष चुनौती के रूप में प्रस्तुत होती है। जनवादी कविता जनता की जिंदगी के बीच उगते हुए उसकी आशाओं, आकाँक्षाओं, उसके सपनों तथा संघर्षों को वाणी देता है। किसी भी राष्ट्र या देश की जनता की अपनी संस्कृति उसके कर्म या आचरण को हम बड़े सहज रूप

में उसमें प्रतिबिंब देख सकते हैं। वह एक स्तर पर जनता के जीवन से उसकी कर्मठता तथा संघर्षशीलता से प्रेरणा लेती है दूसरे स्तर पर जनता को शिक्षित तथा जागृत करते हुए उसके आकांक्षित जीवन को उसके समक्ष चित्रमयता तथा पैनेपन के साथ प्रस्तुत करते हुए उसे अपने इस प्रातव्य तक पहुँचने में मदद करती है।"[6]

जनवादी चेतना के कवियों ने पीड़ित जनता का यथार्थ चित्रण किया है। तत्कालीन समाज की जर्जर रूढ़ियों तथा परंपराओं पर गहरा व्यंग्य किया है। अज्ञान के अंधकार में फँसे दिशाहीन जनता की उन्नति के लिए जनवादी चेतना के कवियों ने प्रयास किया है। जनवादी चेतना का काव्य आंदोलन समस्त जनता के अधिकारों एवं आजादी की घोषणा करता है। कवि त्रिलोचन के शब्दों में-

यह क्रम रुकेगा नहीं, शोषण थम सकेगा नहीं
जबतक चढ़ा ऊपरी का राज्य है
तब तक यह मनुष्य जीवन फल फूल सकेगा नहीं।[7]

इस आंदोलन में मेहनतकश और शोषित जनता की संस्कृति की प्रधानता होती है। साम्राज्यवादी तथा सामंतशाही व्यवस्था में गुलाम बनाये गए कला और साहित्य इस आंदोलन में सामंतों के मनोरंजन के साधन न रहकर आम मेहनतकश जनता के जीवन का अंग बन जाते हैं। इसमें सारी जनता देश के राजनीतिक जीवन में हिस्सा लेती है और राजनीतिक कामों को स्वयं चलाती है। डॉ. कुँवरपाल सिंह के शब्दों में, "जनवादी कविता का चरित्र वस्तुतः सामान्य जन की अनुभूतियाँ उसकी आशा-आकाँक्षाओं और संघर्षों से निर्मित होता है। साधारण जन की जीवन स्थितियों तथा उनसे जुड़ी संवेदनाओं को ठेठ जनता के जीवन के बीच से उभारना, जनता के दैनिक क्रियाकलापों को ही अपनी संवेदना का ताप देते हुए कविता में ढालना, जनता की अपनी बोली यहाँ तक की बातचीत के लहजे तक को अपनी कविता के शिल्प का अंग बना लेना, मौजूदा समाज के परिदृश्य के प्रति जनता के एक-एक तेवर को पहचानते हुए अपनी कविता में उन्हें जीवंतता के साथ प्रस्तुत करना ही जनवादी कविता का मूलभूत चरित्र होता है।"[8]

हिंदी जनवादी कविता यूँ ही अचानक एकाएक रात अस्तित्व में नहीं आयी या केवल विदेशी प्रभाव से मात्र इसका प्रचलन हिंदी साहित्य में नहीं हुआ। भारत में उद्भूत जनवादी विचारधारा भारतीय राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक व्यवस्थाओं तथा स्थिति-परिस्थितियों की देन है। वास्तव में यह चेतना इस देश के साम्राज्यवादी, सामंती, पूँजीपति तथा शोषक शक्तियों के प्रति शोषित समुदाय की मुक्ति का संदेश लेकर आयी तथा साम्राज्यवादी सत्ता के प्रति कड़े विरोध के रूप में डटकर खड़ी हो गयी-

पूँजीवाद ने महत्व नष्ट कर दिया है सबका
जीवन का, जन का समाज का, कला का

बिना पूँजीवाद को मिटाये किसी तरह भी
यह जीवन स्वस्थ नहीं हो सकता
ज्ञान–विज्ञान से किसी प्रकार
कोई कल्याण नहीं हो सकता।[9]

हिंदी जनवादी काव्य ने आरंभ से ही शोषित वर्ग की अन्यायपूर्ण व्यवस्था का विरोध किया है और परिश्रम करने वाले वर्ग के पक्ष में मजबूती तथा आक्रामकता के साथ खड़ा हुआ है। नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, रामविलास शर्मा, त्रिलोचन शास्त्री, शिवमंगल सिंह सुमन, मुक्तिबोध, शमशेर बहादुर सिंह जनवादी साहित्य के बहुचर्चित रचनाकार रहे हैं।

त्रिलोचन शास्त्री ने काव्य लेखन के लिए जनवादी चेतना के विचारधारा को अपनाया और वंचित पीड़ित सर्वहारा वर्ग की संवेदनाओं तथा आक्रोश को उन्होंने क्रांतिकारी वाणी प्रदान की। उन्होंने अपनी कविता के माध्यम से ऐसे समुदाय के आत्म संघर्ष का इतिहास लिखा जिसे भारतीय समाज के इतिहास में कभी भी कोई भी स्थान प्राप्त नहीं हुआ था। उन्होंने 1945 में 'धरती' नामक काव्य संग्रह से अपने जनवादी चेतना को प्रस्तुत करना आरंभ किया और एक समर्पित योद्धा की भाँति आमजनों व्यथा–वेदनाओं को दूर करने के लिए शोषक सत्ताओं से आजीवन साहित्यिक एवं वैचारिक संघर्ष करते रहे। दिविक रमेश के शब्दों में, 'त्रिलोचन की कविताएँ संघर्ष के लिए तैयार कर लेने वाले पक्ष से अधिक जुड़ी है विषम परिस्थिति में व्यक्ति जी सके, टूटे नहीं, अपने को हीन न समझे और विपदाओं को सहते हुए खुद को मजबूत बनाएँ यही त्रिलोचन की कविताओं का मूल लक्ष्य है।'[10] उनके काव्य में सामान्य जन की यथार्थ संवेदनाएँ, अनुभूतियाँ, उनकी आशा–आकाँक्षाएँ, संघर्ष का क्रांतिकारी चित्रण मिलता है। साधारण जन की जीवन स्थितियों तथा उनसे जुड़ी संवेदनाओं को ठेठ जनता के जीवन के बीच से उभारना, जनता के दैनिक क्रियाकलापों को ही अपनी संवेदना को पैनापन देते हुए कविता में ढालना, जनता की अपनी बोली यहाँ तक की बातचीत के लहजे तक को अपनी कविता के शिल्प का अंग बना लेना उनके जनवादी काव्य का चेहरा कहा जाएगा जो अपनी स्वतंत्र पहचान तथा अभिव्यक्तिगत नवीनता का अस्तित्व हिंदी जनवादी काव्य जगत में कायम करता है।

कोई भी व्यवस्था अपने स्वार्थी तत्वों की रक्षा–सुरक्षा के लिए विषमता के जबरदस्त हथियार का प्रयोग करती है। इस व्यवस्था के व्यवस्थापक अपने स्वार्थ की आपूर्ति के लिए व्यवस्थागत खाइयों को अधिक से अधिक गहराने में निरंतर संलग्न रहते हैं। विशेषतया यह विषमता दोनों स्तरों पर निर्मित की जाती है। एक सामाजिक स्तर तथा दूसरा आर्थिक स्तर। इन खाइयों को मजबूत बनाने तथा उन्हें आजीवन पीढ़ी दर पीढ़ी स्वीकार्य बनाने के लिए धार्मिक तथा सांस्कृतिक व्यवस्थाओं का आधार लिया जाता है। उनकी मूल्य–मान्यताएँ, तत्व, नियम विषमता मूलक व्यवस्था के पोषण में निर्मित किए जाते हैं। परिणामतः समाज का एक मुट्ठी भर वर्ग अमीर से अमीर बनता चला जाता है और दूसरा गरीब से गरीब बनता हुआ निरंतर साम्राज्यवादी तथा सामंती शक्तियों की गुलामी में संलग्न रहता है–

और पूँजी खींच-खींच करके सब दुनिया की
मुट्ठी भर पूँजीपति पहले से अधिक मोटे
होते चले जा रहे हैं।[11]

यह व्यवस्था शोषितों की वैचारिक क्षमता पर ही प्रहार कर उसे वैचारिक अपाहिज बना देती है जिससे वे अपनी स्वतंत्र सोच ही न रख सके। हम जो कह रहे हैं वही सत्य, तथ्य, प्रमाण एवं प्रमाणिक है ऐसा दावा अपनी वैचारिक स्वार्थी सोच तथा बाहुबल के माध्यम से करती रहती है। कवि इस विषमता मूलक व्यवस्था का तीव्र विरोधी है। इस प्रकार की पक्षपाती व्यवस्था को दूर कर समतामूलक समाज व्यवस्था के निर्माण में अपनी काव्य यात्रा को संलग्न करता है। आम आदमी का पक्ष लेता हुआ कवि कहता है-

उस जनपद का कवि हूँ, जो भूखा-दूखा है,
नंगा, अनजान है, कला नहीं जानता।[12]

पूँजीपतियों की चालें तथा षड्यंत्रों की पोल खोलता हुआ कवि लिखता है-

इस अकारण पीड़ा का मोरई उपचार कौन सा करता
वह तो इसे पूर्व जन्म का प्रसाद कहता था
राष्ट्रों के स्वार्थ और कूटनीति
पूँजीपतियों की चालें
वह समझे तो कैसे!
अनपढ़ देहाती, रेल-तार से बहुत दूर[13]

आधुनिक काल के साहित्य में सर्वहारा वर्ग की प्रधानता का साहित्य रहा। हिंदी साहित्य के जेष्ठ समीक्षक मैनेजर पांडेय के शब्दों में, 'वास्तव में अब तक का सारा साहित्य अल्पमत का साहित्य रहा है लेकिन सर्वहारा साहित्य सच्चे अर्थों में बहुमत का साहित्य होता है, क्योंकि इसमें सभी शोषित वर्गों के जीवन संघर्ष और चेतना की व्यंजना होती है। अगर किसी साहित्य में सभी शोषित वर्गों का समावेश होता है, लेकिन उसमें सर्वहारा के क्रांतिकारी रूप और भूमिका की व्यंजना होती है तो ऐसे साहित्य को जनवादी साहित्य कहने से कोई खास फर्क नहीं पड़ता- जब भी साहित्य में सामाजिक परिवर्तन का स्वर उभरता है साहित्य का जनवादी स्वरूप विकसित होने लगता है साहित्य में जनता की आवाज सुनाई पड़ने लगती है शब्द और कर्म की दूरी घटने लगती है क्रांतिकारी साहित्य का विकास होता है तो शब्द और कर्म की एकता से चिंतित साहित्यकार तरह-तरह के नए तत्वों और सिद्धांतों के सहारे उस एकता को खंडित करने की कोशिश करने लगता है।'[14] आर्थिक विषमता ने जो वर्गभेद की खाई निर्माण की तथा शोषण की आधार बनी इस व्यवस्था के शिकंजे से विश्व मानव को मुक्त करने के अभियान ने मूर्त स्वरूप धारण किया जिसे मार्क्स तथा एंगल्स ने अपनी वैचारिक रसद पहुँचाई।

इसी वैचारिक आंदोलन के प्रभाव में साहित्य सर्वहारा वर्ग की वाणी बनकर मुखरित ही नहीं हुआ अपितु सर्वहारा वर्ग की सोई चेतना को जागृत कर अपने अधिकारों के लिए संघर्ष की क्रांतिकारी चेतना भी प्रदान करता रहा। त्रिलोचन शास्त्री ने भारतीय परिवेश में अपना वैचारिक सृजन करते हुए पूँजीवाद का विरोध करते हुए सर्वहारा वर्ग की संवेदनाओं का अपनी संपूर्ण क्षमताओं के साथ समर्थन किया है। पूँजीपतियों द्वारा सर्वहारा वर्ग के हो रहे शोषण, उत्पीड़न तथा उनकी क्रूरताओं के प्रति अपना तीव्र विरोध प्रदर्शित करते हुए त्रिलोचन शास्त्री लिखते हैं–

"पूँजीवाद ने महत्व नष्ट कर दिया सबका
जीवन का धन का, समाज का, कला का
बिना पूँजीवाद को मिटाये किसी तरह भी
यह जीवन स्वस्थ नहीं हो सकता।"[15]

क्रांति के लिए एक मजबूत वैचारिक पृष्ठभूमि की आवश्यकता होती है। वैचारिक प्रौढ़ता हमारे कार्य को बिखरने से बचाकर गतिशीलता प्रदान करती है। केवल वैचारिक आधार को हमें सहेजते, सहलाते नहीं बैठना है अपितु उसे क्रियात्मक ऊर्जा भी प्रदान करनी है। कवि क्रांति के वैचारिक तथा क्रियात्मक दोनों पक्षों को महत्वपूर्ण मानते हैं। क्रांति के लिए सबसे पहले हमारी सोच में परिवर्तन लाना आवश्यक है जब तक हम अपनी सोच में परिवर्तन लाकर नई वैचारिक आधार भूमि नहीं बनाते हैं तब तक परिवर्तनकारी आंदोलन में गति नहीं आ पाती। वैचारिक परिवर्तन केवल मन में ही न रखते हुए उसे क्रियात्मक मार्ग से सार्थ तथा मूर्ति बनाना है। इसलिए कवि लिखते हैं–

मुक्ति चाहते हो तो आओ धक्के मारे
और ढहा दें... स्तब्ध खड़े हो
किस दुविधा में, हिचक छोड़ दो, जरा कड़े हो
आओ, अलगानेवाले अवरोध निवारे।[16]

राजनीतिक दृष्टि से जनता की सत्ता को जनवाद कहा जाता है। जब एक विशेष वर्ग की सत्ता समाप्त कर सर्वसामान्य उस सत्ता पर आसीन होता है उसे जनवाद कहा जाता हैं। जनवाद की इस स्थापना में शोषित पीड़ित समाज की सारी ईकाइयाँ कार्य तथा संघर्ष करती हैं। अतः जनवादी सत्ता को स्थापित करने के लिए साहित्यकार भी अपनी भूमिका निभाता है। अपने साहित्य के माध्यम से वह सर्वहारा, कृषक, मजदूर वर्ग की चेतना जागृत कर जनवादी क्रांति के लिए अनुकूल वातावरण निर्मित करता है। मंगल किशोर पाण्डेय के शब्दों में, "जो साहित्य हमारे पुराने संस्कारों को धोकर हम में अच्छे–अच्छे संस्कार भरे तथा जो सामंतवादी समाज की जर्जर व्यवस्था को चकनाचूर कर उसके स्थान पर वर्ग विहीन समाजवादी व्यवस्था की स्थापना करें, वही जनवादी साहित्य है।"[17] त्रिलोचन व्यवस्था परिवर्तन के लिए अपनी आक्रामक भूमिका प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं–

तुम करो नष्ट सब भेदभाव
तुम हरो निखिल जग का अभाव
सब बाधा हर कर
होकर तत्पर
नव साहस भर
तुम विजई बनकर अपना नियमन आप करो
जीवन की संचित व्याकुलता सब ताप हरो।[18]

पूँजीपतियों तथा सामंती मानसिकता के हाथ का खिलौना बनी यह व्यवस्था उनके अय्याशी मानसिकता से मुक्त करनी है तभी सामान्य जन का हित होगा। इस व्यवस्था की बहाली सामान्य जन के हाथ करनी है तथा शोषण मुक्त समाज व्यवस्था का निर्माण करना है तो निश्चय ही क्रांति के सिवा और कोई मार्ग नहीं। यह व्यवस्था इतनी क्रूर, निष्ठुर, शोषक, स्वार्थी तथा अपनी अत्याचारी मूल्य परंपराओं का निरंतर जतन करते हुए अडिगता से रौब जमाते हुए खड़ी रहने वाली है जो किसी के माँगने या घिघियाने से कुछ देने वाली नहीं है। अपनी माँगों की वाणी में ताकत लानी होगी और कार्यावेग को बढ़ाना होगा।

निष्कर्ष: निश्चय ही जनवादी साहित्य जनता का साहित्य है। इसमें जनता के सुख-दुखों मनोभावों, विचारों के साथ जीवन का सूक्ष्म प्रतिबिंब अंकित होता है। यह साहित्य जरूर मार्क्स के विचारों से प्रभावित रहा है। परंतु यह जरूरी नहीं कि साहित्य की प्रत्येक अभिव्यक्ति मार्क्स से ही प्रभावित हो। जनवादी साहित्य की अपनी स्वतंत्र मूल्य मान्यताएँ तथा वैचारिक जमीन है उसी की मजबूत जमीन पर यह साहित्य टिका हुआ है। इस साहित्य की संवेदना का केंद्र बिंदु है सामान्य जनता की शोषण से मुक्ति। इस मुक्ति की कामना हेतु वह परिवर्तन का वैचारिक क्रांतिकारी हथियार बनता है। शोषितों के अन्य अत्याचारों के विरुद्ध संघर्ष के लिए संगठनात्मक अभियान तथा आंदोलन की आवश्यकता होती है। इस संगठनात्मक आंदोलन के लिए वैचारिक जमीन तैयार करने का कार्य जनवादी साहित्य निरंतर करता रहा है। संगठन के लिए शोषितों की जागृति आवश्यक होती है इन शोषितों की जागृति का महत्वपूर्ण कार्य जनवादी साहित्य करता रहा है। समाज की शोषित, पीड़ित, मेहनतकश जनता का पक्ष लेकर उन पर होने वाले अत्याचारों के खिलाफ जनता को जागृत करने का कार्य तथा क्रांतियाँ परिवर्तन के लिए अनुकूल वैचारिक वातावरण निर्माण करने का कार्य जनवादी साहित्य करता रहा है। यही कारण है कि यह साहित्य समाज के अत्यधिक निकट पहुँचा हुआ है। जनवादी साहित्यकार अपने समय की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक व्यवस्था में बुनियादी परिवर्तन लाने तथा सामान्य जन को इन व्यवस्थाओं की सुरक्षा में किये जाने वाले अन्याय अत्याचारों से निजात दिलाने के लिए अपने साहित्य का सृजन करता है। उनके दुख-दर्द, जय-पराजय, भाव-भावनाओं का सजीव अंकन करते हुए जनता का पक्ष लेकर उनके मन में परिवर्तनकारी चेतना जागृत करने का कार्य करता है।

संदर्भः

1. मुक्तिबोध रचनावली–खंड–5 – सं. नेमिचंद जैन, वाणी प्रकाशन दिल्ली पृ. 76
2. आलोचना की धारा – चंद्रभूषण तिवारी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 39
3. साहित्य कोश – भाग: 1– धीरेंद्र वर्मा, ज्ञानमंडल प्रकाशन, वाराणसी, पृ. 333
4. उत्तरार्ध – कुँवरपाल सिंह : अंक 20 अक्टूबर, 1962, वाणी प्रकाशन दिल्ली, पृ. 108
5. साहित्य और राजनीति – सं. कुँवरपाल सिंह, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 186
6. उत्तरार्ध – डॉ. शिवकुमार मिश्र : अंक 20 अक्टूबर, 1982, पृ. 21
7. धरती – त्रिलोचन, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 97
8. ब्रजगरिमा (मथुरा) – कुँवरपाल सिंह, फरवरी–मार्च, 1991, पृ. 30
9. धरती – त्रिलोचन, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 98
10. साक्षात त्रिलोचन – दिविक रमेश, किताबघर प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 130
11. धरती – त्रिलोचन, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 97
12. मैं उस जनपद का कवि हूँ – त्रिलोचन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 30
13. धरती भोरई केवट के घर – त्रिलोचन, विद्या प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 96
14. शब्द और कर्म – मैनेजर पाण्डेय, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 44
15. धरती – त्रिलोचन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 90
16. मैं उस जनपद का कवि हूँ – त्रिलोचन, राजकमल प्रकाशन, पृ. 93
17. हंस अंक 12 जुलाई, 1946, पृ. 12
18. धरती – त्रिलोचन, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 17

❑❑

अहिरानी ओवियों में अभिव्यक्त भावात्मक सौंदर्य

—उर्मिला दिनकर पाटील/गजानन सुरेश वानखेड़े

सार

खानदेश में प्रचलित लेवा, अहिरानी, पावरी, भीली, मावची बोलियों में से अधिक मात्रा में अहिरानी में साहित्यिक रचनाएँ मिलती हैं। उनमें गीत, कथा, ओवी, कहावतें, पहेलियाँ आदि का समृद्ध भंडार उपलब्ध है। ओविओं में तो मानव जीवन की जीती जागती, स्वाभाविक तस्वीरें उभर कर आई हैं। इनमें पारिवारिक रिश्तों संबंधी कटु और मीठे अनुभव और संवेदनाओं की सूक्ष अभिव्यक्ति मिलती है।

ओविओं में माता–पिता, बहन, भाई, सास –ससुर, देवर, जेठानी, नाती–पोती के एक–दूसरे के साथ आचरण, व्यवहार का वर्णन मिलता है। भाषा, बोली भले अलग हो किंतु भावों और संवेदनाओं की अभिव्यक्ति सभी में एक जैसी मिलती है। अहिरानी बोली की ओविओं में हर्ष, आनंद, वेदना, दु:ख, करुणा, माया, ममता, स्नेह, प्रेम और सेवा, समर्पण, त्याग आदि मूल्यों का वर्णन मिलता है। इन्हें पढ़कर ही रसास्वाद लिया जा सकता है।

आलेख में बीज शब्द

- *अहिरानी – महाराष्ट्र के खान देश–प्रदेश की बोली भाषा*
- *झिंजी गयात–घीसे गये, पतले हो गये।*
- *रूपनी आवाई–रूप सौंदर्य का बोलबाला।*
- *बंगई–लकड़ी की पट्टियों से बना झूला।*
- *आयबा–पिताजी*
- *हिर्दे राही जाई–दिल में रह जाएगा।*
- *ववायाले–आरती उतारने।*
- *इसरनी–भूल गई।*
- *शिरा–हलवा।*

उर्मिला दिनकर पाटील/गजानन सुरेश वानखेड़े

खानदेश यह मूलतः आभिर या अहीरों का देश माना जाता है। रामायण, महाभारत, पुराण ग्रंथों में आभिरों का उल्लेख मिलता है। (महाभारत सभा पर्व अध्याय 32 शोक 10 में) खानदेश में वळवी, पाडवी, भील्ल, कोकणी, गुर्जर, परदेशी, राजपूत, बुनकर आदि अनेक जन–जातियाँ हैं, उनकी विभिन्न बोलियों और उनमें विपुल साहित्य प्रचलित है। इन सबमें अहिरानी प्रमुख बोली रही है। प्राचीन काल से अहिरानी परंपरागत मौखिक रूप से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक प्रवाहित होती रही है। इस बोली का रूप विभाग, क्षेत्र, प्रदेश, गाँव, व्यक्ति आदि के कारण परिवर्तित होता रहा है। कहा गया है कि–

चार कोस पर पानी बदले,
आठ कोस पर बानी।

खानदेश में आभिरों का राज था इसलिए उनकी बोली को खानदेशी कहा गया। अधिकतर आभिर खेती करते थे। कृषि तथा अन्य व्यवसायों के लोक संपर्क के कारण बागलानी, वरहल्यांगी, खाल्यांगी, डोंगरांगी, नंदुरबारी, पूर्व खानदेसी, पश्चिम खानदेशी आदि भेद बने हैं। खानदेश के जलगाँव, धुलिया नासिक जिले की प्रमुख बोली अहिरानी है। जल गाँव जिले के रावेर, मुक्ताईनगर, भुसावल पाचोरा तहसील के कुछ क्षेत्रों में धुलिया जिले के साक्री, नंदुरबार, शहादा, शिंदखेड़ा, शिरपुर के कुछ गाँवों में, नासिक जिले के कळवण, माले गाँव, सटाणा के कुछ हिस्सों में तथा औरंगाबाद के सोयगाव, कन्नड में अहिरानी बोली जाती है लेकिन इन क्षेत्रों में बोली के परिवर्तित रूप मिलते हैं। भाषा–वैज्ञानिक सर जॉर्ज ग्रियर्सन ने भारत की अनेक बोली भाषा/उपभाषाओं में से अहिरानी को प्राचीन बोली माना है, वह महाराष्ट्र के प्रमुख बोलियाँ में से एक है। अहिरानी मधुर, सरस, रसपूर्ण है। उसमें गीत, कथा, ओवी, कहावतें, लोकोक्तियाँ, पहेलियाँ, वही आदि उपलब्ध हैं। जिनमें समाज जीवन–उत्सव, पर्व, पारिवारिक जीवन आदि, मानव मन की भावनाएँ– प्रेम, स्नेह, लाड़–प्यार–दुलार, वात्सल्य, माया, ममता, त्याग, समर्पण आदि की बड़ी सहजता से अभिव्यक्ति की गयी है। समाज में वांशिक, भाषिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक आदि के कारण अनेक संस्कृतियों का जन्म हुआ है। पारिवारिक संस्थाओं का निर्माण, आपसी भेदाभेदों से मनुष्य जीवन में विभाजन, परिवार में रिश्ते नातों द्वारा मानवी जीवन में सुसंवाद स्थापित करने का प्रयास किया जाता रहा है। इन्हीं से जीवन सुखद, इसके बिना जीवन अधूरा लगता है।

अनेक अहिरानी अध्येताओं ने अहिरानी पर अनुसंधान, साहित्य लेखन किया है जिनमें कुछ नाम इस प्रकार लिए जा सकते हैं– डॉ. श्याम राव सूर्यवंशी, डॉ. रमेश सूर्यवंशी, कृष्णा पाटील, डॉ. उषा सावंत, श्री दामोदर बोरसे, तोताराम चोपड़े, प्रो. अशोक शिंदे, डॉ. शशिकांत पाटील, शकुंतला पाटील, सौ. शालिनी नारखेडे, डॉ. बाबूराव देसाई, डॉ. सुधाकर चौधरी, डॉ. बाळा साहेब गुंजाळ, प्रो. कापडनीस, डॉ. सुनील कुलकर्णी, डॉ. रमेश सूर्यवंशी, डॉ. म.सु. पगारे, ह.ब.प. अशोक जी

महाराज चौधरी शिरपूरकर आदि। अनेक विद्वानों ने अनुसंधान, संकलन करके तथा स्वतंत्र रूप से अहिरानी में पुस्तकों का प्रकाशन किया है। उसी अहिरानी के लोकसाहित्य में लोकगीत, लोककथा, ओवी, वही, उखाणे, लोकोक्तियाँ, कहावतें आदि का अंतर्भाव किया हुआ मिलता है। जीवन के विविध क्षेत्रों एवं निजी अनुभवों को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक संक्रमित करते हुए अहिरानी बोली का यह अक्षय भंडार भविष्य के लिए उपयुक्त रहेगा।

मनुष्य जीवन में परिवार का अत्यधिक महत्व है। बच्चों का जन्म, पालन-पोषण, संस्कार, समाज के आचार-व्यवहार, सद्गुणों का विकास, आदर्श मूल्य की सीख, पारिवारिक एवं बाहरी जीवन में सार्थक रिश्ते बनाना, शक्ति एवं ऊर्जा का केंद्र, भावात्मक स्रोत, संबंधों में आत्मीयता परिवार से संभव है। इसीलिए परिवार को संस्कृति एवं जीवन मूल्यों की पाठशाला कहा गया है।

समाज की छोटी सी इकाई है परिवार। परिवार रूपी संस्था से समाज एवं राष्ट्र के उन्नयन का मार्ग प्रशस्त होता है। मनुष्य अकेले रहना पसंद नहीं करता अपनी जरूरतों की पूर्णता एवं सुरक्षा के लिए उसने परिवार और समाज बना लिया है। परिवार में पति-पत्नी, माता-पिता, भाई-बहनें आदि सदस्य रहते हैं। अतिरिक्त सास-ससुर, ननंद-भावज, चाचा-चाची, ताई-ताऊ, मामा-मामी, दादा-दादी, नाना-नानी, बहू, देवर-देवरानी, जेठ-जेठानी, भांजा-भांजी, नाती-पोती, फूफा-फूफी आदि रिश्तेदार समाज में सभी अपनी पहचान बनाते हैं। मनुष्य समाज में रहकर समाज के मानदंडों का पालन करता है। पारिवारिक जीवन में मेलजोल एक-दूसरे के प्रति स्नेह, सहृदयता का भाव, सामाजिक संबंधों के कारण मानसिक एवं भावात्मक स्वास्थ्य, चिंता, तनाव अवसाद कम करने में मदद मिलती है। सामाजिक रीति, नीति, प्रथा, संस्कृति का पालन मानव कल्याण हेतु आवश्यक होता है।

अहिरानी ओवी साहित्य के आधार पर परिवार के महत्वपूर्ण रिश्तों की भावनाओं की अभिव्यक्ति कुछ उदाहरणों के द्वारा देने का प्रयास किया गया है। परिवार में बच्चों को जन्म देने के बाद स्त्री को मातृत्व की प्राप्ति होती, समाज की दृष्टि से वह उस बच्चे की माँ कहलाती है। बच्चे के जन्म से जवानी तक के जीवन में माँ की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। बच्चों के सर्वांगीण विकास के लिए माँ का त्याग, समर्पण, निस्वार्थ प्रेम, कर्तव्य की प्रतिबद्धता बेजोड़ रही है। माँ-बेटी की भावनाओं की ओवियों में अभिव्यक्ति मिलती है। अनेक यातनाओं को सहन करते हुए पेट की बंद कोठरी में नौ महीनों तक संभालने वाली माता के प्रति बेटी का कथन है-

नऊ महिना नऊ दिन मायबाई ना पोटात।
न्है लागत ऊन- वारा तुन्हा तूय बंदी कोठ्यात॥ (मन्ह गोत)

जन्म के बाद माँ ने बाल घुट्टी पिला-पिलाकर बेटी के शरीर में मजबूती लाने का प्रयास किया है। उसे पता है बेटी ससुराल में जाने के बाद उसे कामकाज करना ही पड़ेगा। बेटी माँ की सहनशीलता का वर्णन करती है-

माय माय करू मायना उपकार फेडू कोठे।
घुटी उगाई उगाई झिंजी गयात पाँची बोटे॥ (नाती-गोती)

शारीरिक मजबूती के लिए माँ ने वन औषधियों का उपयोग किया है-

कामकरी करी मंह्या बाह्या लोखंडन्या।
मायबाईने दिन्यात घुट्या जायफय येखंडन्या॥ (मन्ह गोत)

माँ का प्रेम, ममता, माया अतुलनीय है, जब कभी आपदा आती है तब माँ की याद आती है-

माय माय करू माय चिकनी मलाई।
जठे मुडे काँटा याद मायले बलाई॥ (नाती गोती)

माँ की मेहनत कष्ट को बेटी ही जानती है। दोनों एक-दूसरे को अपनी बातों में साझा करती रहती है। माँ का बेटी के साथ लगाव गहरा रहता है क्योंकि शादी के बाद वह मायका छोड़कर दूसरे परिवार में -ससुराल में जाना पड़ता है। पहली बार पाँव भारी रहने के कारण परिवार के वारिस अर्थात् बेटे की इच्छा स्त्री के मन में रहना स्वाभाविक है। अपने मन को तसल्ली देते हुए वह मन ही मन सोचती है कि हे भगवान लड़की तो लड़की, वह मेरे सुख-दुख में काम आनेवाले ही है। जैसे-

हिरा हिरा करू माले हिरकनी झाई।
आसू दे देवा सुक-दुकले काम येई॥ (खानदेशी लो.सा.)

पिताजी माँ को समझाते हैं-

लेकना कटाया नको करू ईठाई।
सोनाली सोनबाई चिड़ी सारखी उड़ी जाई॥ (नाती गोती)

पिताजी जानते है कि बेटी घर में रौनक है, दूसरे घर में खुशियाँ फैलती हैं, संस्कारों की खान है, माता-पिता का मान है और परिवार की शान है। शादी के बाद जब वह चली जाएगी, तो पूरा घर सूना-सूना लगेगा। माँ बेटी को कहती है कि तू ज्यादा प्रेम मत लगाओ तुम्हें पराए कर जाना है, तुम्हारी याद हमें सताती रहेगी-

लाड़की लेक बापमान नको जेवू।
परायी घर जानं, जास्त मया नको लावू॥ (नाती गोती)

रूपवती कन्या को देखकर मन ही मन खुश होकर कहती है-

लाडकी वं लेक तुन्हा रुपनी आवाई।
धवयां घोड़ावर चंद्रा सारखा जवाई॥ (खानदेशी लो.सा.)

रूपवती बेटी को चंद्र के समान सुंदर दामाद मिला। माँ को इसके सिवा और क्या चाहिए? बेटी दामाद को देख कर उसे संतोष होता है–

जवाई से सोनं, लेक नागीनं पान।
दोन्हीसले देखीसन माय मनले समाधान॥ (नाती गोती)

दामाद ससुराल में आता है, उसका आदरातिथ्य बड़े सम्मान के साथ किया जाता है, छोटी–छोटी बातों का ध्यान रखा जाता है, वहाँ के ऐश्वर्य का वर्णन तो देखिए–

जवाई करस अंघोय पानी सोनानं गंगाई।
न्हाईबुवा ऊटनं लाव, झोका देरे तू बंगई॥ (नाती गोती)

बेटी की शादी के बाद मायका भले पराया हो जाए किंतु मायके का आकर्षण बेटी को अधिक रहता है। माता–पिता भाई के प्रति उसका स्नेह जुड़ा रहता है–

बाप द्राक्षांना घड माय चारोयी लागे गोड।
यासनां करता माल्हे माहेरनं येड॥ (खानदेशी लो.सा.)

मायके में संपन्नता, धन–दौलत की विपुलता, पारिवारिक मेल–जोल, आत्मीयता भरा व्यवहार व्यक्त करते हुए बेटी कहती है–

सहेरना मानुस काय देखसी खेडाले।
सोनान कुलूप मन्हा आयबाना वाडाले॥ (खानदेशी लो.सा.)

पन्नास पुतयीस्ना हार लोंबकये गादीवर।
मन्ही जन्म देती माता नातू रवाड़े मांड़ीवर॥ (खानदेशी लो.सा.)

बेटी के मायके में संपन्नता है, पिताजी के बाड़े में लगा ताला सोने का है। माँ के गले में पचास सोने की पुतलियों के लंबी माला है। बेटी के ससुराल में भी ऐश्वर्य संपन्नता है। बड़े–बड़े मकान, गायें–बैल हैं। जानवरों के खान–पान के लिए सोने के घंगाल है–

मोठ मन घर माले मोठ–मोठ लागे।
सोनानं घंगाय दान बैलेंसन भीजे॥ (खांदेशी लो.सा.)

बेटी के ससुराल में ननंद, देवर–देवरानी, जेठ–जेठानी, सास–ससुर संयुक्त परिवार। सभी एक साथ बड़े आनंद के साथ जीवन–यापन कर रहे हैं। घर में किसी चीज की कमी नहीं है, सभी मिल–जुलकर काम करते हैं। एक–दूसरे के प्रति प्रेम, स्नेह, अपनापन होने के कारण घर में सुख शांति नजर आती है।

देरान्या जेठान्या आम्ही एक चित्ते राऊ।
रांजननं पानी आपू चौघीजनी व्हाऊ॥ (खानदेशी लो.सा.)

बेटी की माँ बहुत अच्छी स्वादिष्ट रसोई बनाती है। बेटी माँ से कहती है- कि तुम्हारे समान अच्छी रसोई बनाना मुझे सिखा दो तांकि मुझे ससुराल में कोई नाम ना रखें।

ससुराल में मुझे देवरानी-जेठानी के साथ रहना है। किसी ने मेरी बनाई रसोई को नाम नहीं रखना चाहिए।

सांजोरीना सांजा माले शिकाडी देजो मायाबाई।
देर, जेठ म्हा नांदन मन्हा हिर्दे राही जाई॥ (मन्ह गोत)

स्त्री मानस की भूमिका अलग-अलग होती है, एक ओर संस्कृति को आगे बढ़ने का तो दूसरी ओर अपनी आकाँक्षा और वेदनाओं की अभिव्यक्ति करती है। ननद-भावज में कभी-कभी धूस-फूस होती है किंतु पति का साथ बेटी के लिए बड़ा आधार बन जाता है। ननंद छोटी है अत: पति उसकी बातों पर ध्यान नहीं देते-

धाकली ननीन ननीन मन्ही कयलाई।
तिन्हा बोल राम मनावर लेत नई॥ (खानदेशी लो.सा.)

ससुराल में आते समय माँ अपनी बेटी को संसार की रीति समझाते हुए उपदेश देती है- कि बेटी ससुराल ही तुम्हारा हक का घर है, सब कुछ सह लेना। यह स्थिति हमेशा तो रहने वाली नहीं है। परिवर्तन ही सृष्टि का नियम है। ससुराल का जाँच, ननंन के कटु बोल सुन लेना, उन्हें कभी वापस जवाब ना देना, तभी ससुराल में तुम्हारा मान रखा जाएगा।

सासूना सासर्वासा नंदा बोलती तिड़ी-तिड़ी।
मायबाई कसी म्हने ऐकीलेजो वं सोनचिड़ी॥ (मन्ह गोत)

बेटी काफी समझदार है, सहनशील है, आत्मविश्वासू है। माँ को समझाती है कि तुम कोई चिंता ना करो, मैं सब कुछ बर्दाश्त कर लूंगी-

लेक सांगी गई, माया ठेव तू मनमा।
सीता सारखा मी दिन काढसू वनमा॥ (खानदेशी लो.सा.)

ससुराल में उसने अपने व्यवहार से अच्छा स्थान बना लिया है। चचेरा देवर घर में ताई, ताई अक्सर पुकारते रहता है-

ताई, ताई करी हाका मारास डिकरा।
वसरीले उभा देऊ रावले व्हकारा॥ (खानदेशी लो.सा.)

किसी के घर में शांति, आनंद देखकर पड़ोस की स्त्रियों के मन में इर्ष्या होती है। सास–बहू के झगड़े में पड़ोसन आग में घी डालने का काम भी करती है। सयाना पति अपनी पत्नी को ही इशारे से चुप रहने को कहता है–

सासू सून न भांडन मझार शेजीन लावनं।
दारी उभा राम, डावा डोयानी दाबन॥ (नाती गोती)

ससुराल में बहुत दिन हो चुके हैं। अब उसे छोटा बच्चा भी है। सासू माँ जब जांते पर उसे अनाज पीसने के लिए कहती है, तब वह कहती है कि बड़ी मनौती के उपरांत भटाई माता की कृपा से बच्चा हुआ है, वह एक ही महीने का है, तब मैं यह काम कैसे करूँ?

सासू आत्याबाई कसा घट्यावर म्हनू गाना।
लाड़का नातू भटा, भटा से ना जी महीना ना॥ (नाती गोती)

जीवन सुख–दुख से भरा हुआ है, कभी सुख की माया तो कभी दुख की छाया। समाज में भी सभी की स्थिति एक जैसी नहीं होती, कई लोग अमीरी में ऐशों आराम की जिंदगी जीते हैं तो कई गरीबी में कष्ट, मेहनत करके सुखपूर्वक जीवन जीने की कोशिश करते हैं। अमीर माता–पिता की बेटी ससुराल के सामान्य परिवार में भी सुखपूर्वक जीवन जीने का चित्रण किया गया है–

दुबया भरतार आने भाजीयानी मोट।
मोठानी से लेक हासत सोड़ी गाट॥ (खानदेशी लो.सा.)

माँ के घर में अर्थात् मेरे मायके के घर परिवार में भाई भावज उनके बच्चे बड़े आनंद से रहते हैं। बेटियों के ससुराल में भी कोई कमी नहीं। माँ को तृप्ति का एहसास होता है। उसने तो बहू और बेटियों में कोई अंतर नहीं किया है। उत्सव पर्व–दिवाली अखातीज के समय भाई के घर जाने वाली बहन अपनी भावज के साथ घुलमिल कर रहती है। वह कहती है–

ननीन भावजाया हुब्या आम्ही वसरीले।
लेकी तस्या सुना मन्ही माय माऊलीले॥ (मन्ह गोत)

भाई–बहन एक–दूसरे के सुख–दुख के साथी होते हैं। विवाह के बाद भाई–बहन अपने–अपने संसार में मगन हो जाते हैं। अलग–अलग गाँव में रहने के कारण साल भर में केवल एक–दो बार ही बहन का आना–जाना होता है क्योंकि उसके जन्मदाता माता–पिता भाई के घर में रहते हैं। माता–पिता की याद आने के कारण उसे मायके में उन्हें मिलने की इच्छा होती है। आँगन के पेड़ पर बैठे कौवे की आवाज सुनकर बहन सोचती है–

हाड्या कोकावस कोन ई वं पाव्हना।
दिवाईना सन जोड़े बंधुरायना येवा से ना॥ (खानदेशी लो.सा.)

माँ के मन में भी बेटी के आने की उत्कंठा रहती है। दिवाली के समय गली-गली में, घर-घर में आकाशदीप जलते हैं, यह देखकर माँ सोचती है कि आज मेरी मथुरा जरूर आएगी-

दिवाइना रोज, रोज धाबे-धाबे दिवा।
माय कशी म्हने, आज मथोराना येवा॥ (नाती गोती)

दिवाली के समय भाई-बहन को लेने के लिए ससुराल में जाता है। बहन को लाने की खुशी में उसे ना धूप लगती है ना हवा-

भाऊ रे तुन्हीं घोड़ी निया आसमानना तारा।
बहिनना गाँव जासी नहीं लागे ऊन-वारा॥ (नाती गोती)

भैया उसके ससुराल में आने के कारण बहन फूली नहीं समाती। उसकी मेहमान नवाजी करने के उपरांत वह अपने ससुर जी से कहती है-

दिवाइना सन नका परतवा सासराजी।
भाऊले ववायाले सन नहीं दूसरा जी॥ (नाती गोती)

दिवाली का उत्सव बड़े आनंद से मनाया जाने के बाद बहन अपने भाई से आग्रह करती है कि अब मुझे मेरे ससुराल में पहुँचा दो-

दादा जावू दे तू माल्हे आते सरनी दिवाई।
घर रात-दिन मन्ही, राम वाट दखतं व्हई॥ (नाती गोती)

मायके में आने के बाद वह अपनी भाँजी को बहू बनाने के बात भाई से जरूर करने वाली है। भाँजी सुंदर है। मेरे घर में भी किसी बात की उसे कमी नहीं रहेगी। उसे सोने के गहने पहनाऊँगी। उसके आने से घर में चहल पहल रहेगी-

भासी करी सून-सून भासी साजे।
कड़ा-तोड़ास्र मन्ह तयघर वाजे॥ (खानदेशी लो.सा.)

अपने भैया के साथ जब वह मायके आई है, माता-पिता कहीं देखाई नहीं देते, उसका मिलनोत्सुक मन बेचैन हो जाता है। अबकी बार उसे घर का माहौल बदला-बदला सा लगता है, भाभी भी कुछ नहीं बोल रही है-

माय माय करू कथी गई मायबाई।
व्हकारा देते नहीं घर दारनी भवजाई॥ (खानदेशी लो.सा.)

भाई पत्नी को आवाज देकर बड़े हर्ष के साथ कहता है, कल्पना देखो ताई आई है। तब वह गुस्से में कहती है वह मिलने नहीं तुम्हें लूटने के लिए आई है-

भाऊ कसा म्हने ताई ऊनीना भेटाले।
भवजायी कल्पना म्हने, उनी ननीन लूटाले॥ (नाती गोती)

बहुत दिनों के बाद आई हुई बेटी के साथ माँ–बाप बैठकर बहुत सारी बातें करते हैं। बेटी अपने मन की बात माता–पिता को भी बतलाती है कि वह अपने भाई की बेटी को बहू बनाना चाहती है। बहू के बहाने मेरा भी आना–जाना होता रहेगा, आप लोगों से भी मिलना होता रहेगा।

तब पिताजी समझाते हैं, बेटी अब तो सब कुछ बदल रहा है–

भाऊ करू याही, बाप म्हने नको बाई।
आतेन्या भावजाया मान राख्या जोग्या नहीं॥ (खानदेशी लो.सा.)

बड़ी बहन बड़ी समझदार है। वह भाई से कहती है, भाई हमें और कुछ नहीं चाहिए तुम्हारा प्रेम ही हमारे लिए काफी है–

आम्ही पाँच वं बहिनी पाँच गावन्या चिड्या।
भाऊ तुले सांगू, तुन्ह्या पिरीमन्या येड्या॥ (नाती गोती)

बड़ी बहन अपने माता–पिता को समझा कर भैया से बात करती है और उसके बेटे के लिए भांजी का हाथ माँग कर उसे अपनी बहू बनाना चाहती है। भैया भी बहन की बात से राजी हो जाता है। बहन के घर कुछ कमी नहीं है। बेटी वहाँ राज करेगी, ऐसा सोचकर भाई बेटी की शादी के लिए तैयार हो जाता है। भैया के बड़े बाड़े में ही शादी की तैयारी होती है। बहन कहती है–

भाऊना वाडामां लगननी वं तयारी।
लेक मन्हा नवरदेव भासी व्हयनी नवरी॥ (नाती गोती)

शादी बाद बारात बहन के घर आती है। नई बहू के स्वागत की तैयारी बड़ी धूमधाम से होती है। बहू के लिए रसोई असली घी में बन रही है, साथ में तली हुई अन्य चीज भी है–

नवी नवरी तू भासी मनी सुनबाई।
तूपमां बूंदी गाय, तोंड़ी लावाले कुरड़ाई॥ (नाती गोती)

कुछ दिनों में बहू के पैर भारी हो गए इसलिए उसके खान–पान की ओर बहन ज्यादा ध्यान देने लगी। पहली बार उनके घर में लक्ष्मी का आगमन हुआ। नातीन के कारण बहन की खुशियाँ दुगुनी हो गई। मानो वह एक ऐसी दुनिया में खो गई जिससे अपने रिश्तेदारों को भी भूल गई है–

समुंदरनी लाट, लाट ई वसरनी।
ताईले झाई लेक बहिन भाऊले इसरनी॥ (नाती गोती)

पारिवारिक रिश्तों के साथ-साथ पास पड़ोस में रहने वाले लोगों के साथ भी संबंध अच्छे बने रहने के कारण सहेलियों का आना-जाना उसके घर अधिक रहा। बढ़ई की बेटी रंगू को सहेली बनाकर उसके पति से नातिन के लिए पालना बनाना चाहती है। वह कहती है-

सई बहिन जोडूं-जोडूं सुतारनी रंगू।
रंगीत पायना इन्हा भरतारले सांगू॥ (खानदेशी लो.सा.)

बहन के मन को जो अच्छी लगती है उसे ही वह अपने करीबी सहेली मानती है। उसको आग्रहपूर्वक केले के पत्ते पर हलवा खिलाता है-

सई बहिन करू, करू नार ठसीन मनमां।
साकरना शिरा, शिरा केईना पानमां॥ (नाती गोती)

इस प्रकार अहिरानी ओवियों में पारिवारिक सामाजिक जीवन के भावपूर्ण प्रसंगों का स्वाभाविक वर्णन मिलता है। परिवार में माँ, पिता, बहन, भाई तथा अन्य रिश्तों इसी प्रसंगों के द्वारा मानव मन के भावनाओं की सूक्ष्म अभिव्यक्ति अहिरानी ओवियों में मिलती हैं।

निष्कर्ष: खानदेश में अर्थात् देहातों में महिलाएँ जांते पर आटा पीसते समय ओवियाँ गाती हैं। इनमें उनके जीवन के सुख-दुख के भाव व्यक्त होते हैं। दोहे जैसे छोटे से आकार की ओवी व्यापक अर्थ प्रस्तुत करने में सक्षम होती है। संस्कार, सामाजिक रीति, आचार, व्यवहार आदर्श मूल्य, पारिवारिक संबंध सरल, सुलभ शब्दों से ओवी द्वारा गाए जाते हैं। लयबद्धता, नाद माधुर्य के कारण ओवी श्रवणीय होती है। ओविओं को पढ़ने के बाद जीवन की चित्रोंपम झांकियाँ आँखों के सामने अपने आप आ जाती हैं। ओविओं के भंडार से कुछ ओविओं के द्वारा उक्त बातों को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

संदर्भ:

1. मन्ह गोत-सौ. शकुंतला पाटील (रोटवदकर), झोका पब्लिकेशन्स, जळगाँव, प्र.आ. 2011
2. पाटील कृष्णा, प्रथम आवृत्ती 1999, अहिरानी लोक साहित्य दर्शन- नाती गोती, महाराष्ट्र राज्य साहित्य आणि संस्कृती मंडळ मुंबई, खंड-2,
3. सूर्यवंशी रमेश, प्रथम आवृत्ती-2024, खानदेशी लोकसाहित्य अहिराणी बोली, संकलन-कन्नड संभाजी नगर

❑❑

भारतीय कला की अवधारणाएँ

—लकी टॉक

सार

भारतीय सभ्यता में कला का तात्पर्य केवल मनोविनोद या भोगविलास न था बल्कि कलात्मक आवरणों में तत्ववाद, कल्पनात्मक विस्तार और ऐतिहासिक परंपरा का प्रच्छन्न प्राधान्य था। आगम तथा तंत्र ग्रंथों में कला का दार्शनिक अर्थ ही प्रयोग किया गया है। कला में अंतर्निहित तत्ववाद को भारतीय कलाकार सदैव से समझता आया है। प्रत्येक कलाकार के मन में यह आदर्श बराबर काम करता चला आ रहा है कि "जिसकी विश्रांति भोग में है वह कला बंधन है परंतु जिसका संकेत परमतत्व की ओर है वही कला वस्तुतः कला है।"

भारतीय कलाकार की यह विशेषता है कि केवल शारीरिक अनुरंजन को ही कला का विषय न मानकर सांस्कृतिक, मानसिक और बौद्धिक विकास का ध्यान रखकर कला का सर्जन करता है। इस शोध पेपर में इन्हीं बिंदुओं पर प्रकाश डाला गया है।

बीज शब्दः *तत्ववाद, शिलाखंड, संस्कृति, सभ्यता, लयात्मक, दिव्य, युगानुरूप, यथार्थ, आरोह-अवरोह।*

परिचय/साहित्य का अध्ययनः

कला के संबंध में चारों ओर से प्रश्न पूछे जा सकते हैं-

1. कलाकार के मानस में 'गर्भ' की भाँति पलकर उसकी 'कृति' किसी समय सुंदर वस्तु के रूप में प्रकट होती है। यह 'वस्तु' भवन, चित्र, मूर्ति, राग, काव्य या कविता का रूप धारण कर सकती है या किसी नृत्य या नाटक का। शिलाखंड, काष्ठ, मिट्टी, रंग, रेखा, स्वर, शब्द या अंगहार या कोई भी पार्थिक पदार्थ कलाकार के मनोभावों का स्वरूप ग्रहण कर सकते हैं। कलाकार अपने विलक्षण कौशल से 'पार्थिव' में अपार्थिव भावों का सृजन करता

है, जड़ में चेतना का आलोक भरता है, उसमें जीवन का स्पंदन, गति और उल्लास लाता है। जहाँ लय, मान आदि नहीं हैं वहाँ अपने विन्यास कौशल द्‌वारा इन गुणों और प्रभावों को उत्पन्न करता है। कला-सृजन की यह प्रक्रिया विलक्षण है। यह कैसे संपन्न होती है? कलाकार के अंतर में व्यक्त हुआ 'सौंदर्य' कैसे उदय होता और पलता है? किन विशेष परिस्थितियों में अमूर्त अनुभूति मूर्त और मुखर हो उठती है? 'अरूप' रूप कैसे धारण करता है और क्यों धारण करता है? कलाकार की सृजनात्मक प्रतिभा का क्या स्वरूप है? वह किस शक्ति के द्‌वारा सौंदर्य का अवगाहन करता है और किस कौशल से उसे व्यक्त करता है? कला-सृजन के लिए कौन-सी प्रेरणा है? संक्षेप में, कला-सृजन मनन के लिए योग्य विषय है और कला-मीमांसा का अंग है।

2. कला-कृति का महत्व रसिक और प्रेक्षक के लिए है जो किसी आंतरिक प्रेरणा से प्रेरित होकर उस 'कृति' के द्‌वारा सौंदर्य और रस का अनुभव करता है। इस 'प्रेरणा' का मूल और स्वरूप क्या है? रस की अनुभूति का विश्लेषण कीजिए और बताइए कि इसमें कौन तत्व सम्मिलित हैं? 'रस' कहाँ से आता है? क्या रसिक के अंतरात्मा से, उसकी प्राकृत प्रवृत्तियों से? या, उसका स्रोत सुंदर वस्तु का 'सौंदर्य' गुण है? इत्यादि अनगिनत प्रश्न हैं जो रसिक के दृष्टिकोण से उपस्थित होते हैं।

3. सौंदर्य गुण स्वयं क्या है? शिलाखंड में भावों की अभिव्यक्ति, जैसे किसी पत्थर की मूर्ति में विजय, उल्लास, समर्पण, निराशा, प्रेम, आह्लाद आदि का साक्षात्कार, यह कैसे संभव हुआ? रूप और विन्यास का क्या अर्थ है? विन्यास से उत्पन्न होने वाले संगति, आरोह-अवरोह, समानुपात, संतुलन आदि अनेक गुण हैं। इनका क्या अर्थ और प्रयोजन है; और सौंदर्य की अनुभूति उत्पन्न करने में इनका क्या कार्य और स्थान है? रूप, शोभा, कांति, लावण्य - ये सौंदर्य की विशिष्ट दवाएँ हैं। इस विशिष्टता का क्या स्वरूप है? अंग और अंगी में क्या संबंध रहता है? संपूर्णता, अन्विति, औचित्य, इत्यादि से क्या अभिप्राय है? ये प्रश्न कला-मीमांसा के लिए महत्वपूर्ण हैं।

4. परंतु ऊपर दिए गए तीनों दृष्टिकोण महत्वपूर्ण होते हुए भी संकुचित हैं, क्योंकि वे कला-सृजन, रसास्वादन और कृति को केवल 'व्यक्तिगत' घटना समझते हैं। कलाकार जिस अनुभूति को पार्थिव माध्यम के द्‌वारा सौंदर्य का वैभव और प्रभाव प्रदान करता है, उस अनुभूति का संबंध कलाकार के व्यक्तित्व से तो है ही, साथ ही, वह देश-काल-परिस्थितियों की भी उपज है। कलाकार का स्वयं व्यक्तित्व इनके द्‌वारा पूर्ण और परिपक्व हुआ है। कलाकार अपने संवेदनशील स्वभाव, प्रखर चेतना और सृजनोन्मुखी प्रतिभा के बल से जन-जीवन के तल में लहराती हुई युग-चेतना तक पहुँचती है, और अपने व्यक्तित्व की गहराइयों में उसको पलने देता है। वह समाज और जीवन की दैनिक घटनाओं के ऊपरी रूप को न देखकर उनके मूल

में अंतर्निहित चेतना और अद्र्ध-चेतन शक्तियों के क्रीड़ा-विलास को अपनी पैनी आँखों से देखता है। वह इतिहास के उस अंतराल में प्रवेश करता है, जहाँ अनादि और अनंद चेतना और जीवन-शक्ति घटनात्मक 'इतिहास' का सृजन करती हुई विकास और विनाश, उत्थान और पतन, विस्तार और संकोच, जय और पराजय, शांति और युद्ध, निर्माण और ध्वंस, की पद-गति से रुनझुन करती हुई, श्वासोच्छ्वास भरती हुई, सदैव अज्ञात की ओर बढ़ती चली जाती है। कलाकार इतिहास के इस महाप्रयाण के साथ श्वाँस लेता है, और विश्व-चेतना को अपनी चेतना बना लेता है। वस्तुत: कला-सृजन की घटना, जैसे ताजमहल का निर्माण, रामायण की रचना या मूर्ति, चित्र, राग या नृत्य आदि के आविष्कार इत्यादि इतिहास की महत्वपूर्ण घटनाएँ हैं। कलाकार की दृष्टि से भी कला का विवेचन इतिहास के इस अंग को स्पष्ट जाने बिना संभव नहीं है। अनेक कलाओं द्वारा अभिव्यक्त भाव और अनुभूतियाँ इतिहास के अनंत प्रवाह में रखकर ही समझी जा सकती है।

रसिक की अभिरुचि, उसका पर्याप्त मानसिक विकास, बौद्धिक क्षमता और सौंदर्य के अवगाहन और हृदयंगम करने के लिए आवश्यक है। संस्कृत, शिक्षा, धार्मिक और नैतिक विश्वास तथा निष्ठाएँ, सामाजिक विकास का स्तर, यहाँ तक कि राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था- इन सबका प्रभाव रसिक में अभिरुचि उत्पन्न करने में हाथ रखता है। न केवल रसानुभूति की क्षमता इनके प्रभाव पर निर्भर है, अपितु इस अनुभूति का स्वरूप भी। तभी तो मध्यकालीन धार्मिक कलाकृतियाँ आज निष्प्रभाव जान पड़ती हैं और इनका पुन:सृजन अब असंभव है, जब तक कि इतिहास की स्वयं गति ही न बदल जाय। रसानुभूति की क्षमता और अभिरुचि इतिहास के साथ चलती है। रसिक का 'मन' इतिहास की सृष्टि है। इसलिए रस-मीमांसा के लिए इतिहास की चेतन और अचेतन शक्तियों को समझना आवश्यक है।

इतिहास कलाकार को प्रेरणा और भावों की सामग्री ही नहीं देता, वह उसे अभिव्यक्ति के लिए उपकरण, अवसर, मार्ग और साधन भी प्रदान करता है। किसी युग की सभ्यता कला को अपना संपूर्ण वैभव, कौशल का विकास, राजनीति के द्वारा सुरक्षा, संपन्न समाज का संरक्षण, जनता की रुचि, खनिजों और विविध यंत्रों का संग्रह, शिल्पों का विकास, बिक्री के लिए बाजार भी, न जाने कितने साधन उपलब्ध करती है। वास्तव में, कला की किसी भी विशेष कृति में, जैसे ताजमहल, अनेक देशों और अनेक युगों का इतिहास सिमटकर अभिव्यक्त हो उठता है। इतिहास के धागे में कलाकृतियाँ "सूत्रे मणिगणा इव" पिरोई हुई है। कला-मीमांसा के लिए ऐतिहासिक दृष्टिकोण वांछनीय ही नहीं, अनिवार्य भी है।

शोधपत्र का सैद्धांतिक निरूपण:

इस शोध पेपर में सर्वेक्षण, सिद्धांतों, संकल्पनाओं और अनुसंधानात्मक पत्र-पत्रिकाओं का अध्ययन देखने को मिलेगा। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य काल में समकालीन भारतीय कला के

परिदृश्य का लेखा-जोखा भारतीय सामाजिक, सांस्कृतिक, परिवेश तथा सौंदर्यबोध का मूल्यांकन किया गया है।

प्रयुक्त शब्दावली:

ब्रह्मा, त्वष्ट्रा, काश्यप, उत्तरी (नागर), भूमिज, विश्वकर्मीय शिल्प, वास्तुरत्नावली, सूत्रधार मंडल, गृहवास्तु-प्रदीप, लयात्मकता, नक्षत्र मंडल, रस धूमावृत्त।

इतिहास के विकासक्रम में कला का उदय कब और किन परिस्थितियों में हुआ है? इस प्रश्न का महत्व कई गुना है। एक, ऐतिहासिक विकास के कई पार्श्व होते हैं, जैसे धर्म, नीति, समाज, संस्कृति, सभ्यता, विज्ञान, कौशल, उद्योग, राजनीति आदि। यदि हम निश्चित कर सकें कि कला का आविर्भाव विकास क्रम में किस देशकाल में हुआ तो हम इन पार्श्वों के साथ इसका संबंध निरूपित कर सकते हैं। कला ने इनको क्या प्रेरणा दी और इनसे क्या ग्रहण किया तथा किस प्रकार अपनी स्वाभाविक सामर्थ्य से इनको प्रभावित किया? इत्यादि प्रश्नों के उत्तर से इनका परस्पर स्वरूप स्पष्ट होता है, कला के ऐतिहासिक कर्तव्य और प्रभाव का परिचय मिलता है तथा भावी विकास की योजना के लिए दिशा का दर्शन होता है। दो, कला के आविर्भाव के देशकाल को समझ लेने से हम रसानुभूति के मूल-स्वरूप का उद्घाटन कर सकते हैं और इस अनुभूति में कौन-कौन तत्व विकास-क्रम में, और क्यों घुलमिल गए हैं, ऐसे कि आज उनको अलग करना कठिन है- यह भी जाना जा सकता है। तीन, जिस मूल प्रवृत्ति से कला का जन्म हुआ आज उसकी क्या अवस्था है? क्या उसके परिष्कार, पुष्टि और अभिव्यक्ति के लिए पर्याप्त अवसर मिल रहा है? क्या इसके दमन से भयंकर परिणाम हो सकता है? यदि हाँ, तो हमें सौंदर्य की अभिरुचि के लिए संस्कार और इसकी तुष्टि और पुष्टि के लिए उचित मार्गों की आवश्यकता है। चार, प्रत्येक देश और जाति के अनेक युगों में अपनी संपूर्ण प्रतिभा और सामर्थ्य से, वैभव और शक्ति से, स्वकीय अनुभूतियों को कलात्मक अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न किया है। तभी तो कला की असंख्या अभिव्यक्तियों में इतनी विचित्रता है। कला के स्तर पर सुदूर संस्कृतियों में, व्यापार की भाँति ही, आदान-प्रदान भी हुआ। 'सौंदर्य' में इन विविध तत्वों का मिश्रण एक रोचक विषय तो है ही, साथ ही यह कला के स्वरूप को स्पष्ट करने में सहायक होता है। पाँच, प्रारंभ से ही कला का एक कार्य मनोविनोद रहा है। यद्यपि इसके गंभीर उद्देश्यों को भी स्वीकार किया गया है, जैसे आध्यात्मिक शांति का अनुभव, रुचि का विकास आदि। परंतु रसास्वादन द्वारा मन का विनोद इसका व्यापक उद्देश्य प्रतीत होता है। विनोद की सबसे प्रथम और बड़ी आवश्यकता है बंधनों से मुक्ति। यद्यपि धर्म और नीति इस विनोद की प्रवृत्ति को मर्यादित और संस्कृत करने का सतत प्रयत्न करते आए हैं, परंतु विनोद की आवश्यकता इसे मुक्त, अंतराल देने के प्रयत्न में लगी रही है। इसका अर्थ है कि सौंदर्य के सृजन और रस के आस्वादन में जन-रुचि की सर्वाधिक अभिव्यक्ति होती है। इसलिए कला किसी युग और देश के सांस्कृतिक विकास को नापने के लिए उत्तम मापदंड है।

संगति और संतुलन, लयात्मक आरोह-अवरोह तथा अंगों का समानुपातिक विन्यास आदि सौंदर्य के ऐसे गुण हैं कि ये प्रत्येक व्यवस्था और निर्माण में व्याप्त रहते हैं। ये हमारे दैनिक स्वभाव और रुचि के अंग बन गए हैं। सौंदर्य की इस व्यापकता के बल पर हम अनुमान करते हैं कि कला का उदय मनुष्य की 'आदिम' अवस्था में उसके स्वभाव की किसी मूल-प्रवृत्ति से हुआ। यह विनोद, क्रीड़ा-विलास, निर्माण और आत्माभिव्यक्ति, अनुकरण आदि किसी भी एक या कई प्रवृत्तियों से मिलकर उदित हो सकती है। 'आदिम' का नाम लेते ही हम किसी घृणित और भयंकर अवस्था की कल्पना करने लगते हैं। इतिहास जो कहे कला को दृष्टि से आदिम अवस्था हो अनुभूति के लिए, और इसके द्वारा सौंदर्य-सृजन के लिए उन्मुक्त और उर्वर अवकाश प्रदान करती है। आज भी आदिम कला में हम ओज और गति अनुभव करते हैं, इसका मूल कारण उसका स्वच्छंद वातावरण ही है जो संस्कृति, धर्म और नीति की सीमाओं को स्वीकार नहीं करता।

कला और धर्म में से कौन पहले आया - स्यात्, इसका निर्णय न हो सके। संभवत: ये दोनों 'आदिम' अवस्था में कुछ अंतर से प्रकट हुए, कला सौंदर्य, रूप-संपदा को लेकर उन्मुक्त विनोद में इठलाती हुई, और धर्म मर्यादा और विधि-निषेध का मापदंड हाथ में लिए अकड़ता हुआ। स्यात्, अपने शिशुकाल में ही धर्म ने कला को वरण किया, क्योंकि आदि कला से आज तक असंख्य मंदिर, स्तूप, मस्जिद, गिर्जा के रूप में, चित्रकारी, संगीत, नृत्य और साहित्य के रूप में, इन दोनों के परिणय से ये सृष्टियाँ होती रही हैं। धर्म कला के आकर्षण गुणों के बिना स्यात् नीरस और निर्जीव होकर अब मिट गया होता। धर्म ने कला को गौरव प्रदान किया और कला ने धर्म को अपना सौंदर्य और अभिव्यक्ति के लिए साधन।

इसका यह तात्पर्य नहीं कि कला ने धर्म की मर्यादा और दमन-दंड को सदैव स्वीकार किया हो। कला ने, आज के स्त्री-आंदोलन से भी पूर्व, अपनी स्वतंत्रता की रक्षा की, और धार्मिक क्षेत्र से बाहर भी केवल स्वच्छंद हास-विलास, मनोविनोद, निर्बन्ध रस-क्रीड़ा और उन्मुक्त आत्माभिव्यक्ति के क्षेत्रों में अपने सौंदर्य से जन-मन को आप्लावित किया है। यह राज-प्रासादों में रही है और इसने राज-शक्ति का उपभोग किया है। धनिकों का यह वैभव इसे पसंद है जो संगीत, स्थापत्य, चित्र आदि के रूप में इसे अभिव्यक्ति के लिए साधन और अवसर प्रदान करता है। परंतु इसे प्रतिभावान दरिद्र भी अप्रिय नहीं है। लोकगीतों और लोकनृत्यों में, प्रत्येक जन-पर्व पर, पढ़े और बे-पढ़े, मूर्ख और विद्वान, धनी और निर्धन, सभी के लिए कला अपना विलक्षण सौंदर्य प्रस्तुत करती है। युगों के इतिहास में कला का यह जन-मन-रंजन कार्य महत्व रखता है।

ऐसा नहीं है कि धर्म ने केवल मर्यादा ही कला को प्रदान की हो। जिन युगों में धर्म जन-जीवन का केंद्र रहा, तब इसने कलाभिव्यक्ति के लिए प्रबल प्रेरणा इसे दी। सारी जनशक्ति और राजशक्ति से मिलकर चट्टानों को खोदकर गुफाएँ बनाईं, सदियों के अथक प्रयत्नों द्वारा अवकाश ही न मिलेगा। और, यदि तुम 'यथार्थ' में विचरोगी तो विज्ञान तुम्हें अपने सारे साधन अभिव्यक्ति के लिए

प्रदान करेगा। कला ने इस कथन पर विज्ञान को वरण किया, और अपने विकास और विस्तार के लिए इसी पृथ्वी पर, इसी लोक और इसी जीवन में, यहाँ और अभी होने वाली घटनाओं में पर्याप्त अवकाश प्राप्त किया। तीन, इससे भी बढ़कर विज्ञान ने अपनी संपूर्ण ज्ञान-संपदा और आविष्कारों के साधन कला को सौंप दिए और कला ने भी विज्ञान के माध्यम से अपने वैभव का सभी देशों में थोड़े ही काल में अभूतपूर्व विस्तार किया। चार, विज्ञान का सभ्यता के विकास पर बहुत प्रभाव पड़ा। यातायात के साधन परस्पर संपर्क के अवसर इतने फैले कि देश, राष्ट्र, जाति, वर्ण और धर्म, आदि के बंधन ढीले पड़ने लगे, सीमाएँ गलने लगीं, और 'मानवता' का एक अद्भुत रूप चमक उठा। यह निस्सीम और उपाधिहीन 'मानवता' विज्ञान की देन है। कला इस पर रीझ उठी है, एक ओर कला ने मानवता को सौंदर्य प्रदान किया है तो मानवता ने अपना आलोक, आत्मा, गरिमा और गांभीर्य आदि देकर इसकी अभिव्यक्ति को उदात्त बना दिया है। धर्म का साथ छोड़ने से 'कला' के अवसरों और गौरव में कोई कमी नहीं हुई। पाँच, विज्ञान के प्रभाव को केवल 'बौद्धिक ही समझना ठीक नहीं।' विज्ञान ने आवेग और भावना के उन द्वारों को टक्कर लगाकर खोल दिया है जो बीती हुई धर्म-प्रधान सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था में युगों तक बंद पड़े रहे। स्वतंत्रता, समानता, राष्ट्रीयता, और अंततः विश्वबंधुत्व और अंतरराष्ट्रीयता, केवल 'विचार' ही नहीं हैं, अपितु ये भावनाओं से भरे विस्फोटक द्रव्य हैं जिन्होंने व्यक्तिगत और जन-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में और सभी स्तरों पर क्रांतियाँ उत्पन्न कर दी हैं। कला के लिए आज क्षितिजों ने अपनी सीमाएँ खोल दी हैं। छह, जिस प्रकार धर्म ने 'दिव्य' भावना से कला को प्राणित किया था, उसी प्रकार 'मानवता' आज कला का प्राण है, और 'दिव्य-मंगल' से भी अनोखा न्याय पर आश्रित 'मानव-मंगल' हमारे सामने है। सात, विज्ञान ने आविष्कार और गवेषणा को अग्रसर किया है। कला के क्षेत्र में इसका प्रभाव यह हुआ है कि अनेक दिशाओं से 'सौंदर्य' और 'रसानुभूति' को समझने के लिए प्रयत्न उठ खड़े हुए हैं। समीक्षा के लिए नये मानदंड, रुचि-विश्लेषण के लिए नूतन दृष्टिकोण स्पष्ट होने लगे हैं। फलतः कला में नित नये 'रूपों' का प्रयोग हो रहा है, इसके विभिन्न अंगों का उद्घाटन और पुष्टिकरण चल रहा है। कलासृजन के लिए इतना महान्, विविध और निश्चित प्रयत्न जितना युगों में नहीं हुआ उतना पिछले थोड़े काल में हुआ है।

इस प्रकार विज्ञान ने कला को अभिव्यक्ति के लिए उपकरण, विस्तार के लिए दिशाएँ, प्रयोग के लिए क्षेत्र, नवीन रूपों के विकास के लिए आवश्यक साहस और स्वतंत्रता, अभिव्यक्त करने के लिए मानवता और मंगल की भावना, आदि देकर नये युग का द्वार खोल दिया है। कुछ के पार्श्व और अभ्यंतर विज्ञान के इस ऐतिहासिक प्रभाव को न जाने हुए विशद नहीं किए जा सकते।

हमने कला और इतिहास के संबंध में निरूपण किया, और इतिहास की उन शक्तियों और प्रभावों का निरीक्षण किया जिनके द्वारा वह आगे बढ़ता है। कला इतिहास का स्वयं एक शक्तिशाली प्रभाव है। यह प्रभाव आदिम जीवन की आवश्यकताओं में उदय होता है, तथा निर्माण विनोद, अभिव्यक्ति की मूल प्रवृत्तियों पर आश्रित होने के कारण व्यापक और अजर है। आदिम जीवन समाप्त

हुआ, परंतु कला जीवित है। धर्म ने अपनी आत्मा, वैभव, शक्ति और स्मृति, कला को प्रदान किए; कला ने विनिमय में इसे सौंदर्य और रस का वरदान दिया। धर्म ने सौंदर्य को गौरव दिया, और सौंदर्य ने धर्म को प्रबल आकर्षण। धर्म का प्रभाव आज परिस्थितिवश शिथिल है, परंतु कला सृजन का क्षेत्र विस्तृत हो रहा है। स्वयंबरा, कला ने विज्ञान को वरण किया, और विज्ञान ने अपनी संपूर्ण विभूति इसे सौंप दी। विज्ञान ने चाहा कि कला यथार्थ और प्रमाण के बंधनों में बँधी रहे। परंतु हुआ यह कि विज्ञान स्वयं अपने विकास के क्रम से 'यथार्थ' के सीमांत पर पहुँच गया, और प्रमाणों के द्वारा ऐसे 'रहस्य' से जा टकराया जिसकी सिद्धि इनके द्वारा संभव नहीं। कला विज्ञान के द्वारा निर्धारित 'यथाथले' की सीमाओं में बहुत काल तक विचरीय किंतु जब विज्ञान स्वयं 'रहस्य' के धूमावृत देश में पहुँच गया तब तो कला को नूतन स्फूर्ति मिली। जिस क्षण विज्ञान ने 'संभावनाओं' को स्वीकार किया, कलाकार की कल्पना ने भी उड़ान के लिए पंख खोल दिए। ज्ञान के अभूतपूर्व विस्तार ने कल्पना के लिए अनंत अंतराल खोल दिए, और कला-सृजन के लिए असंख्य अवसर।

दूसरी ओर जीवन का भी विस्तार हुआ। आकाश और समुद्र, पर्वत, नदी, भूगर्भ, नक्षत्र-मंडल, संक्षेप में, प्रकृति के सूक्ष्मतम, दूरतम और विशालतम पहलुओं का उद्घाटन हुआ। शक्तिशाली यंत्रों ने अनेक गुप्त रहस्यों को स्पष्ट किया, किंतु साथ ही अनंत प्रश्नों को उत्पन्न कर दिया। इधर व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन के गंभीर तलों को विज्ञान ने उघाड़ा। मानवता का एक अद्भुत और निरुपाधिक स्वरूप प्रस्तुत किया; रूढ़िगत मान्यताओं को नष्ट कर नूतन युगानुरूप विचारों को स्पष्ट किया। जो हम अपने सीमीत देश, समाज, यहाँ तक कि संसार के विषय में सोचने के लिए चिर अभ्यस्त हो गए थे, वे आज हम विज्ञान के विकासक्रम से ही निस्सीम देश और काल के प्रवाह में अपने को देखते हैं। संक्षेप में, विज्ञान ने जीवन के रहस्यों को बढ़ा दिया है, और आज हम आदिम मनुष्य की भाँति अपने को अचिंत्य भावों से घिरा पाते हैं। प्रश्न यह है कि इस परिस्थिति में कला की क्या दिशा होगी और क्या दशा?

कला का प्रधान साधन कल्पना है। कल्पना 'यथार्थ' पर बहुत दिन नहीं टिक सकती। उसे प्रकाश नहीं, धूम, समीप नहीं, दूर अधिक अनुकूल बैठता है। संभव है कला वैज्ञानिक विकास का अनुसरण करती हुई, रहस्यों के धूमावृत लोक में चली जाय; कलाकार और रसिक के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन से दूर जाकर 'रस' का सृजन करने के बजाय केवल 'आश्चर्य' का सृजन करने लगे। यह इस समय कला की प्रगति है। परंतु इसमें भय है, कि रस और सौंदर्य का मानव-स्रोत कहीं तिरोहित न हो जाय, आध्यात्मिक भावों और हृदय की भावनाओं का स्थान कहीं विज्ञान की समस्याएँ न ग्रहण कर लें। स्यात्, इस प्रकार विज्ञान कला का जीवनांत न कर दे। परंतु आशा यही है कि विज्ञान, धर्म की ही भाँति, स्वयं अपने चरमान्त पर पहुँचकर नष्ट हो जाए, और मनुष्य जीवित रहे और जीवित रह जाए कला भी।

निष्कर्ष: सभी शिल्पों का लक्ष्य एक है। कविता, मूर्ति, चित्र, नृत्य, गान सभी सर्जन के मूलशब्द आनंद के छंद को अपने-अपने छंदों में पकड़ना चाहते हैं। इस दृष्टि से योग, साधना और शिल्प-साधना में समानता है। अध्यात्म-साधना में सृष्टि के सारे वैचित्र्य के अंतराल में ऐक्य को ढूँढ़ना है- 'एक' की खोज की जाती है, जिसके जानने से सबकुछ को जाना जा सकता है। शिल्प भी ठीक उसी प्रकार 'विराट एक' के दर्शन की अभिलाषा को लेकर चल रहा है।

शिल्पी वस्तु को गुण सहित देखता है। साधारण लोग वस्तु का रूप अन्यमनस्क मन से देखते हैं। इसलिए उसके गुणों की ओर विशेष ध्यान नहीं देते हैं। समानरूप में अंतर मात्र को देखते हैं। यह इस शोधपत्र में रेखांकित किया गया है। जो एक विचारणीय प्रश्न है।

कला के कल्पित माप-मान
बन गए स्थल,
जन-जीवन से हो एक प्राण।
मानव स्वभाव ही
बन मानव आदर्श सुकर
करता अपूर्ण को पूर्ण
असुंदर को सुंदर

– **सुमित्रानंदन पंत**

संदर्भ:

1. आचार्य कुमार प्रसन्न, संस्करण सन् 1935, दि एस्पेकर एंड ओरिएंटेशन इन हिंदू आर्किटेक्चर, शीर्षक लेख इंडियन कल्चर, जनवरी-1935

2. दिनकर सिंह रामधारी, संस्करण सन् 2006, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रस्तावना

3. जैदी शैलेश, द्वितीय संस्करण 1993 ई., अब किसे वनवास दोगे, मानस संगम, कानपुर, अध्याय-1, भाग-2

4. राय कृष्णदास, 1985, ललित कला अकादेमी, न्यू दिल्ली, मुगल मिनिएयर्स

5. रंधावा एम.एस., पब्लिकेशन डिवीजन, सूचना एवं प्रसार मंत्रालय, भारत सरकार, दिल्ली
कलानिधि - 1, 3, 4 (भारत कला भवन, वाराणसी की त्रैमासिक हिंदी पत्रिका)
ललित कला, प्रकाशन ललित कला अकादमी, समकालीन पत्रिका, नई दिल्ली

6. राय कृष्णदास, प्रथम संस्करण, 1969, वाचस्पति गैरोला संपादक, मित्र प्रकाशन गौरव ग्रंथमाला- इलाहाबाद,

7. गुप्त जगदीश, 1961, भारतीय कला के पद चिह्न, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली,

8. शुक्ल रामचंद्र, 1957, कला तथा आधुनिक प्रवृत्तियाँ, सूचना विभाग (उ.प्र. सरकार), लखनऊ,
शुक्ल रामचंद्र, 1984, नवीन भारतीय चित्रकला, इलाहाबाद, किताब महल,
शुक्ल रामचंद्र, 1953, किताबघर, पटना,

9. राय कृष्णदास, 1939, भारत की चित्रकला, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी,

10. चंद्रकला सतीश, 1936, भारतीय चित्रकला, बेलवे डियर प्रेस, इलाहाबाद,

11. कादरी अली असगल, 1959, चित्रकला का इतिहास, चंद्रलोक पब्लिशिंग, इलाहाबाद,

12. उपाध्याय अवध, 2005, चित्रकला, प्रयाग हिंदी साहित्य सम्मेलन,

13. हालदार कुमार असित, 1959, भारतीय चित्रकला, इलाहाबाद, चंद्रलोक,

14. भारद्वाज विनोद, प्रथम संस्करण-2006, आधुनिक कला कोश, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,

15. कला विमर्श, राष्ट्रीय ललित कला अकादमी, नई दिल्ली

16. भारद्वाज विनोद, कलाएँ आसपास, राष्ट्रीय ललित कला अकादमी, नई दिल्ली,

❑❑

मगही के कतिपय शब्दों का भाषाशास्त्रीय–समाजशास्त्रीय विश्लेषण

—राजू रंजन प्रसाद

सार

आम धारणा है कि एक भाषा का विकास दूसरी भाषा की कीमत पर होता है। ठीक इसी तर्ज पर यह भी कहा जाता है कि भाषा का विकास बोली की कीमत पर होता है। भाषावैज्ञानिक सचाई यह है कि एक भाषा के विकास में दूसरी कई भाषाओं का योग होता है। दुनिया की किसी भी एक भाषा की शब्द–संपदा का विश्लेषण कर इस बात को आसानी से समझा जा सकता है।

बीज शब्दः *भाषा, बोली, भाषाशास्त्र, व्युत्पत्ति, लोक, शास्त्र, मगही आदि*

मनुष्य अपनी सभ्यता–संस्कृति के आरंभ ही से पलायन करता रहा है। इस पलायन के भौतिक अवशेष तो हैं ही, उनकी यात्रा–कथा भाषा में भी दर्ज होती रही है।[1] अपनी विकास–यात्रा में शब्द केवल रूप ही नहीं बदलते बल्कि अर्थ भी बदलते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस बदलाव का एक रोचक इतिहास है जिससे हम भाषा के साथ ही मनुष्य के विकास की कहानी भी गढ़ते हैं। जिस तरह दुनिया के एक कोने से दूसरे कोने तक मनुष्य की आवजाही होती रही है ठीक उसी तरह शब्दों की भी। भारत की बात करें तो एक ओर जहाँ वेद में बोली के शब्द के साथ ही दूसरी भाषाओं के शब्दों की मौजूदगी है तो दूसरी ओर आधुनिक बोलियों में संस्कृत शब्द अपना भेष बदलकर बैठा मिल जाता है। दुनिया की तमाम भाषाओं और बोलियों के बारे में ऐसा कहा जा सकता है। यहाँ तक कि मृत भाषा के शब्द और मुहावरे भी दूसरी किसी भाषा में जाकर जीवित हो उठते हैं और समय के गुजरने के साथ उनका प्रयोग उस भाषा में इस तरह खप जाता है कि वे उसका अभिन्न हिस्सा लगने लगते हैं, किंतु मृत भाषा का प्राचीन इतिहास अपने में समेटे रहती है।[2] भाषा में इस बात के भी प्रमाण हैं कि अरब के आरंभिक मुस्लिम व्यापारियों का स्थानीय भारतीयों ने न सिर्फ स्वागत किया बल्कि अपनी बेटियों का संबंध भी किया। केरल की मालाबार जाति में इन प्राचीन

व्यापारियों के वंशज आज भी मौजूद हैं जिन्हें 'मोपला' कहा जाता है। यह मलयालम भाषा के 'मोपिल्ला' शब्द से बना है जिसका अर्थ 'दामाद' है।[3] फिरदौसी के प्रसिद्ध महाकाव्य शाहनामा में लिखा है कि जब सिकंदर ने ईरान पर हमला किया, तो हिंदुस्तान से ईरानियों ने तलवारें मंगवायीं। तलवार के लिए इस्लाम से पहले का अरबी शब्द 'मुहन्नद' है, जिसका अर्थ 'हिंद से आया हुआ' या 'हिंदुस्तानी' है।[4] पुर्तगाली कंपनी को सूरत में तंबाकू[5] की कोठी खोलने की अनुमति प्रदान करने के साथ भारत में तंबाकू का एक नाम 'सुर्ती' या 'सुरती' प्रचलित है।[6] आज की अंग्रेजी का 'मंडे' और 'संडे' हिंदी में सोमवार और रविवार है। मंडे दरअसल 'मूंस डे' (moon's day) है तो संडे 'संस डे' (sun's day) ।[7] रविवार तो अदित्यवार है ही।

शब्द कैसे अपना रूप बदलता है, इसको जानना आसान नहीं हो सकता। किंतु इस बदलाव को जाने बगैर न समाज को समझा जा सकता है न ऐतिहासिक विकास को। सच्चा और प्रामाणिक इतिहास केवल वही होगा जो इन शब्दों के सहारे लिखा जाएगा। मैंने मगही (पटना के आसपास बोली जानेवाली भाषा) के कतिपय चुनिंदा शब्दों के आधार पर उनकी यात्रा को समझने की कोशिश की है। शब्दकोश इस यात्रा में शामिल हैं और हमारा संबल हैं।

अहदी: मगही में आमतौर पर आलसी या कामचोर को 'आस्कती' और 'अहदी' कहा जाता है। कहीं-कहीं अहदी का बिगड़ा हुआ रूप 'अलहदी' का भी प्रयोग होता है। कह सकते हैं कि अहदी, आलसी, आस्कती, दीर्घसूत्री, सुस्त आदि सब थोड़े-बहुत अंतर के साथ एक ही वर्ग के शब्द हैं। इस वर्ग के शब्द ऐसे व्यक्तियों के वाचक हैं जो सहसा या तो कोई काम करना नहीं चाहते या बहुत ही कठिनता से अथवा विवश होकर अपने काम में लगते हैं।[8]

'आस्कती' संस्कृत अशक्त एवं अशक्य से जुड़ा जान पड़ता है क्योंकि ऐसा व्यक्ति कार्यारंभ के पहले तो कुछ आलस्य दिखलाता है किंतु जब वह अपने काम में लगता है तो उसे जारी रखता है। आस्कती को कुछ लोग 'अस्कताह' भी कहते पाये जाते हैं। 'अहदी' अरबी भाषा का शब्द है जिसका मूल अर्थ आलसी या सुस्त है, परंतु हिंदी में यह शब्द एक ऐसे भाव का सूचक बन गया है जो आलस्य या सुस्ती की तुलना में बहुत आगे बढ़ा हुआ और प्रायः चरम सीमा तक पहुँचा हुआ है।[9] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अपने अंतिम दिनों में कहने लगे थे कि 'पहले तो मैं केवल आस्कती ही था, पर अब देखता हूँ कि मैं दिन-पर-दिन आलसी होता जा रहा हूँ।' एक बार रामचन्द्र वर्मा ने तनिक चुटकी लेते हुए कहा-'अच्छा अब यहीं रुक जाइए, और आगे मत बढ़िए; नहीं तो आपको अहदियों में नाम लिखाना पड़ेगा।'[10]

इतिहास का तथ्य है कि अकबर के शासनकाल में अमीरों और खानों के अतिरिक्त चार हजार 'यक्का सवार' खास बादशाही रिकाब के लिए नियत किए गए थे।[11] 'यक्का' शब्द फारसी 'यक्कः' से बना है, जिसका अर्थ 'एक से संबंध रखने वाला' तथा 'एक प्रकार की एक घोड़े की

सवारी' है।[12] एक्का, जिसका अर्थ तांगा है, इसी से बना है।[13] अहदी शब्द इसी यक्का या एक्का का अनुवाद है।[14] अहदी कुछ ऐसे विशिष्ट प्रकार के योद्धा और वीर होते थे, जो केवल विकट अवसरों पर ही युद्ध क्षेत्र में भेजे जाते थे। इनका अलग से एक दारोगा भी नियुक्त था। विश्व इतिहास में इन अहदियों की तुलना मध्यकालीन यूरोप के 'नाइट' से की जाती है। ये कुलीन घराने से संपर्क रखने वाले वैसे लोग होते थे जिनसे सम्राट खास तौर से प्रभावित होते थे। उनको आठ-दस घोड़े दिये जाते थे तथा आठ सौ रुपये तक की मासिक पगार दी जाती थी और उनका मालिक केवल और केवल सम्राट ही हो सकता था।[15] वे लोग अपना शेष समय बहुत ही सुखपूर्वक अपने घर रहकर व्यतीत करते थे। संभवतः इसी आधार पर हिंदी में यह शब्द ऐसे लोगों का वाचक बन गया है जो नाम को भी कोई काम नहीं करना चाहते, और चुपचाप अपनी जगह पर आराम से ही बैठे रहना चाहते हैं। इसीलिए हिंदी में 'अहदी' का अर्थ हो गया-बहुत बड़ा अकर्मंय या बिल्कुल निकम्मा पर साथ ही बहुत बड़ा आलसी या सुस्त।[16]

अहदियों के संबंध में एक किस्सा मशहूर है। कहा जाता है कि अकबर के समय में बहुत से लोग काम-धंधे से बचने के लिए अहदियों में अपना नाम लिखा देते थे और राजकीय वृत्ति लेकर घर बैठे रहते थे। जब ऐसे लोगों की संख्या बहुत बढ़ गई तब वास्तविक अहदियों की परीक्षा लेने के लिए उन्हें एक बड़े घेरे/बाड़े में भेज दिया गया और तब उस घेरे में आग लगा दी गई। नकली और बने हुए अहदी तो आग की प्रथम लौ/लपट के साथ ही भाग निकले, पर दो-चार वास्तविक अहदी अपने 'पराक्रम' का परिचय देते हुए वहीं पड़े रह गए।[17]

खोजा: मगही में बधिया के लिए 'खोजा' शब्द खूब ही चलता है। बैल, भैंसा सब खोजा ही चलते हैं। बछड़े को अगर खोजा न बनाया जाए तो वह बैल नहीं साँड़ बनेगा। साँड़ से खेती नहीं की जाती। उसके लिए दूसरी ही नस्ल के किसान चाहिए। मगही में बकरी के मादा बच्चे को 'पाठी' और नर बच्चे को 'खस्सी' कहा जाता है। इस खस्सी में 'बधिया' या 'खोजा' का भाव छिपा है। खस्सी शब्द मूलतः अरबी भाषा का ख़सी है। अरबी में अंडकोश को 'खुसियह्' कहा जाता है, जिससे 'ख़सी' बना है। ख़सी का मूल अर्थ है 'वह जिसके दोनों खुसिये (अंडकोश) निकाल लिये जाएँ। इस तरह इसका अर्थ 'बधिया', 'खोजा' या 'हिजड़ा' हुआ।[18]

खोजा दरअसल फारसी 'ख्वाजः' से बिगड़कर बना लगता है। ख्वाजा या ख्वाजा-सरा से मतलब उन व्यक्तियों से है जो महलों में सेवा करने के लिए हिजड़ा बनाये गए हों।[19] मध्यकाल में महलों में रानियों की खिदमत के लिए इनकी बड़े पैमाने पर जरूरत पड़ती होगी। बाद में, खोजा कहीं-कहीं 'खोजवा' भी कहलाने लगा। बनारस में कभी एक 'खोजवा बाजार' था जो नवाबों के खोजाओं के रहने के कारण एक मुहल्ला बन गया।[20]

जन्मजात ख्वाजा तो कम ही रहे होंगे और फिर उसकी असंदिग्ध वफादारी भी तो चाहिए थी। ऐसे में बहुत निकट के लोगों को ही ख्वाजा बनाया जाता रहा होगा। तब राजा का करीबी होना भी

खतरे से खाली नहीं था। हालाँकि कुछ लोग तो तरक्की को ध्यान में रखकर आसानी से अपनी रजामंदी दे देते होंगे। वैसे, वह राजा ही क्या जिसे प्रजा की रजामंदी की मुहर चाहिए। इंदिरा गांधी के आपातकाल वाले दौर में इस मुगलिया कायदे की खूब ही तरक्की हुई।

अरज: 'अरज' शब्द का पहला प्रयोग कब देखा-सुना नहीं मालूम, लेकिन बचपन में कपड़े की दूकान पर जाता तो पाता कि ग्राहकों को कपड़े की खरीद के वक्त अरज जानने की खासी जिज्ञासा होती। कभी-कभी दूकानदार ज्यादा अरज होने को कपड़े की खास विशेषता की तरह बताता। कम कपड़े होने की शिकायत करने पर झट कहता-'इसका अरज ज्यादा है, इसलिए कोई दिक्कत नहीं होगी।' कपड़े सिलने वाले 'अरज' के साथ और इससे मिलते-जुलते शब्द 'पनहा' की बात करते। लोकगीतों में 'अरज' या 'अरजिया' शब्द का प्रयोग देख निवेदन का भाव तो समझ में आया किंतु कपड़े के साथ इसका संबंध अज्ञात-अबूझ ही रहा। उर्दू-हिंदी कोश में 'अरज' (संज्ञा, स्त्रीलिंग) दरअसल 'अर्ज' अरबी शब्द है और इसका मतलब चौड़ाई से है तथा पुलिंग रूप में व्यवहृत है, जबकि यही शब्द निवेदन अर्थ में स्त्रीलिंग है।[21] केवल अर्थ-भेद से शब्द का लिंग बदल जाया करता है!

अलाय-बलाय: कभी-कभी कम पढ़े-लिखे लोगों के शब्द-भंडार में भी चौंका देनेवाले शब्द हो सकते हैं। मगही में अक्सर व्यक्ति जब गुस्से में होता है तो आदमी सहित पशुओं के लिए 'बलाय' शब्द का प्रयोग करता है। अक्सर मरकंड या बदमाश जानवरों को वे बलाय कहते हैं। बदमाश और बेकार की चीजों के लिए खासतौर से। इसका यह अर्थ तब और ही खुलने लगता है जब 'अलाय-बलाय' एकसाथ कहा जाए, समझते तनिक देर नहीं लगती कि बेकार पड़ी चीजों की ओर ही संकेत है।[22] किंतु वैदिक इंडेक्स से ज्ञात होता है कि 'बलाय' एक ऐसे अज्ञात पशु का नाम है जिसका वाजसनेयि संहिता में अश्वमेध के बलि प्राणियों की तालिका में उल्लेख है।[23]

सर आर. जी. भंडारकर अभिनन्दन-ग्रंथ में तिलक ने अपने लेख 'खल्दी और भारतीय वेद' (chaldean and Indian vedas) में पहले पहल विद्वानों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया कि ऋग्वेद में अनेक ऐसे स्थल हैं जो 'अनार्य' हैं और जिनका अर्थ आर्येतर भाषाओं तथा इतिहासों के अध्ययन से ही लगाया जा सकता है।[24] भगवतशरण उपाध्याय ने वासुदेव शरण अग्रवाल का, जो 'अलाय-बलाय' की व्युत्पत्ति के लिए जागरूक थे, ध्यान इस ओर आकर्षित किया और उन्हें वह सामग्री दी जिसका उपयोग उन्होंने अपने 'अलाय-बलाय' लेख में किया। यह लेख नागरी प्रचारिणी पत्रिका के संवत् 1999 के कार्तिक-माघ वाले अंक के पृष्ठ 299-300 पर छपा है।[25] कुछ दिनों बाद रामचंद्र टंडन ने श्री उपाध्याय का ध्यान इस ओर आकर्षित किया तो लेख में अपना नामोल्लेख न देख उन्हें तनिक आश्चर्य हुआ।[26] भगवतशरण उपाध्याय मानते हैं कि असूरी पुरातत्व का अनुशीलन करते हुए जो सामग्री उन्हें मिली उससे स्पष्ट हो गया कि 'अलाय-बलाय' मूलत: 'आलिगी-विलिगी' हैं और असूरी शब्द हैं।[27]

डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है कि दिवाली में अवध के किसान सन के सूखे पौधों (सेल्हों) के छोटे-छोटे फूलों का एक सिरा जलाकर गाँव के बाहर सर के ऊपर घुमाते हैं और 'अलैया-बलैया अमुक स्थान के डांड़े' कहते हैं, अर्थात् अलाय-बलाय गाँव के बाहर हो।[28] 'अलाय-बलाय' कश्मीरी में भी है। ग्रियर्सन द्वारा संपादित कश्मीरी शब्दकोष में इसका अर्थ दिया है-'स्त्रियों द्वारा थाली में जलते दीप घुमाकर अशुभ प्रभाव से बच्चों आदि को मुक्त करना।'[29]

डॉ. शर्मा कहते हैं कि कश्मीरी और अवधी दोनों में अलाय के साथ जलती आग का संबंध है। हिंदी क्षेत्र की अनेक बोलियों में अलाव शब्द है। इसका भी अर्थ वही है और इसी अर्थ में यह कश्मीरी में भी प्रयुक्त है। इस तरह डॉ. शर्मा के अनुसार अलाय, अलाव का अल निश्चित रूप से अग्निवाचक शब्द है। संस्कृत 'अल्' धातु-रोकने, दूर करने के अर्थ में कश्मीरी 'आलवुन्' 'आलविथ्' का अर्थ 'सिर के ऊपर हाथ हिलाकर प्रेत-बाधा दूर करना है'। 'अल्', 'आलवुन्' आदि का यह अर्थ उनमें मूल अग्निवाचक 'अल्' के संसर्ग से उत्पन्न हुआ है।[30] शिवरानी देवी ने लिखा है: "कभी-कभी वे भूत-प्रेत की तरह आव-बाव बकती थीं। एक पंडित ओझाई का काम करते थे, वैद्य का भी काम करते थे। मेरी चाची ने कहा-उन्हें बुला लाओ। मैं उन्हें बुला लाया। पंडित जी आये और ओझों की तरह कुछ उन्होंने अलाय-बलाय किया।"[31] ऋग्वेद के एक अस्पष्ट मंत्र में आया 'अलाय्य' शब्द व्यक्तिवाचक नाम प्रतीत होता है। पिशल का तो स्पष्ट विचार है कि यह एक व्यक्ति का नाम है जिसकी कुल्हाड़ी चोरी हो गई थी और जिसकी पुनर्प्राप्ति हेतु अभिचारस्वरूप यह सूक्त लिखा गया था।[32]

गोहां: पटना के आसपास की मगही में खेल के साझीदार (पार्टनर) के लिए 'गोहां' शब्द चलता है। इसके 'गोदहां', 'गोधां' आदि रूप भी प्रचलित हैं। गोहां, 'गोह' से बना लगता है जिसका अर्थ 'गाँव का मुखिया' तथा 'साथी' है।[33] सूरदास ने इस शब्द का प्रयोग 'साथी' या 'सहचर' के अर्थ में किया है। गोह का एक-दूसरा रूप गुइयाँ शब्द भी सखा के लिए प्रचलित है।[34]

टिकासन: पटना के आसपास की मगही में 'टिकासन' शब्द खूब ही प्रचलित है। सिर तक की ऊँचाई बताने के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाता है। हिंदी शब्दसागर में बताया गया है कि ब्राह्मण का दंड 'केशांत' अथवा 'चूड़ांत' तक पहुँचना चाहिए।[35] इस 'केशांत' को पढ़ते 'टिकासन' शब्द की याद बहुत स्वाभाविक है। स्मरण रहे कि मगही में चुटिया के बराबर का शब्द 'टिक' है। 'केशांत' कैसे अपना भेष बदलकर किसी बोली में 'टिकासन' हो जाता है, यह जानना न सिर्फ भाषाविज्ञानी बल्कि आम व्यक्ति के लिए भी दिलचस्प है। उनके लिए तो खास तौर से जो शास्त्र और लोक के बीच हमेशा ही एक रस्सी ताने खड़े रहते हैं।

पोरसा: मगही में पोरसा एक बहुप्रचलित शब्द है। गाँवों में इस शब्द का प्रयोग इंच-फुट के प्रचलन से पहले किसी वस्तु की लंबाई, ऊँचाई व गहराई ज्ञात करने के लिए किया जाता था। खासकर, नदियों एवं तालाबों में भरे पानी की थाह 'पोरसा' ही में ली जाती थी। पानी में डुबकी

लगाकर हाथ सीधा ऊपर की ओर उठा लेने पर अगर हाथ भी डूब जाए तो समझिए कि 'एक पोरसा' या 'पोरसा भर' पानी है। यह 'पोरसा' शब्द 'पुरुष' से बना लगता है। प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में लंबाई की एक माप के रूप में 'पुरुष' शब्द प्रयुक्त होता रहा है। तैत्तिरीय संहिता एवं शतपथ ब्राह्मण में इसे उदाहरणार्थ देखा जा सकता है।[36] पाणिनि के समय में भी गहराई मापने के संबंध में 'पुरुष'-संज्ञक माप का प्रयोग किया जाता था- 'पुरुषात् प्रमाणेऽन्यतरस्याम्'।[37] जैसलमेर में आज भी यह शब्द प्रचलित और सुरक्षित है। वहाँ कुएँ की गहराई 300-350 पुरुष के नाम से ही जानी जाती है। एक हाथ में रस्सी को पकड़कर दूसरे हाथ को ऋजुकोण की तरह फैलाने तक की दूरी को एक पुरुष मानकर मापने की रीति राजस्थान में आज भी प्रचलित है।[38]

सरगही: तीज और जितिया का व्रत रखनेवालियों की प्रगतिशीलों में निंदा तो खूब हुई लेकिन संतोष कि किसी विमर्शकार ने 'सरगही' शब्द के साथ छेड़छाड़ नहीं की। बचपन ही से इस शब्द के साथ एक आत्मीय नाता रहा है। हमारे पुरखे पता नहीं कब इस शब्द के साथ घुले-मिले। तीज और जितिया के अवसर पर बच्चों को 'सरगही' का खास इंतजार होता जब माताएँ मुह-अंधेरे व्रत की शुरुआत करतीं और अरबी-फारसी का 'निवाला' लेतीं। दरअसल अरबी 'सहर' और 'गह' से 'सहरगही' शब्द बना जिसका अर्थ है: 'वह भोजन जो निर्जल व्रत करने के दिन बहुत तड़के किया जाता है'।[39] उच्चारण के क्रम में 'ह' वर्ण के लोप से 'सहरगही' शब्द 'सरगही' हो गया है। इसी का एक रूप 'सहरी' है।

चुनियाना: मगही के लोग भी 'चुनियाना' शब्द का प्रयोग करते हैं। दरअसल चुनियाना तह लगाना, सजाना है। पहले मलमल के कुरते में 'चुन' देकर पहनने का चलन था। अब यह फैशन में नहीं है। औरतें अब भी साड़ी बगैर 'चुन' (प्लेट) के नहीं पहनतीं।[40] मर्द भी धोती चुन के साथ ही पहनते हैं। 'चुनिया के बोलना' वहीं से आया लगता है।[41]

लेदाह: मगही में प्राय: कहा जाता है, 'ढेलाह खेत और लेदाह बेटा' जवानी में अपना असली रंग दिखाता है। बड़े पेट अर्थात् लेदा वाले को लेदाह कहा जाता है। तुंदिल, तोंदिल अथवा तोंदइल भी। इन सबकी जड़ में संस्कृत का 'तंडु' है। 'तंडु' शब्द का अर्थ है उछल-कूद करना। चावल (भात) में उछल-कूद की प्रवृत्ति है, इसलिए वह तंडुल है। किसी का पेट अगर बड़ा हो तो स्वाभाविक रूप से उछल-कूद मचाता है। इसलिए वैसा पेटधारी तुंदिल या तोंदिल कहलाता है। ठीक उसी तरह, जिस नृत्य में उछल-कूद ज्यादा है, 'तांडव' कहलाता है। कहना अनावश्यक है कि तांडव में रस और भाव नहीं होते।[42]

बैना: मगही में और मेरे गाँव में 'बायन' और 'बैना' शब्द प्रचलित है। ये दोनों संस्कृत 'वायन' (वायनम्, वायनकम्) से बने हैं, जिसका अर्थ है- 'ब्राह्मणों के पास भेजी जानेवाली मिठाइयाँ'।[43] 'वायन' से मिलता-जुलता शब्द 'उपायन' है। उपायन मुख्यत: वह चीज है जो अपनी विलक्षणता या किसी विशेष प्रकार की विशेषता के कारण एक स्थान से दूसरे स्थान पर किसी को

उपहार या भेंट के रूप में भेजी जाती है। प्राचीन काल में राजा लोग एक-दूसरे के पास उपायन भेजा करते थे, और आजकल किसी दूर स्थान से आनेवाले मित्र वहाँ की कुछ खास चीजें लाकर उपायन के रूप में हमें देते हैं। गौण रूप में यह उन मिठाइयों आदि का भी सूचक है, जो शुभ अवसरों पर मित्रों और संबंधियों के यहाँ भेजी जाती हैं जिसे कुछ क्षेत्रों में बायन तथा कुछ क्षेत्रों में बैना कहते हैं।[44]

दरअसल इस शब्द की पृष्ठभूमि में खाद्य-संग्राहक समाज है जहाँ व्यक्तिगत संपत्ति का संग्रह कर पा सकने की सुविधा का अभाव है। उस समाज में भोज्य पदार्थ को कबीले के लोगों के बीच बराबर-बराबर बाँट देने की 'उदारता' है। उनकी यह उदारता परिस्थितिजन्य है। वैसे समाज में, जहाँ आदमी खाद्य उत्पादक नहीं बल्कि संग्राहक है, भोजन अथवा शिकार की अनिश्चितता रहती है। दूसरे, भोजन का संग्रह करना भी तब असंभव था, इसलिए लोगों में 'वसुधैव कुटुम्बकम' की उदारता थी। हालाँकि एक चालाकी भी थी इसमें जिसको स्त्रियों ने अपने गीतों में पकड़ने की कोशिश की है। एक अंगिका गीत है जिसमें एक सद्य:प्रसूता माँ तेल बाँटती है। अपनी सास को साधारण तेल देती है और गोतनी को बढ़िया गमकौआ तेल क्योंकि गोतनी को दिया माल लौट आता है- 'गोतिनी के तेल फुलेल, गोतिनियाँ के देल लेल हे।'[45]

यद्यपि वितरण की यह परंपरा पुरानी है, किंतु आज भी किसी न किसी रूप में जारी है। आज भी गाँव में बोलचाल की भाषा में खस्सी काटने को 'बाँटी लगना अथवा लगाना' कहते हैं, और बात है कि अब सालन की खरीद-बिक्री करनी होती है, लेकिन भाषा में उसकी स्मृति बनी हुई है।

साहुलसुत्ता: अपने गाँव-घर में राजमिस्त्री को काम करते हम सबने देखा है। उनके पास एक उपकरण होता है जिसको मगध क्षेत्र में आम बोलचाल की भाषा में साहुल-सुत्ता कहा जाता है। साहुल दरअसल छोटा-सा पीतल का गोलाकार औजार है जिसका निचला छोर नुकीला होता है और जिसके ऊपरी छोर के मध्य में एक छेद होता है जिससे एक डोरी लटकती है। लकड़ी की एक पतली पट्टी, जिसके मध्य में एक छेद होता है, और जिसके एक छोर छिद्र के केंद्र के बीच की दूरी गोले की त्रिज्या के बराबर होती है, इस डोरी में पहनाई रहती है। यह ईंट की जोड़ाई की लाइन को उर्ध्व रखने में सहायक सिद्ध होती है।[46] आपको यह जानकर हैरानी नहीं होनी चाहिए कि 'सुत्ता' शब्द संस्कृत 'सूत्र' से बना है। सूत्र का मतलब धागा से है। वैदिक काल में यज्ञ की वेदी बनाने के लिए माप-जोख की खूब आवश्यकता होती थी। इसके लिए रस्सी या धागे का प्रयोग किया जाता था। इस रस्सी को तब संस्कृत में 'शुल्व' कहा जाता था। वेदियों के निर्माण के लिए जिन ग्रंथों में नियम दिए गए हैं, 'शुल्वसूत्र' कहलाते हैं। किसी समय तो बहुत-से शुल्वसूत्रों का अस्तित्व रहा है, परंतु आज संस्कृत भाषा में जो शुल्वसूत्र मिलते हैं, उनके नाम हैं: बौधायन शुल्वसूत्र, आपस्तंब शुल्वसूत्र, कात्यायन शुल्वसूत्र, मैत्रायण-शुल्वसूत्र, मानव शुल्वसूत्र, वाराह शुल्वसूत्र और वाधुल शुल्वसूत्र आदि। कहना अनावश्यक है कि इन सूत्रों के कर्ताओं के नाम पर ही इन ग्रंथों के ये नाम पड़े हैं।[47] यह साहुलसुत्ता उसी शुल्वसूत्र का वंशज है।

ओसरी: मगही में 'ओसर' या 'ओसरी' शब्द का चलन है। संस्कृत में इसे काल्या या उपसर्या कहते हैं- 'उपसर्या काल्या प्रजने।'[48] इस शब्द का मूल संस्कृत का उपसर्या शब्द है। बाछी/बछिया जब समागम के लायक हो जाती है, उपसर्या कहलाती है।[49] हिंदी में उपसर्या, ओसर या ओसरिया है।[50] पूर्वी अवधी के क्षेत्र में 'ओसर' (उपसर्या) भैंस के लिए प्रयुक्त होता है, गाय के लिए 'कलोर' (काल्या) शब्द प्रचलित है।[51]

अत: कह सकते हैं कि अक्सर हम लोक अर्थात् बोली और शास्त्र यानी भाषा के बीच एक विभेदक रेखा खींचे रहते हैं, किंतु विभेद कभी इतना गहरा नहीं होता कि दोनों के बीच की आवाजाही पर कोई प्रभाव पड़े। लोक को शास्त्र और शास्त्र को लोक बनते देर नहीं लगती। कई बार दोनों एक-दूसरे के घर में भेष बदलकर विचरण करते होते हैं लेकिन हम उनकी पहचान को लेकर अनिर्णय और विभ्रम की स्थिति में होते हैं। मगही के विश्लेषण उपरांत हमने पाया कि एक तरफ संस्कृत से आये शब्द हैं तो दूसरी तरफ अरबी-फारसी से। इसलिए बोली को भाषा के खिलाफ, हिंदी को उर्दू के खिलाफ, संस्कृत को फारसी के खिलाफ खड़ा करना भाषाविज्ञान की दृष्टि से उचित नहीं है। दुनिया की कोई ऐसी भाषा नहीं जिसके विकास में किसी दूसरी भाषा अथवा बोली का सहयोग न रहा हो। सिर्फ हिंदी ही के उदाहरण से समझें तो इसके वर्तमान स्वरूप की कल्पना उर्दू, अरबी, फारसी, संस्कृत, अंग्रेजी आदि मार तमाम भाषाओं के साथ अनगिनत बोलियों के बगैर असंभव है। दूसरी भाषाओं के बारे में भी यही बात सच है। फ्रेंच, लैटिन के बगैर अंग्रेजी की कल्पना नहीं की जा सकती बल्कि उसने हिंदी तक के शब्दों को अपनाया है। साहित्य का भी यही सच है। गोर्की के निधन के बाद प्रेमचंद कई दिनों तक सदमें में रहे थे मानों कोई हिंदी का सिरमौर गुजरा हो।

निष्कर्ष: किसी भी भाषा के शब्द महज अभिव्यक्ति के माध्यम नहीं होते। वे अपने में इतिहास छिपाए रहते हैं। एक भाषा वैज्ञानिक के लिए वे पुरातत्व के समान हैं। इनकी खुदाई से हम हजारों वर्षों का इतिहास किसी क्रमभंग के बगैर जान सकते हैं। रामचन्द्र वर्मा, भोलानाथ तिवारी जैसे चंद नाम को छोड़ दें तो कहा जा सकता है कि हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषाओं में इस क्षेत्र में उत्साहवर्धक काम नहीं हुआ है। हिंदी भाषा का शब्दकोश आजतक यह अंदाज लगाने की स्थिति में नहीं है किस शब्द का प्रयोग किस काल में शुरू हुआ। अत: इस क्षेत्र में गंभीर शोध की आवश्यकता है।

संदर्भ:

1. तिवारी भोलानाथ, द्वितीय संशोधित संस्करण-1977, शब्दों की यह यात्रा भाषाओं को काफी प्रभावित करती है। केवल हिंदी के उदाहरण से समझें तो इसमें लगभग 2500 अरबी शब्द, लगभग 3500 फारसी शब्द, लगभग 3000 अंग्रेजी शब्द, लगभग 100 पुर्तगाली शब्द, 100 से ऊपर पश्तो शब्द तथा 125 तुर्की शब्द चलकर आये हैं, जिनका हिंदी में धड़ल्ले से प्रयोग होता है। देखें शब्दों का जीवन, राजकमल प्रकाशन, पृ. 54

2. शर्मा नासिरा, 1994, 'दो शब्द', जिन्दा मुहावरे, वाणी प्रकाशन:, आवृत्ति: 2010

3. सिंह खुशवंत, प्रथम संस्करण–1982, वी इंडियंस, ओरिएंट पेपरबैक्स, दिल्ली, पुनर्मुद्रण: 1998, पृ. 14

4. जवाहरलाल नेहरू, 1988, हिंदुस्तान की कहानी, सस्ता साहित्य मंडल, पृ. 150

5. महरोत्रा रमेशचंद्र, 2009, हिंदी और उर्दू के कोशों में किसी में तंबाकू (तमाकू, तमाखू) फारसी स्रोत का, किसी में पुर्तगाली स्रोत का, और किसी में संस्कृत स्रोत का (ताम्रकूट से) लिखा गया है; किंतु 'बेब्सटर्स न्यू वर्ल्ड डिक्शनरी' में इसके अंग्रेजी रूप 'टबैको' को स्पैनिश से और स्पैनिश में उसे वेस्ट इंडियन से आया हुआ बताया गया है, जहाँ उसका अर्थ 'इस पौधे का धुआँ पीने के लिए प्रयुक्त पाइप' है। देखें मानक हिंदी के शुद्ध प्रयोग, भाग 2, राजकमल प्रकाशन, पृ. 123

6. 'दिनकर' सिंह रामधारी, (संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, नवीन संस्करण–2006, पृ. 416) एवं अमृतलाल नागर (चकल्लस, राजपाल एंड संस, 2013, पृ. 218) ने तंबाकू के लिए सुर्ती, सुरती आदि शब्द के प्रचलन का श्रेय ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी को दिया है, जो यथातथ्य नहीं है। तंबाकू के व्यापार में पुर्तगाली पहले से सक्रिय थे और उनका माल सूरत के बंदरगाह पर आता रहा था। देखें भोलानाथ तिवारी, शब्दों का जीवन, राजकमल प्रकाशन, द्वितीय संशोधित संस्करण–1977, पृ. 13, 36; पलाश डे, 'कल्चर ऑफ टबैको स्मोकिंग इन मुगल इंडिया : ए हिस्टोरिकल एनलिसिस', क्रायाटोया: नौर्थ बंगाल यूनिवर्सिटी जर्नल ऑफ हिस्ट्री, वॉल्यूम 6, पृ. 20–24

7. हेलेन एंड चार्ल्टन लेयर्ड, द ट्री ऑफ लैंग्वेज, द वर्ल्ड पब्लिशिंग कंपनी, न्यू यार्क, 1957, पृ. 138, 139

8. वर्मा रामचंद्र, 1995, शब्दार्थ विचार कोश, राजपाल एंड संस, पृ. 168

9. वर्मा रामचंद्र, 1968, शब्दार्थ–दर्शन, रचना प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 191

10. वर्मा रामचंद्र, शब्दार्थ विचार कोश, पादटिप्पणी संख्या 3, पृ. 169,

11. वर्मा रामचंद्र, (अनुवादक), अकबरी दरबार, तीसरा भाग, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, पृ. 150

12. वर्मा रामचंद्र, उर्दू हिंदी शब्दकोश, पृ. 374

13. उपरिवत्

14. वर्मा रामचन्द्र, (अनुवादक), अकबरी दरबार, तीसरा भाग, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, पृ. 150

15. चंद्र सतीश, 2007, हिस्ट्री ऑफ मेडिएवल इंडिया, ओरिएंट ब्लैकस्वान, पृ. 239

16. वर्मा रामचन्द्र, शब्दार्थ-दर्शन, पृ. 191

17. उपरिवत्

18. तिवारी भोलानाथ, 1982, शब्दों की कहानी, प्रभात प्रकाशन, पृ. 35

19. वर्मा रामचन्द्र, उर्दू-हिंदी कोश, हिंदी-ग्रंथ-रत्नाकर कार्यालय, बंबई, 1936, पृ. 105

20. मुखर्जी विश्वनाथ, 1958, बना रहे बनारस, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, पृ. 22

21. वर्मा रामचन्द्र, उर्दू-हिंदी कोश, पृ. 13

22. 'पता नहीं उन्हें कितनी चिट्ठियाँ और कितना हिसाब लिखने को रहता है और इन कुर्सी मेजों के अलावा तीन-चार अलमारियाँ जिनमें पता नहीं क्या-क्या अलाय-बलाय भरा रहता है।' देखें अमृत राय, 'तराजू', गीली मिट्टी, भारतीय साहित्य संग्रह, 2013

23. मैकडॉनल एवं कीथ, वैदिक इंडेक्स (अनुवाद : रामकुमार राय), भाग 2, चौखंबा प्रकाशन, वाराणसी, 1962, पृ. 66

24. उपाध्याय भगवतशरण, मार्च 1973, भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण, पीपीएच, नई दिल्ली, पृ. 44

25. उपरिवत्

26. उपरिवत्, देखें पादटिप्पणी

27. उपरिवत्, पृ. 45

28. शर्मा डॉ. रामविलास, भाषा और समाज, राजकमल प्रकाशन, पृ. 212

29. भाषा और समाज, पृ. 212

30. उपरिवत्

31. शिवरानी देवी, प्रेमचंद घर में, आत्माराम एंड संस, 2008, पृ. 13

32. वैदिक इंडेक्स, भाग 2, पृ. 44-45

33. 'नलिन' पांडेय ब्रजमोहन, व्युत्पत्ति विज्ञान: सिद्धांत और विनियोग, जानकी प्रकाशन, पृ. 17
34. उपरिवत्
35. हिंदी शब्दसागर, चतुर्थ भाग, नागरी प्रचारिणी सभा, 1995, पृ. 2188
36. वैदिक इंडेक्स (हिंदी अनुवाद : रामकुमार राय), चौखंबा, वाराणसी, 1962, पृ. 2
37. अटाध्यायी 4/1/24
38. पुरोहित मोहनलाल, जुलाई, 1983, 'राजस्थानी भाषा पर पाणिनि का प्रभाव', परिषद् पत्रिका, वर्ष 23, अंक 2, पृ. 45
39. वर्मा रामचन्द्र, उर्दू-हिंदी कोश, पृ. 450
40. 'पहनने के लिए।' कहकर वह धुतिया चुनियाने लगी।' देखें मैत्रेयी पुष्पा, इदन्नमम, किताब घर प्रकाशन, 1994, पृ. 28; 'मेरी धोती तो बलचनमा ही चुनियाएगा।' पूर्णसिंह डबास, हिंदी में देशज शब्द, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1972, पृ. 116 में उद्धृत।
41. 'देखा नहीं मुँह कैसे चुनिया रही थी।' पूर्णसिंह डबास, हिंदी में देशज शब्द, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1972, पृ. 116 में उद्धृत।
42. प्रसाद डॉ. राजेन्द्र, प्रथम संस्करण-1962, संस्कृत और संस्कृति, मोतीलाल बनारसीदास, पृ. 84
43. वी. एस. आप्टे, संस्कृत-हिंदी शब्दकोश, कमल प्रकाशन, पृ. 988
44. वर्मा रामचंद्र, 1955, शब्द-साधना, साहित्य-रत्न-माला, पृ. 25, पादटिप्पणी
45. डॉ. सम्पत्ति अर्याणी, मगही-भाषा और साहित्य, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, 1976, पृ. 23
46. उपरिवत्, पादटिप्पणी संख्या 6, पृ. 123
47. मुले गुणाकर, द्वितीय संस्करण-1990, ज्यामिति की कहानी, ज्ञान विज्ञान प्रकाशन, पृ. 26
48. त्रिपाठी आत्माराम, 1969, पाणिनि, अष्टाध्यायी 3.1.104.; पूर्वी अवधी: ग्राम्य शब्दावली, आलोक प्रकाशन, पृ. 186 में उद्धृत; 'काल्लोपसर्या प्रजने'-अमरकोष; भाषा, वॉल्यूम 9, केंद्रीय हिंदी निदेशालय
49. वी. एस. आप्टे, संस्कृत हिंदी शब्दकोश, पृ. 223
50. बृहत हिंदी कोश, पृ. 230
51. त्रिपाठी आत्माराम, पूर्वी अवधी: ग्राम्य शब्दावली, आलोक प्रकाशन, पृ. 187

❑❑

इस अंक के लेखक

निशा नाग	मिरान्डा हाउस, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007 मो. 9810790680 ईमेल: nishanagpurohit@gmail.com
नन्दराम	असिस्टेंड प्रोफेसर, हिंदी विभाग, धर्मसमाज महाविद्यालय, अलीगढ़-202001, मो. 8004504307 ईमेल: ramnand.fzd@yahoo.com
पी. कुमार मंगलम	स्पेनिश में सहायक प्रोफेसर विदेशी भाषा अध्ययन विभाग छात्र परामर्शदाता, अंतरराष्ट्रीय मामलों का कार्यालय कर्नाटक केंद्रीय विश्वविद्यालय, कलबुर्गी-585367, मो. 7291914968 ईमेल: pkmangalam@gmail.com
प्रतिमा गोंड	सह-प्राध्यापक समाजशास्त्र अनुभाग महिला महाविद्यालय बनारस हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी, उ.प्र.-221005 मो. 7985720471 ईमेल: pratima.gond1@bhu.ac.in
पतंजलि मिश्र	एसोसिएट प्रोफेसर (शिक्षा) शिक्षा विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज-211002 (उ.प्र.), मो. 8005381938 ईमेल: patanjali8@gmail.com
मोहन महतो	2/6, बाघाजतिन कॉलोनी, पोस्ट-प्रधान नगर-734003, जिला-दार्जीलिंग, (राज्य-पश्चिम बंगाल), मो. 9832637432 ईमेल: mohanmahato217@gmail.com
अमर सिंह	शोधार्थी, हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग, केरल केंद्रीय विश्वविद्यालय, कासरगोड, पेरिया-671320, मो. 8853986260 ईमेल: singh8853amar@gmail.com
रवींद्र नाथ श्रीवास्तव 'परिचय दास'	आचार्य, हिंदी विभाग, नव नालंदा महाविहार विश्वविद्यालय (संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार), नालंदा-803111 मो. 9968269237 ईमेल: parichaydass@rediffmail.com
देशमुख निलेश शिवाजी	शोधार्थी, हिंदी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221001 मो. 9404787698 ईमेल: nileshd2112@gmail.com
सदानन्द	सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग, महाराजा अग्रसेन महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय-110096, मो. 9971994801 ई-मेल: sadanand1592@gmail.com

रेखा शेखावत	सहायक प्रोफेसर-हिंदी राजकीय स्त्रोतकोत्तर, महाविद्यालय सतनाली, महेंद्रगढ़, हरियाणा-123024, मो. 8708045586 ईमेल: rekhabikaner@gmail.com
हरीश कुमार सेठी	निदेशक अनुवाद अध्ययन और प्रशिक्षण विद्यापीठ इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय मैदान गढ़ी, नई दिल्ली-110068, मो. 9818398269 ईमेल: hksethi@ignou.ac.in
सुमैय्या	असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, वेदांता स्नातकोत्तर महिला महाविद्यालय रींगस, सीकर (राजस्थान)-332404, मो. 9634996051 ईमेल: rscholar@gmail.com
सागरिका महांति	Flat No.-1, Block-4, VB Park Apatment, Thana Podam Road, Kochi, Kerala-682030, Mob.: 9399454999 ईमेल: sagarika.brahmadev2016@gmail.com
योगेश कोरटकर	डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर मराठवाड़ा विश्वविद्यालय, छत्रपति संभाजी नगर-431004 (महाराष्ट्र), मो. 8329835774 ईमेल: yogeshkoratkar@gmail.com
प्रांजल कुमार नाथ	सहायक अध्यापक, कृष्णकांत हेन्दिक राज्यिक मुक्त विश्वविद्यालय, असम-781022, मो. 7086411584 ईमेल: npranjal95@gmail.com
एलाङबम विजय लक्ष्मी	आचार्य, हिंदी विभाग, मणिपुर विश्वविद्यालय-795001 मो. 9856138333 ईमेल: evijaylakshmi@manipuruniv.ac.in
नाना साहेब गोरे	प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग, जे.ई.एस. महाविद्यालय, जालना-431203, मो. 9422219183, 7057019368 ईमेल: nanasahebgore@gmail.com
उर्मिला दिनकर पाटील	बलीराम पाटील महाविद्यालय, किनवट-नांदेड-431811 (महाराष्ट्र), मो. 9921264654 ईमेल: wankhede222@gmail.com
लकी टॉक	असिस्टेंट प्रोफेसर, चित्रकला विभाग, दयालबाग शिक्षण संस्थान, दयालबाग, आगरा-282005, मो. 9411205597 ईमेल: lucky.tonk@gmail.com
राजू रंजर प्रसाद	सी-19, श्रीनगर, आशियाना नगर, पटना-800025 मो. 8294307626 ईमेल: rajooranjan@gmail.com

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा

केंद्र : दिल्ली, हैदराबाद, गुवाहाटी, शिलांग, मैसूर, दीमापुर, भुवनेश्वर, अहमदाबाद

सदस्यता शुल्क फार्म

महोदय,

कृपया '**गवेषणा**' पत्रिका की वार्षिक सदस्यता प्रदान करें।

ग्राहक का नाम..

पता...

....

दूरभाष.......................................ई–मेल (यदि कोई हो).......................................

'गवेषणा' एक वर्ष का शुल्क

'गवेषणा' एक वर्ष रु. 150.00 (भारत में)
प्रति अंक . रु. 40.00 (भारत में)
संस्थागत वार्षिक शुल्क रु. 250.00
US $ 40.00 (विदेश में)
प्रति अंक $ 10.00 (विदेश में)

(पंजीकृत डाक से मंगाने के लिए वार्षिक शुल्क के साथ रु. 100/- डाक व्यय अतिरिक्त)

मैं ....राशि का बैंक ड्राफ्ट सं........................दिनांक............ रु./ US $ ....बैंक...

वार्षिक सदस्यता शुल्क भिजवा रहा हूँ।

कृपया सदस्यता शुल्क **सचिव, केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल, आगरा** के नाम से केवल बैंक ड्राफ्ट से निम्नलिखित पते पर भिजवाएँ –

संपादक 'गवेषणा'
प्रकाशन विभाग
केंद्रीय हिंदी संस्थान
हिंदी संस्थान मार्ग
आगरा (उ.प्र.) भारत, पिन–282005
फोन-0562-2530684/2530705/2530159
फैक्स -2530159/2530684

हस्ताक्षर और मुहर (केवल संस्थाओं के लिए)
दिनांक................
नाम...................

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा

अनुसंधान एवं भाषा विकास विभाग से प्रकाशित

के.हिं.सं. गवेषणा

भाषाविज्ञान की त्रैमासिक शोध–पत्रिका

शोध–पत्र आमंत्रण सूचना

भाषाविज्ञान की यू.जी.सी. केयर सूची में शामिल शोध–पत्रिका 'केंद्रीय हिंदी संस्थान गवेषणा' हेतु सैद्धांतिक एवं अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, भाषा–प्रौद्योगिकी, कंप्यूटेशनल भाषाविज्ञान तथा हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषाओं के भाषिक व व्याकरणिक पक्षों पर हिंदी में लिखित गुणवत्तापूर्ण शोध–पत्र आमंत्रित किए जाते हैं।

लेखकों से निवेदनः

1. 'केंद्रीय हिंदी संस्थान गवेषणा' में प्रकाशन के लिए भेजे गए शोध–पत्र अनिवार्य रूप से शोध–प्रारूप (सारांश, बीज शब्द, प्रस्तावना, साहित्य समीक्षा, शोध–पद्धति, विश्लेषण, निष्कर्ष व संदर्भ–ग्रंथ सूची) में होने चाहिए, साथ ही उसमें प्रत्येक उद्घाटित स्थापना सप्रमाण पुष्ट हो।
2. वर्तनी तथा परिभाषिक शब्दावली केंद्रीय हिंदी निदेशालय एवं वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग द्वारा मानक रूप ही शोध आलेखों में प्रयुक्त करें।
3. शोध–पत्र मौलिक एवं अप्रकाशित होना चाहिए। इस आशय का एक शपथ–पत्र भी भरकर भेजना अनिवार्य होगा। शब्दसीमा 4000 से 7000 तक हो। साथ ही इसमें आंशिक रूप से भी किसी कृत्रिम बुद्धिमता सॉफ्टवेयर का सहयोग न लिया गया हो।
4. शोध–पत्र में व्यक्तिगत, अप्रिय, आक्षेप, दलीय, संकीर्ण, मतवाद एवं असंसदीय भाषा/टिप्पणी वर्जित है।
5. संदर्भिका एवं संदर्भ सूची ए.पी.ए. शैली के सातवें संस्करण (APA VII) के अनुरूप होना चाहिए।
6. शोध–पत्र Krutidev010 फॉण्ट या यूनिकोड में टाइप करके MS-Word एवं PDF दोनों रूपों में पत्रिका के ई–मेल पर भेजें।
7. शोध–पत्र समीक्षा समिति के अनुमोदन के पश्चात् ही प्रकाशन पर विचार होगा, अतएव इस प्रक्रिया में समय लग सकता है।
8. प्रकाशित अंक की लेखकीय प्रति रजिस्टर्ड डाक द्वारा प्रकाशित पते पर भेजी जाएगी, अतएव हमेशा पूरा पता पिनकोड सहित लिखें।
9. प्रकाशित शोध–पत्र के मानदेय का भुगतान प्रकाशित लेखक के नाम वाले बैंक अकाउंट में ऑनलाइन किया जाएगा। अतः प्रकाशन के बाद अकांउट नंबर और IFSC भेजना अनिवार्य है।
10. शोध–पत्र प्रेषित करने एवं आवश्यक स्थिति में संपर्क हेतु ई–मेल आई.डी. –gaveshnapatrika@gmail.com

-संपादन मंडल, गवेषणा, केंद्रीय हिंदी संस्थान

गवेषणा के अब तक प्रकाशित विशेषांक

क्र.सं.	विषय विशेषांक	अंक/वर्ष
1.	गवेषणा – तृतीय विश्व हिंदी सम्मेलन विशेषांक	अंक–41/वर्ष–1983
2.	गवेषणा – विश्व भाषा हिंदी विशेषांक	अंक–65–66/1995
3.	गवेषणा – प्रयोजनमूलक हिंदी विशेषांक	अंक–67–68/1996
4.	गवेषणा – व्रजेश्वर वर्मा स्मृति अंक	अंक–71–72/1998
5.	गवेषणा – डॉ. गोपाल शर्मा स्मृति अंक	अंक–75–76/2000
6.	गवेषणा – स्त्री की भाषा महादेवी के संदर्भ में	अंक–87/2007
7.	गवेषणा – भाषा एवं सूचना प्रौद्योगिकी	अंक–88/2007
8.	गवेषणा – भाषा शिक्षण पर विशेष	अंक–89/2008
9.	गवेषणा – भाषाविज्ञान आज	अंक–90/2008
10.	गवेषणा – भारत में कोशविज्ञान पर विशेष	अंक–93/2009
11.	गवेषणा – साहित्य शिक्षण एवं पाठ विश्लेषण पर केंद्रित	अंक–94/2009
12.	गवेषणा – स्वर्ण जयंती विशेषांक–2011	अंक–98/2011
13.	गवेषणा – शिक्षा पर विशेष	अंक–99/2011
14.	गवेषणा संचयन	संकलन, 2008
15.	गवेषणा – नये दौर में प्रेमचंद	अंक–100/2012
16.	गवेषणा – इस दौर में महात्मा गांधी	अंक–101/2013
17.	गवेषणा – प्रवासी भारतीय साहित्य अंक	अंक–103/2014
18.	गवेषणा – भाषा : चिंतन के आयाम	अंक–104/2015
19.	गवेषणा – दसवें विश्व हिंदी सम्मेलन पर विशेष प्रस्तुति	अंक–105/2015
20.	गवेषणा – हिंदी का विश्व	अंक–106/2016
21.	गवेषणा – हिंदी भाषा : विविध	अंक–107/2016
22.	गवेषणा – पं. विद्यानिवास मिश्र विशेषांक	अंक–108/2016
23.	गवेषणा – रामधारी सिंह दिनकर विशेषांक	अंक–109/2017
24.	के.हि.सं. गवेषणा – भारतीय भाषा चिंतन–परंपरा विशेषांक	अंक–110/2017
25.	के.हि.सं. गवेषणा – भाषा एवं साहित्य : विविध	अंक–111/2018
26.	के.हि.सं. गवेषणा – भारतीय भाषा एवं साहित्य	अंक–120/2020

—प्रो. धनजी प्रसाद

संपादक

पूर्व अंकों में सहयोग के लिए हम आभारी हैं

प्रो. गोपी नाथन
पूर्व कुलपति,
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

प्रो. सूर्य प्रसाद दीक्षित
पूर्व प्रोफेसर
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

प्रो. हरिश्चन्द्र मिश्र
पूर्व प्रोफेसर
हिंदी भवन विश्वभारती शांतिनिकेतन, पश्चिम बंगाल–731235

प्रो. गजानन चव्हाण
पूर्व प्रोफेसर
हिंदी विभाग, सावित्री बाई फूले वि.वि., पुणे

प्रो. अवधेश कुमार मिश्रा
प्रोफेसर, भाषाविज्ञान विभाग, अंग्रेजी और विदेशी भाषा
विश्वविद्यालय, शिलांग परिसर, शिलांग–793022 (मेघालय)

प्रो. योगेन्द्र प्रताप सिंह
प्रोफेसर, हिंदी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्रो. राजेश कुमार
सदस्य
केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार

श्री जे.पी. पाण्डेय
निदेशक
स्कूली शिक्षा, शिक्षा मंत्रालय–110001, भारत सरकार

केंद्रीय हिंदी संस्थान से प्रकाशित होने वाली पत्रिकाएँ

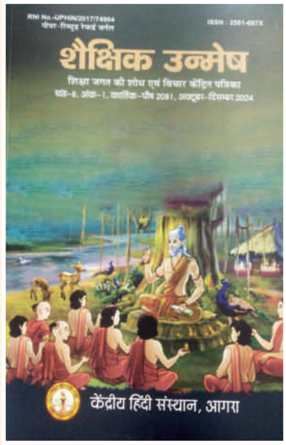

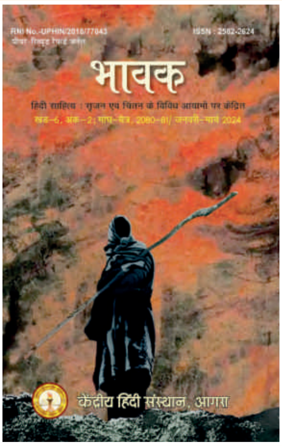

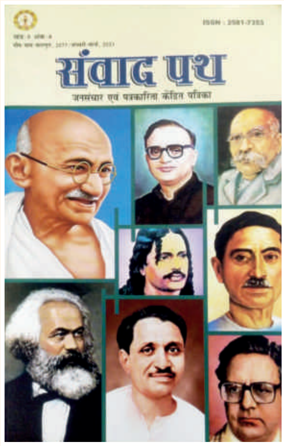

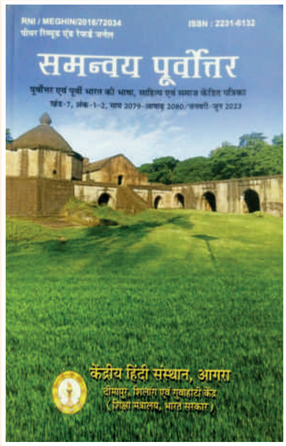

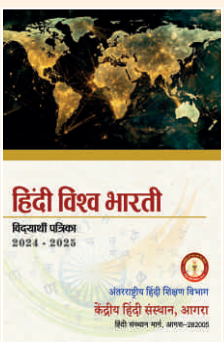

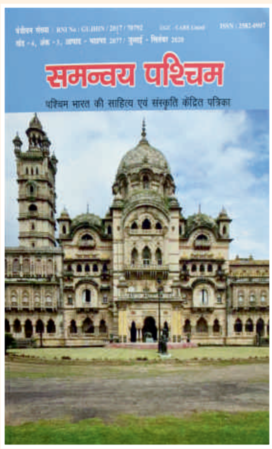

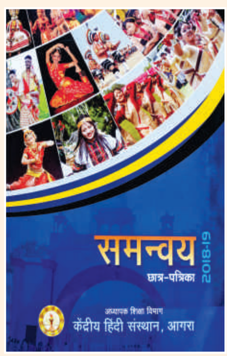

प्रधान संपादक की कलम से...

भारत के भविष्यदृष्टा प्रधानमंत्री श्री नरेंद्र मोदी जी के नेतृत्व में यह देश लगातार विकासशील से विकसित राष्ट्र बनने की ओर अग्रसर है। भूमंडलीकरण के इस युग में सरकार आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और शैक्षिक सभी क्षेत्रों में आवश्यक परिवर्तन-परिवर्धन करते हुए मिशन 2047 की ओर लक्ष्योन्मुख है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 इस दिशा में क्रांतिकारी कदम है। उच्च शिक्षा के क्षेत्र में राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के उद्देश्यों को प्रभावी रूप से सफल बनाने के लिए आवश्यक है कि हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं में उच्च शिक्षा के विषयों में शिक्षण, शोध और लेखन को अधिक बढ़ावा दिया जाए। केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा हिंदी माध्यम से इस दिशा में अपना बहुमूल्य योगदान कर रहा है। यह संस्थान न केवल पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से बल्कि विविध अकादमिक कार्यों के माध्यम से भी हिंदी भाषा के सुधी विद्वत्जन, जिज्ञासु अध्येताओं, शोधार्थियों और छात्रों को जोड़ने का भी कार्य कर रहा है। जनवरी-मार्च 2025 में संस्थान के विभिन्न विभागों तथा केंद्रों पर अनेक संगोष्ठियों का आयोजन किया गया है, जिनमें देश भर के विद्वानों, अध्यापकों, शोधार्थियों और छात्र-छात्राओं ने बढ़-चढ़कर अपनी उपस्थिति दर्ज कराई है। इन संगोष्ठियों में 'हिंदी का वैश्विक परिप्रेक्ष्य, गिरमिटिया प्रवासी हिंदी साहित्य, हिंदी शिक्षण अधिगम: परंपरा और समकालीन संदर्भ, ग्रामीण परिप्रेक्ष्य में डिजिटल सशक्तिकरण और शिक्षा : विजन विकसित भारत / 2047, भक्ति साहित्य के माध्यम से कौशल विकास एवं कृत्रिम बुद्धिमत्ता के युग में शिक्षा' आदि प्रमुख विषयों का समावेश किया गया है।

(प्रो. सुनील बाबुराव कुळकर्णी)
निदेशक
केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा

मुद्रक राष्ट्रभाषा ऑफसेट प्रेस, आगरा तथा प्रकाशक डॉ. अरिमर्दन कुमार त्रिपाठी, विभागाध्यक्ष , अनुसंधान एवं भाषा विकास विभाग, केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा द्वारा सचिव, केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल, आगरा के पक्ष में 26/470 , बल्का बस्ती , राजा की मंडी , आगरा (मुद्रण स्थल) से मुद्रित तथा केंद्रीय हिंदी संस्थान , हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा-282005 (उ.प्र) (प्रकाशन स्थल) से प्रकाशित , संपादक प्रो० धनजी प्रसाद